प्रकाशक
सर्वोदय साहित्य संसद्
देहरादून

प्रथम संस्करण : फरवरी १९५३

मुद्रक
न्यू इण्डिया प्रेस
नई दिल्ली

स्नेह सहित भाई राजेन् को

प्राक्कथन

हमारे देश में समाजशास्त्र के प्रति अभिरुचि निरन्तर बढ़ती जा रही है। यह अभिरुचि केवल समाज-विज्ञानों के विद्यार्थियों तक ही सीमित न रह कर सामान्य जनता में भी विस्तीर्ण हो रही है। विभिन्न बौद्धिक पेशों के सदस्य, अध्यापक, राजनीतिज्ञ, समाज-सेवक, डाक्टर, वकील, व्यवसायी, धार्मिक सुधारक, सभी आज समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण अपनाने के लिए व्यग्र प्रतीत होते हैं।

सभी समझदार विचारक आज यह अनुभव करते हैं कि विभिन्न शैक्षणिक, नैतिक, धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक और अन्य सामाजिक समस्याओं को एकान्ततः नहीं सुलझाया जा सकता। एक ऐसे विज्ञान और विश्लेषणयन्त्र की आवश्यकता है जो सिर चकरादेनेवाली विभिन्नताओं और अन्तरों तथा विरोधी विचारों और संकीर्ण दृष्टिकोणों का संग्रह और एकीकरण, विश्लेषण और संश्लेषण कर विस्तृत और संतुलित धारणाओं को प्रस्तुत कर सके।

बी० ए० और एम० ए० कक्षाओं में समाजशास्त्र एक पृथक् विषय के रूप में स्वीकृत हो चुका है। भारतीय विद्यार्थियों के लिए इस विषय पर एक उपयोगी पाठ्य-पुस्तक की आवश्यकता हर एक अध्यापक और विद्यार्थी अनुभव करता है। हिन्दी भाषा में तो समाजशास्त्र पर कोई सामान्य पुस्तक भी उपलब्ध नहीं है। ऐसी स्थिति में. जब कि देश के अनेक विश्वविद्यालयों ने अध्यापन और परीक्षाओं में हिन्दी माध्यम को स्वीकार कर लिया है, हिन्दी में समाजशास्त्र पर एक प्रामाणिक पुस्तक लिखना अत्यावश्यक हो जाता है। प्रस्तुत पुस्तक विश्वविद्यालयों के पाठ्य-क्रम को दृष्टि में रख कर लिखी गई है। विद्यार्थी-समाज के अतिरिक्त समाजशास्त्र में अभिरुचि रखने वाले सभी पाठक इससे लाभ उठा सकते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में समाजशास्त्र के समस्त पहलुओं पर विशद विवेचन करने का प्रयत्न किया गया है तथा पिछले तीस सालों में इससे सम्बद्ध जो गम्भीर और महत्त्वपूर्ण गवेषणाएं हुई हैं, विभिन्न निष्कर्षों पर पहुँचने में उनकी भरपूर सहायता ली गई है। खेद की बात है कि हमारे देश में इस सम्बन्ध में बहुत कम कार्य हुआ है। परिणामतः, हमें समस्त उदाहरणों के लिए विदेशों का ही

960

मुंह ताकना पड़ता है, मानो कि हमारे यहां कोई समाज और सामाजिक-व्यवहार ही नहीं है। विदेशी समाजों, जिनका सांस्कृतिक ढांचा और आदर्श हमसे पर्याप्त भिन्न हैं, पर आधारित परिणाम हमारे देश पर अक्षरशः लागू नहीं हो सकते। ऐसी अवस्था में यह उचित है कि हम समाजशास्त्र के सिद्धान्तों का अध्ययन करते समय उन्हें समझने के लिए और उनकी व्याख्या करने के लिए अधिकाधिक भारतीय उदाहरणों का प्रयोग करें। तुलना के लिए अथवा देशीय आंकड़ों और विश्वसनीय तथ्यों के अभाव में विदेशी उदाहरणों, आंकड़ों और तथ्यों का प्रयोग सर्वथा युक्ति-संगत है। इस पुस्तक में सर्वत्र यथासंभव भारतीय उदाहरण देने की चेष्टा की गई है।

समाजशास्त्र एक अत्यन्त रोचक और उपयोगी विषय है, जिसका ज्ञान समाज के प्रत्येक शिक्षित सदस्य के लिये अनिवार्य है। पर यह एक बहुत ही नया विज्ञान है, जो कि अभी विकसित और निरन्तर सम्वर्धित हो रहा है। जर्मनी, फ्रांस, इटली और अमरीका में इसने विभिन्न रूप धारण किये हैं, विभिन्न प्रवृत्तियों का सूत्रपात किया है, विभिन्न प्रकार से वहां के सामाजिक जीवन और उसके नेताओं को प्रभावित और आकर्षित किया है। इसलिये समाजशास्त्र के सिद्धान्तों, समाजशास्त्र की प्रणालियों और उद्देश्य के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है। यही नहीं, एक ही देश के महत्त्वपूर्ण सामाजिक तथ्यों, उनके विश्लेषण और समाधान के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों की पृथक्-पृथक् सम्मतियां हैं। अन्य सामाजिक विज्ञानों की भान्ति इसकी भी अनेक भ्रान्तियां और च्युतियां, टोटके और अन्धविश्वास, ओझे और मसीहा हैं। ऐसी स्थिति में समाजशास्त्र के अध्ययन में अति सावधानी और समझदारी की जरूरत है, ताकि हम अनजाने में ही किन्हीं भ्रान्त तथ्यों और सिद्धान्तों को वैज्ञानिक सत्य के नाम पर न अपना लें। इस पुस्तक में इस बात का ध्यान रखा गया है कि पाठकों के सम्मुख विभिन्न दृष्टिकोणों को पक्षपातरहित हो प्रस्तुत किया जाय, उनका विश्लेषण कर कुछ संतुलित और संश्लेषणात्मक परिणामों पर पहुंचा जाय, और साथ ही पाठकों को अपने निजी निष्कर्ष निकालने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय।

यह पुस्तक प्रधानतः उन तरुण विद्यार्थियों के लिए, सामाजिक समस्याओं पर जिनके विचार और धारणाएं बहुत ही कच्ची, उथली, नमनीय और तरल होती हैं, लिखी गई है। उनमें से अधिकांश एक पाठ्य-पुस्तक से ही अपने विचार और धारणाएं बनाते हैं। ऐसी स्थिति में समाजशास्त्र के लेखक का उत्तर-

दायित्व बहुत बढ़ जाता है कि कहीं वह अनजाने में, निश्चितता की धुन में मिथ्या सिद्धान्तों का प्रचारक न बन जाय।

हिन्दी में समाजशास्त्र के सिद्धान्तों पर यह पहली पुस्तक है। अतः इसमें अनेक त्रुटियों का रह जाना सर्वथा स्वाभाविक है। मेरा पाठकों से साग्रह अनुरोध है कि पुस्तक के संशोधन के सम्बन्ध में उनका जो कोई भी सुझाव हो, उसे निःसंकोच मेरे पास भेजने की कृपा करें, जिससे कि अगले संस्करण में उसका उपयोग किया जा सके। इसके लिए मैं उनका आभार मानूँगा।

हिन्दी में किसी भी वैज्ञानिक विषय पर लिखने में सबसे बड़ी समस्या पारिभाषिक शब्दावलि की है। जब मैंने समाजशास्त्र पर पुस्तक लिखने का निश्चय किया, मेरे सामने भी यह कठिनाई उपस्थित हुई। समाजशास्त्र का क्षेत्र अति विस्तृत है, जिसमें प्राणिशास्त्र, मनोविज्ञान, धर्मशास्त्र, कामशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, दण्डशास्त्र इत्यादि नाना विज्ञानों के शब्दों का प्रयोग होता है। मुझे इसके लिए पांच सौ से ऊपर शब्द ढूंढने और गढ़ने पड़े हैं। पाठकों की सुविधा के लिए मैं उनको पृथक् सूची दे रहा हूं। इसके अतिरिक्त, जहाँ उनका प्रयोग किया गया है, पाठकों की सुविधा के लिए कोष्ठक में अंग्रेजी पर्याय भी दे दिए गए हैं।

हिन्दी के कुछ पारिभाषिकशब्द-निर्माताओं और विभिन्न विज्ञानों के कुछ हिन्दी लेखकों ने भी बहुत से शब्द बनाये हैं, जिनमें से अनेक मैंने अपनाए भी हैं। पर उनमें से कुछ ने, मेरी सम्मति में, अति संस्कृतमय, क्लिष्ट, बोझल और कर्णकटु शब्द गढ़े हैं। इस सम्बन्ध में मैंने मध्यम मार्ग का अवलम्बन किया है। जहां मुझे सरल और चलता शब्द मिल गया, मैंने उसे लेने में परहेज नहीं किया, जहाँ नहीं मिला वहाँ यथासंभव सरल और सार्थक शब्द बनाने की कोशिश की है। इस कार्य में मेरे मित्र प्रो० हरिदत्त ने समाज विज्ञानों और प्रो० चम्पतस्वरूप ने प्राणिशास्त्र से सम्बद्ध शब्द गढ़ने में मेरी बहुत सहायता की है, जिसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं।

समाजशास्त्र के लिखने और प्रकाशित करने में मुझे जिन-जिन व्यक्तियों का प्रत्यक्ष या परोक्ष सहयोग मिला है उन सबके प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापन करना मैं अपना परम कर्त्तव्य समझता हूं। पुस्तक के प्रारम्भ करने में मुझे डी० ए० वी० कालेज देहरादून के प्रिंसिपल और वहां समाजशास्त्र विभाग के अध्यक्ष, समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र के सुलझे हुए विद्वान्, डा० रामनारायण

सक्सेना से बहुत प्रेरणा, प्रोत्साहन और सहायता मिली है और शेष पर्यन्त उनकी सद्भावनाएं मेरे साथ रही हैं। मैं उनका विशेष रूप से अनुगृहीत हूं।

इस पुस्तक के आनुवंशिकता और वातावरण, परिस्थितिशास्त्र तथा सामूहिक व्यवहार वाले अध्यायों का ड्राफ्ट मेरे प्रिय साथी श्री सुरेन्द्रमोहन ने तैयार किया है। इसके अतिरिक्त, पग-पग पर उन्होंने इस कार्य में मेरी सहायता की है, जिसका आभार प्रदर्शन मेरे लिए सम्भव नहीं है।

विषय के विस्तृत अध्ययन की सुविधाएं जुटाने में हमारे पुस्तकालयाध्यक्ष श्री दौलतसिंह चौहान और उनके सहकर्मियों ने जो तत्परता, उदारता और सज्जनता दिखाई, उसके लिए मैं उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूं।

मैं डी० ए० वी० कालेज देहरादून के समाजशास्त्र के विद्यार्थियों का विशेष रूप से आभारी हूं जिन्होंने अपने रोज के तकाजे से इस पुस्तक का इतनी जल्दी लिखना और प्रकाशित करना सम्भव बनाया।

इस पुस्तक को छपाने का प्रधान श्रेय मेरे पिता श्री धनराज विद्यालंकार को है, जिन्होंने अनेक झंझटों में व्यस्त रहने के बावजूद, अपना बहुमूल्य समय निकाल कर स्वयं प्रेस में बैठ कर हफ्तों मेरी अस्पष्ट पाण्डु-लिपि से, जिसको कि अनेक बार मैं स्वयं भी नहीं पढ़ पाता, माथा-पच्ची की और प्रूफ संशोधन का सर दर्द सहा। किन शब्दों में उन्हें धन्यवाद दूं ?

पुस्तक के प्रकाशन म मुझे अपने चाचा श्री हंसराज से अत्यन्त सहयोग मिला है जिसके लिए उनका कृतज्ञ हूँ। प्रेस के अध्यक्ष श्री वेदव्रत विद्यालंकार और श्री पं० शान्तिस्वरूप वेदालंकार भी पुस्तक को सुन्दरता से छापने और प्रूफ संशोधन में सहायता करने के लिए धन्यवाद के पात्र हैं।

अन्त में मैं उन सब विद्वानों का भी अत्यन्त आभारी हूँ जिनके प्रदत्त ज्ञान के दान से इस ग्रन्थ की रचना सम्भव हुई है।

पाठकों की सुविधा के लिए पुस्तक के अन्त में मैंने विस्तृत सहायक ग्रन्थ-सूची दे दी है।

डी० ए० वी० कालेज पुस्तकालय, देहरादून। रघुराज गुप्त

२२–२–५३

विषय-सूची

पहला अध्याय

दूसरा अध्याय

का आधार, एक दूसरे से परिचय, समानता और भिन्नता; समुदाय : सहवास, प्रधान हितों की एकता और आत्मीयता, सहवास ऐकात्म्यता के दृढ़ सूत्र का पोषक, ऐकात्म्यता सामुदायिक भावना की आत्मा; समिति: कुछ विशेष हितों की प्राप्ति समिति का लक्ष्य, समिति की विशेषताएं : नियम, पदाधिकारी, संगठन और सम्पत्ति; संस्थाएं : व्यवहार प्रणाली के सर्वमान्यरूप, संस्कृति प्रणालियों के समूह; संस्था की विशेषताएं; समाज, समुदाय, समिति और संस्था का अन्तर; नस्ल; रेवड़; समूह : सामाजिक सम्बन्धों से समूह का उदय।

तीसरा अध्याय

पशु जगत् में मानव का स्थान; मनुष्य का प्राणिशास्त्रीय श्रेणी विभाजन; मानव जाति की विशेषताएं : १. बड़ा मस्तिष्क, २. सावे खड़े होना, ३. हाथों का अधिक लचकीलापन, ४. संभाषण योग्यता, अन्य विशेषताएं; सृष्टि में मनुष्य का आगमन और विकास : पृथ्वी का इतिहास, मनुष्य का समाजशास्त्रीय पहलू।

चौथा अध्याय

नस्ली सिद्धांत की भूलें; नस्लों की परिभाषा, जन्म और श्रेणी विभाजन : नस्ल की प्राणिक परिभाषा; नस्लों का उदय : १. अन्तःपरिवर्तन, २ चुनाव, ३. पृथक्करण, संसार की प्रधान नस्लें और उनके क्षेत्र; नस्लों का अन्तर्मिश्रण : निष्क्रमण मुख्य कारण, अन्तर्मिश्रण का परिणाम बुरा नहीं, कोई नस्ल आज विशुद्ध नहीं; नस्ल का निर्णय : दृश्य माप्य गुण नस्ल का आधार, प्रायः प्रयुक्त माप : १. माप शारीरिक बनावट से सम्बद्ध, २. कंकाल से प्राप्त सूचनाएं अधूरी, ३. बौद्धिक, भावुक विशेषताओं को स्थान नहीं, नस्ल एक अल्प वास्तविक इकाई; नस्ल के मनोवैज्ञानिक और समाजिक पहलू : नस्ल के आधार पर श्रेष्ठता सिद्ध नहीं की जा सकती, सामाजिक पहलू; भारत की नस्लें : १. नीग्रो, २. आग्नेय, ३. भूमध्यसागरीय, (द्रविड़)—पुरा भूमध्यसागरीय, असली भूमध्यसागरीय, प्राच्य भूमध्य सागरीय, ४. पश्चिमी वृत्तकपाल, ५. नॉर्डिक (आर्य), ६ मंगोल।

पांचवां अध्याय

छठा अध्याय

ग्राम से प्यार, ३. खेती के पेशे के कारण धर्म और लोकोत्तर-शक्ति में विश्वास, ४, बहुमुखी कार्य क्षमता तीव्र साधारणज्ञान का कारण, ५. ग्राम्य-जीवन चिर साहचर्य के कारण प्रभावशाली, ६. लोकापवाद का भय घनिष्ठता का परिणाम, ७. लोकापवाद का भय चरित्रनियन्त्रण का साधन, ८. आदर्शों और परम्पराओं की एकता, ९ पुरातन से प्यार, १०. ग्राम परिवारों का समूह, ११. व्यक्ति पर परिवार या कुटुम्ब का आश्चर्य-जनक सामर्थ्य, १२. परिवार और समाज में नारी का स्थान, १३. आचारव्यवहार और रहन-सहन की सरलता; ग्राम्य-जीवन के आर्थिक पहलू : भूमिपति और भूमिहीन, जमींदारी, रैयतवाड़ी, महलवाड़ी, रूढ़िवाद, निराशा और असंतोष; गांवों का श्रेणी विभाजन : १. बिल्कुल छोटे गांव, २. कुछ बड़े गांव, ३. मुख्यगांव, ४. कस्बे; ग्रामों पर आधुनिक प्रगति का प्रभाव : असंतोष, नगर की ओर अभियान; नागरिक जीवन : नगरों का उदय; नागरिक जीवन की विशेषताएं : १. समुदायों का समुदाय, २. पारिवारिक एकता का ह्रास, ३. सामुदायिक घनिष्ठता का अभाव, ४. चरित्र शैथिल्य, ५. बाह्य प्रभावों की प्रधानता, ६. व्यक्तिवाद का उदय पारिवारिक जीवन का विघटन, ७. अधिक काम के कारग असंतोष और अशान्ति, ८. असंतुलित व्यक्तित्व, ९. अपराध की ओर, १०. सामुदायिक विकेन्द्रीकरण के कारण सामाजिक विघटन. ११. पुरुषों की अधिकता, उच्चतर विवाहावस्था, अल्प सन्तान; नगरों के प्रकार : छोटे नगर, मध्यम कोटि के नगर, बड़े नगर; नागरिक और ग्रामीण जीवन में अन्तर।

सातवां अध्याय

व्यक्ति का परिस्थिति से सम्बन्ध; भूगोल और सभ्यता का एक दूसरे पर प्रभाव : लास एंजल्स का नगर; भूगोलका सभ्यता को प्रेरणादान; जलवायु; प्राकृतिक पदार्थ; प्रादेशिक प्रभाव; जनता के स्वरूप पर पड़ौस और पेशे का प्रभाव; नगर का परिस्थितिशास्त्र : कलकत्ता; ग्राम का परिस्थितिशास्त्र; जनसंख्या का प्रभाव; वैज्ञानिक आविष्कारों का प्रभाव; नगरविकास के सिद्धांत : वृद्धि का केन्द्राभिमुखी सिद्धांत, मारिसडेनी का सिद्धांत, विलियम बेली का सिद्धांत; पारिस्थितिक प्रक्रियाएं; १. एकत्रीकरण, २. केन्द्रीकरण, ३. विकेन्द्री करण, ४. पृथक्करण, ५. आक्रमण, ६. संक्रमण, ७. दैनीकरण।

आठवां अध्याय

नवां अध्याय

दसवां अध्याय

निर्माण : विवाह सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ाने का साधन; परिवार में व्यक्तिगत विकास—वर्ग परिवर्तन की प्रक्रिया; ग्लिक का पारिवारिक चक्र; बोसार्ड का पारिवारिक अन्तःक्रिया का नियम; परिवार का उद्गम उद्देश्य और विकास: पशुजगत् में परिवार; परिवार के उद्गम के कारण : कामचार से परिवार की उत्पत्ति; मातृक्रम कामचार का प्रमाण नहीं, वात्सल्य की भावनाओं से परिवार का उद्गम; मातृनामी और पितृनामी परिवार : विवाहों के भेद; बहुभर्तृता : बहुभर्तृता प्रचलित होने के कारण; बहुभार्यता : बहुभार्यता प्रचलित होने के कारण; बहुभार्यता के दुष्परिणाम; एकभार्यक विवाह : एक विवाह के लाभ : १. बच्चों की बेहतर देखरेख, २. उच्चतर प्रेम का जन्मदाता, ३. दृढ़ता और निश्चिततर पारिवारिक बन्धन, ४. बच्चों और माता पिता दोनों के जीवनों का संरक्षण; वैवाहिक प्रतिबन्ध, हिन्दुओं में बहिर्विवाह : (१) बहिर्विवाही नियम, (२) अन्तर्विवाही नियम; भिन्नगोत्रता के नियम की परेशानियां और भ्रान्तियां : गोत्र द्वारा वंशपरम्परा द्योतन का प्रचलित मत और स्वरूप, गोत्र के नियम की अनावश्यकता, सपिण्डता; अन्तर्विवाह; अन्तर्विवाहों के दुष्परिणाम; विवाह के प्राचीन और अर्वाचीन रूप : (१) ब्राह्म-विवाह, (२) असुर-विवाह, (३) गांधर्व-विवाह, (४) राक्षस विवाह, कन्यादान विरोधी आधुनिक प्रवृत्तियां; दाम्पत्य अधिकार और कर्तव्य : (१) दण्ड देने का अधिकार, (२) दाम्पत्य अधिकारों की पुनःप्राप्ति, (३) व्यभिचार विषयक नियम, (४) सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार; तलाक; क्या हिन्दुओं में तलाक का विधान होना चाहिए ? : तलाक की उपयोगिता; नये हिन्दूविधान में तलाक व्यवस्था; अमरीका में तलाक; आधुनिक परिवार में व्यक्तित्व का विकास; सुखी विवाहों की संख्या; वैवाहिक जीवन में विषाद के कारण; सुखी विवाहित दम्पतियों का व्यक्तित्व : सुखी विवाहित स्त्रियां, दुःखी विवाहित स्त्रियां, सुखी विवाहित पुरुष, दुःखी पति; टरमेन का विवाह सिद्धांत; वैवाहिक सफलता या असफलता की पूर्वोक्ति; बच्चों का व्यक्तित्व; अच्छा पारिवारिक वातावरण क्या है ? : सामान्य अनुशासन; परिवार का भविष्य; परिवार का विघटन : १ औद्योगिक क्रान्ति के कारण परिवार के आर्थिक कृत्यों का ह्रास. २ राज्य का हस्ताक्षेप और परिवार के शिक्षणकृत्यों का ह्रास, ३ संयुक्तपरिवार का ह्रास, ४ आयोजित मातृत्व, संततिनिरोध का प्रसार और छोटे परिवार, सुप्रजनित परिवार; विद्युत् का परिवार पर प्रभाव; गतिशील समाज में परिवार ।

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण; राज्य और समुदाय; सरल संस्कृतियों में सरकार; नेतृत्व का तथ्य, पुनरावृत्ति का तथ्य; सरल संस्कृतियों में सरकार की सीमित आवश्यकता के कारण : १ वर्ग का छोटा स्वरूप, २ विकृत व्यक्तियों की अल्प-संख्या, ३ संस्कृति की अगतिशीलता, ४ सम्पत्ति का अभाव; सरल संस्कृतियों में सामाजिक नियन्त्रण के साधन : १ परिवार, २ बिरादरी, ३ विभिन्न समितियां; राज्य की विशेषतायें; राज्य का उद्गम : मनोवैज्ञानिक और संस्थायिक कारण, रक्तसम्बन्ध, व्यक्तिगत सम्पत्ति, युद्ध और विजय, युद्ध बाद की चीज, युद्ध का जन्म; राज्य का विकास : राज्यों का रेखांकित विकास नहीं, राज्यों से सम्बद्ध परिस्थितियों का बताना सम्भव; सामन्तशाही सरकार : धनी शक्तिशाली कृषक का उत्कर्ष, सामन्तवाद के क्षय के कारण; नगर राज्य; राजतन्त्र का पतन, संसदों की स्थापना; प्रजातन्त्र; राज्य की आधुनिक समस्यायें; लोकतन्त्र में जनमत का ह्रास; हमारे चुनावों की कमियां : मतदाताओं की उदासीनता; लोग वोट क्यों नहीं देते ?; प्रजातन्त्र और स्वार्थी वर्ग; सरकार के कार्य; सरकार के उपयुक्त कार्य; सरकार के अनुपयुक्त कार्य; सरकार की कार्य क्षमता; आज के युग में राज्य का अधिकाधिक उत्तरदायित्व अनिवार्य; सरकार और सामाजिक परिवर्तन; सर्वेसर्वा राज्य : संकटकालीन उपादेयता; स्वाधीनता बनाम संगठन; राज्य का भविष्य; राज्य एक वृहत् समाज : राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध।

चौदहवां अध्याय

क्रीड़ा मनोरंजन और शिक्षण संस्थायें — पृ० २६४

क्रीड़ा का कार्य और महत्व; क्रीड़ा के प्रति विभिन्न धारणायें; क्रीड़ा के सिद्धान्त : (१) अतिरिक्त शक्ति, (२) पुनरावृत्ति, (३) सहजप्रेरित शिक्षण, (४) व्यक्तित्व की स्वाभाविक अभिव्यक्ति, निष्कर्ष; अवकाश के उपयोग में मुनाफा वृत्ति; सिनेमा : सिनेमा की लोकप्रियता के कारण, सिनेमा-नियन्त्रण की आवश्यकता; अवकाश के नये उपयोग; अवकाश के सामाजिक उपयोग; शिक्षण संस्थायें : शिक्षा की परिभाषा कार्य रूप और महत्त्व; भारत में शिक्षा : प्राचीन काल, मध्यकाल, आधुनिक शिक्षा; विद्यमान शिक्षाप्रणाली के दोष : (१) विदेशी माध्यम, (२) खर्चीली शिक्षा, (३) व्यावहारिक जीवन में निरर्थकता, (४) व्यक्तित्व निर्माण की उपेक्षा, (५) सामाजिक दृष्टिकोण का अभाव; सुधार के सुझाव : (१) मातृभाषा का माध्यम, (२) निःशुल्क और

सर्वसुलभ शिक्षा की व्यवस्था, (३) शिक्षा की व्यावहारिकता में वृद्धि, (४) व्यक्तित्व निर्माण पर ध्यान, (५) सामाजिक दृष्टिकोण की सृष्टि; धार्मिक-शिक्षा बनाम ऐहिक शिक्षा; शिक्षा की नई धारणायें : बुनायादी शिक्षा, अमरीका का प्रगतिशील शिक्षा-आन्दोलन; शिक्षा के अन्य आधुनिक साधन : समाचार पत्र : एक प्रभावशाली शिक्षा साधन, समाचार-पत्रों का पतन, जनमत निर्माण का शक्तिशाली साधन; पूंजीपतियों का आधिपत्य, लाभवृत्ति का शिकार, समाचारों का प्रकाशन, सुधार के सुझाव; रेडियो : शक्ति और प्रयोग, अन्तर्राष्ट्रीय ब्राडकास्टिंग, टेलीविजन, रेडियो-टेलीविजन का नियन्त्रण और स्वामित्व; पुस्तकालय : इनका कार्य, साहित्य का प्रभाव; शिक्षा के सामाजिक कृत्य।

पन्द्रहवां अध्याय

(क) समूह और सामूहिक व्यवहार पृ० २८६

मनुष्य सामाजिक प्राणी, सामाजिकता सहजप्रवृत्ति नहीं, मानवशिशु की असहायावस्था से सामाजिकता का उदय; सामाजिक व्यवहार के साधन : अन्तःक्रिया और सामीप्य, अन्तःक्रिया 'प्रेरणा-प्रतिक्रिया-प्रेरणा' की इकाई, हमारे अध्ययन का आधार व्यक्ति नहीं समष्टि; सामाजिक अन्तःक्रिया के साधन : मनोवैज्ञानिक और शारीरिक अवस्थाओं का प्रभाव, सामाजिक अन्तःक्रिया के दो तत्त्वःसदस्यता और नेतृत्व; समूहों के भेद : प्राथमिक हितों की पूर्ति और स्थायित्व में अन्तर समूहों के अन्तर का कारण, प्राथमिक और माध्यमिक समूह, सम्पर्क की घनिष्ठता या अस्थिरता, सामाजिक छद्मसामाजिक और असामाजिक समूह, व्यक्तिगत और सार्वजनिक समूह, दृश्य और अदृश्य समूह, अन्तः समूह और बहिःसमूह; समूह और व्यक्तित्व : व्यक्तित्व सामूहिक प्रेणाओं का प्रत्युत्तर; समाज और व्यक्तित्व सहवर्ती हैं, सामूहिक मान्यतायें और आदर्श व्यक्तित्व के महत्त्वपूर्ण अंग, व्यक्तित्व का सामाजिक प्रतिष्ठा की इकाई के रूप में विकास; सामाजिक नियन्त्रण : लोकनिन्दा या लोकसम्मान, संस्कृति और सामूहिक नियन्त्रण, विहित और अविहित सामाजिक नियन्त्रण, सामाजिक नियन्त्रण के कारण साधारणता की ओर झुकाव, सामाजिक चेतना या आत्मा के सिद्धान्त भ्रान्तिपूर्ण, असाधारण बालक अनेक समूहों के अंग, समूह स्फूर्ति और उत्साह का वर्धक।

(ख) समाज और सहजप्रवृत्ति पृ० २६७

मानव व्यवहारों में कुछ सामान्य प्राथमिक आधारभूत प्रवृत्तियां : सहज-प्रवृत्ति जन्मजात होती है, नस्ल की रक्षा के लिये उपयोगी सिद्ध हुए व्यवहार,

सहजप्रवृत्ति लक्ष्यात्मक होती है, व्यक्तिगत अनुभव से अप्रभावित, सहजप्रवृत्ति की तृप्ति सुखकर, अतृप्ति पीड़ाजनक, सहजप्रवृत्ति और उत्क्षेप, सहजप्रवृत्ति और बुद्धि, सहजप्रवृत्ति का प्रभाव, व्यवहारवादियों की धारणा; समाज में सहज-प्रवृत्ति : मैक्डूगल का मत : सामाजिकता करुणाभाव का परिणाम; मैक्डूगल के मत की समालोचना; सामाजिक जीवन का आधार दूसरों से अन्तः क्रिया : हम सामाजिक मान्यतायें क्यों स्वीकार करते हैं : ट्राटर की धारणा : सामाजिक सहजप्रवृत्ति के कारण सामाजिक गठन, ट्राटर के मत की आलोचना, किसी एक कारण से सामाजिक व्यवहार की आलोचना करना भ्रान्तिपूर्ण, सुझाव, अनुकरण सामाजिक व्यवहार का आधार, पुनरावृत्ति विरोध और अनुकूलन का अविरल चक्र, प्रगति का आधार आविष्कार; अनुरूपता का आधार अनुकरण, विरोधी समाज में आविष्कार का अनुकरण असम्भव, तीन तर्कातीत तत्त्व; अनुकरण सुझाव और सहानुभूति के सामाजिक कार्य : अनुकरण उत्क्षेपात्मक नहीं, सुझाव, सहानुभूति, सामाजिकता कोई सहजप्रवृत्ति नहीं।

(ग) सामाजिक प्रक्रियायें पृ० ३११

सामाजिक प्रक्रिया का अध्ययन समूहों के अन्तःसम्बन्ध और आन्तरिक अवस्था के ज्ञान के लिये आवश्यक, अनेक प्रक्रियाओं की समकालीनता, छः मुख्य सामाजिक प्रक्रियायें, सहयोग, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष सहयोग, समष्टिहित और वैयक्तिक हित, स्पर्द्धा और विरोध, प्रत्यक्ष विरोध, अप्रत्यक्ष विरोध, विरोध केवल विनाशक नहीं है, स्पर्द्धा, सहयोग और विरोध, यान्त्रिक निश्चयवाद की धारणा भ्रान्तिपूर्ण, अहंभाव की तृप्ति स्पर्द्धा और सहयोग दोनों में सम्भव, अनुकूलन और समीकरण, सन्धि-स्थापन, सहनशीलता, मतपरिवर्तन, सात्मीकरण।

(घ) भीड़ व्यवहार : भीड़ और सक्रिय उत्तेजित भीड़ पृ० ३२१

अनिर्धारित नेतृत्व और सदस्यता के समूह : भीड़ एक सामान्य केन्द्र की ओर आकर्षितों का अस्थायी जमघट, शारीरिक सामीप्य, साक्षात्सम्पर्क वेगपूर्ण अन्तःप्रेरणा, भीड़ में घुसने या बढ़ने के कारण शारीरिक दबाव, भीड़समूह में अपरिचितता और अनुत्तरदायित्व, सक्रिय उत्तेजित भीड़; भीड़ व्यवहार के आधार : अनुकरण, सुझाव, प्रचार और अफवाह के कारण सुझाव का प्रभाव, भीड़ के प्रति सम्मान की भावना, भीड़ पर ताल का प्रभाव, पूर्वधारणाओं और भावनाओं का भावात्मीकरण, नेता की भूमिका; मनोवैज्ञानिक अवस्थायें और भीड़ व्यवहार : प्राथमिक प्रेरक-भावनायें, भीड़ समूह द्वारा अचेतन में दबी भावनाओं का उदय; नागरिक सभ्यता और भीड़ व्यवहार : सामाजिक हितों

की अपूर्ति, निराशा का वातावरण, भाग्यवाद में विश्वास, जीवन में नीरसता का आधिक्य, परिवर्तन और दृढ़नेतृत्व की कामना, सामूहिक समाज का उदय; भीड़ व्यवहार और संस्कृतिः सुझाव और संस्कृति।

(ङ) सामूहिक व्यवहार के अन्य रूप पृ० ३३४

(१) श्रोता और दर्शक समूह : संस्कृति निर्धारित अस्थायी समूह, सदस्यों में अन्तःप्रेरणा का अभाव, श्रोतासमूह का भीड़ बनना सम्भव; (२) जनता और जनमत : जनता-सामान्य विषयों पर अभिरुचि रखने वालों का एक शिथिल समूह, जनमत एक गतिशील प्रक्रिया, ग्रामीण समाजों में जनमत, नगरीय सभ्यतायें और जनमत, आधुनिक सभ्यता का जनमत पर प्रभाव, (३) प्रचार : प्रचार—शब्दों और प्रतीकों का पूर्वनियोजित प्रयोग, शिक्षा, विचार-विनिमय और प्रचार, प्रचार और समूह, प्रचार का मनोवैज्ञानिक आधार, प्रचार की सफलता के नियम, प्रचारक और वकील, प्रचार का नियन्त्रण; (४) नेतृत्व : प्रभुता और आधीनता, शैशव अभ्यास और व्यक्तिगत सामाजिक प्रभाव, प्रभुता और नेतृत्व, नेता के गुण, नेता के कार्य, नेता की सफलता के साधन, नेता और अनुयायियों का एक दूसरे पर प्रभाव, नेता और सामाजिक परिस्थिति, सामाजिक पुनर्निर्माण में नेता का महत्व।

सोलहवां अध्याय

संस्कृति का विकास पृ० ३४७

संस्कृति का संचय : योग द्वारा वृद्धि, संस्कृति के अल्प अंश ही लुप्त होते हैं, अभौतिक संस्कृति में संचय; निरन्तरता का सिद्धान्त; मिश्रित-फलीकरण का सिद्धान्त; प्रसार; संस्कृति में स्व-आविष्कृत तत्वों का अभाव, पृथक्करण प्रसार के मार्ग में बाधक; सांस्कृतिक वृद्धि की दर : संस्कृति वृद्धि की तेजगति; वृद्धि-दर में अन्तर के कारण : विद्यमान ज्ञान और आविष्कार की दर में सम्बन्ध; व्याख्यात्मक सिद्धान्त : व्याख्यात्मक वक्ररेखा केवल एक अनुमान; सांस्कृतिक वृद्धि की दर में अन्तर के कारण : संस्कृति की वृद्धि का अनियमित स्वभाव, प्रसार एक बाधक कारण, सब आविष्कारों का महत्व समान नहीं होता; संस्कृतिवृद्धि की विभिन्न कल्पनायें : चक्रीय-कल्पना, साम्राज्यवादी कल्पना, अध्यात्मवादी कल्पना; संस्कृतियों की तुलना; सांस्कृतिक दर को प्रभावित करने वाले कारण : सामाजिक संगठन, भौगोलिक स्थिति, भौतिक आविष्कार द्रुत परिवर्तन का एक कारण, प्रसार और परिवर्तन की दर, निरन्तर द्रुत परिवर्तन की सम्भावना।

सत्रहवां अध्याय

अठारहवां अध्याय

पहला अध्याय

समाजशास्त्र का विषयक्षेत्र

विभिन्न सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन. मौरिस जिन्सवर्ग के शब्दों में : "विस्तृत अर्थों में समाजशास्त्र मानव अन्तःक्रियाओं, अन्तःसम्बन्धों, उनकी समस्याओं और परिणामों का अध्ययन है। आदर्शतः समाज में मनुष्य की समस्त क्रियाएं जिनसे मनुष्य जीवन-संघर्ष में अपने को कायम रखते हैं, नियम और कायदे जो एक दूसरे से उसके सम्बन्धों की व्याख्या करते हैं, ज्ञान और विश्वास की प्रणालियां, कला और नैतिकता तथा एक समाज के सदस्य की हैसियत से प्राप्त किंवा विकसित योग्यताएं और स्वभाव इसके अध्ययन के विषय हैं।"

उपर्युक्त आदर्श वास्तव में बहुत विस्तृत है। यह भी सही है कि कोई भी विज्ञान यदि मानव सम्बन्धों की प्रत्येक शाखा और उनकी अनन्त प्रशाखाओं के अध्ययन का प्रयत्न करे, वह जरा आगे नहीं बढ़ सकता। तब प्रश्न उठता है किस भांति इस क्षेत्र को परिसीमित किया जाए ?

विशेषात्मक और समन्वयात्मक दो दृष्टिकोण. इस प्रश्न के दो प्रकार से उत्तर दिये गए हैं, जिन्होंने समाजशास्त्र के क्षेत्र के विषय में दो विभिन्न कल्पनाओं को जन्म दिया है। एक लेखक-वर्ग, प्रसिद्ध जर्मन समाजशास्त्री साईमल जिसका अच्छा प्रतिनिधि है, समाज के अन्य विज्ञानों से पृथक् समाजशास्त्र की हद बांधने के लिये, महत्वाकांक्षाओं के दोष से मुक्त करने के लिये तथा मानव सम्बन्धों के कुछ विशिष्ट पहलुओं में उसे सीमित करने के लिये बहुत व्यग्र है। दूसरा वर्ग स्पष्टतः मानता है कि सामाजिक अन्वेषण का क्षेत्र किसी भी अनुशासन के लिए अति विस्तृत है। किन्तु वह इस बात पर ज़ोर देता है कि विशिष्ट सामाजिक विज्ञानों, जैसे कि अर्थशास्त्र, मानवशास्त्र, तुलनात्मक धर्म, तुलनात्मक विधि, इत्यादि विज्ञानों के अतिरिक्त भी एक सामान्य विज्ञान की जरूरत है, जिसका कार्य कि विशिष्ट अनुशासनों को एक दूसरे के निकट संपर्क में लाना है, सामाजिक जीवन की सामान्य अवस्थाओं का मुकाबला करना है, जो कि अपनी सामान्यता के कारण अक्सर विशेषज्ञों द्वारा उपेक्षित रहती हैं; संक्षेप में सामाजिक जीवन को पूर्ण रूप में देखना है। समाजशास्त्र के स्पष्टतः निश्चित विशिष्ट ज्ञान की कल्पना तथा समाज-विज्ञानों के

मिन्वय की दृष्टि, दोनों पक्षों के ही पक्के समर्थक विद्यमान हैं । संक्षेप में, इन दोनों दृष्टिकोणों की समालोचना और विश्लेपण आवश्यक है ।

विशेषात्मक अध्ययन : साईमल. पहले दृष्टिकोण को विभिन्न प्रकार से विकसित और प्रस्तुत किया गया है । इसमें से हम मुख्य का ही ज़िक्र करेंगे । साईमल का समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूप और उनके विषय और वस्तु के भेद पर आधारित है । उदाहरण के लिए, प्रतियोगिता, आज्ञापालन, श्रेणीवद्ध संगठन, श्रम विभाजन जैसे सम्बन्ध हमें सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों, आर्थिक, राजनैतिक, यहां तक कि धार्मिक, नैतिक और कलात्मक क्षेत्रों में भी दृष्टिगोचर होते हैं । सामान्य समाजशास्त्र का कार्य इन सामाजिक सम्बन्धों को अलग करना तथा परिवर्तित विषय या वस्तु जिसमें वह प्रकट होते हैं, उनका अमूर्त रूप (abstraction) में अध्ययन करना है । इस दृष्टिकोण के अनुसार समाजशास्त्र तथा अन्य समाज-विज्ञानों में यही अन्तर है कि यह उन्हीं विषयों का जिक्र करता है जिनका कि वे, किन्तु सामाजिक सम्बन्धों के पृथक् रूपों के दृष्टिकोण से ।

वीरकांद्त. वहुत कुछ इसी प्रकार एक अन्य जर्मन समाजशास्त्री वीरकांद्त समाजशास्त्र को एक ऐसा विशिष्ट ज्ञान मानते हैं जो कि उन मानसिक वन्धनों के उन अंतिम स्वरूपों से सम्बद्ध है जो कि समाज में एक मनुष्य को दूसरे से मिलाते हैं । वास्तविक ऐतिहासिक समाज, उदाहरण के लिए अठाहरवीं शती का फ्रांसीसी अथवा चीनी परिवार, केवल एक विशेष प्रकार के सम्बन्धों, उदाहरण के लिए शक्ति अथवा निकटता की तीव्रता के उदाहरण के रूप में ही उपादेय हैं । किन्तु समाजशास्त्र को, यदि इसे अस्पष्टता और अनिश्चितता के आरोप से मुक्त होना है, तो किसी मूर्त समाज के यथार्थ और ऐतिहासिक अध्ययन का प्रयत्न नहीं करना चाहिए । वीरकांद्त के अनुसार इसका उद्देश्य सीधे अन्तःपर्यवेक्षित विश्लेपण के द्वारा सामाजिक संवंधों की कम-से-कम श्रेणियों, जैसे कि सम्मान, शर्म, प्रेम, यश, समर्पण, दूसरों की स्वीकृति का अनुभव, वह सूत्र जो व्यक्तियों और वर्गों को बांधता है, को प्राप्त करना है । इसी तरह संस्कृति का अध्ययन करते हुए, उसके अनुसार, सांस्कृतिक विकास की वास्तविक विषय वस्तु को ले इतिहासकार के साथ प्रतियोगिता नहीं करनी चाहिए । इसे अपने को परिवर्तन और स्थिरता (persistence) की आधारभूत शक्तियों की खोज तक ही सीमित रखना चाहिए । केवल इन्हीं तरीकों से समाजशास्त्रीय अन्वेपण के विशिष्ट क्षेत्र को पृथक् किया जा सकता है ।

मैक्स वैबर. समाजशास्त्र का इससे अधिक ठोस और ऐतिहासिक विवेचन अन्य जर्मन समाजशास्त्री मैक्स वैबर का है, यद्यपि वह भी समाजशास्त्र के लिए एक विशिष्ट क्षेत्र निश्चित करने के लिए उत्सुक है। समाजशास्त्र का उद्देश्य सामाजिक व्यवहार की व्याख्या करना अथवा उसे 'समझना' है। सामाजिक व्यवहार मानव सम्बन्धों के समस्त क्षेत्र को नहीं ढक लेता। यह वह कर्म है जो कि कर्त्ता की इच्छा में दूसरों के व्यवहार द्वारा सम्बद्ध और निर्धारित है। किसी भौतिक वस्तु के प्रत्याशित व्यवहार से प्रेरित कर्म सामाजिक नहीं है। वस्तुतः समस्त मानवीय अन्तःक्रियाएं सामाजिक नहीं हैं। उदाहरण के लिए दो साइकिल सवारों के बीच टक्कर, जबकि एक-दूसरे के मन में पहले से ही एक-दूसरे के व्यवहार के प्रति कोई पूर्वधारणा नहीं है, एक प्राकृतिक घटना है, किन्तु उनके एक-दूसरे को बचाने के प्रयत्न, या घटना होने के पश्चात् उनके द्वारा प्रयुक्त भाषा, असल सामाजिक व्यवहार है। समाजशास्त्र इस प्रकार के व्यवहार की संभावनाओं और अवसरों में दिलचस्पी रखता है। समाजशास्त्र के नियम दृश्य अनुभव पर आधारित संभावनाओं या आंकड़ों द्वारा स्थापित उस सामाजिक व्यवहार, जिसकी कि व्याख्या की जा सकती है, अर्थात् जो कि समझा जा सकता है, के परिणाम हैं।

केवल अमूर्त में अध्ययन का कोई लाभ नहीं. सामाजिक सम्बन्धों के नमूनों का विश्लेषण और श्रेणी विभाजन समाजशास्त्रीय अन्वेषण का अभिन्न अंग है। यद्यपि इसमें अवश्य संदेह है कि आया वह समाजशास्त्र और अन्य समाज-विज्ञानों के सम्बन्ध की समस्या को हल कर देता है, जैसा कि उसके समर्थकों का दावा है। चूंकि सामाजिक संबंधों का अध्ययन, यदि वह जीवन के उन ठोस पहलुओं के जिनसे कि वह सम्बद्ध है, समुचित ज्ञान के बिना, केवल अमूर्तरूप में किया जाता है तो वह एकदम निकम्मा रहेगा। उदाहरण के लिये, प्रतियोगिता के अध्ययन से बहुत थोड़ा ही लाभ होगा जब तक कि हम आर्थिक जीवन अथवा कला और विज्ञान के क्षेत्र में उसकी अभिव्यक्ति का अनुगमन नहीं करते। ऐसा भी हो सकता है कि सामाजिक सम्बन्ध जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न तथ्यों पर आधारित हैं; उदाहरण के लिए, पराधीनता की परिवार, सम्प्रदाय और राज्य में विभिन्न कैफियत है। वाकई यह सत्य है कि नहीं, इसे इन संस्थाओं के विस्तृत ज्ञान के बिना नहीं परखा जा सकता। इस भांति हमें समाजशास्त्र के इस दृष्टिकोण में कि यह सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन है, विस्तार करने की जरूरत है। विभिन्न विशिष्ट समाजशास्त्रों को जो कि संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों, जैसे कि धर्म के, कला के, कानून के, ज्ञान

के समाजशास्त्र में प्रकट हुए हैं, उसमें जोड़ने की जरूरत है। किन्तु तब फिर हमारे हाथ में इन विशिष्ट समाजशास्त्रों की अधिक सामान्य और सिलसिलेवार समाजशास्त्र के साथ सम्बन्ध की समस्या ज्यों की त्यों रह जाती है। क्या फिर हम दुबारा समाजशास्त्र के विश्वकोपीय या synoptic दृष्टिकोण पर नहीं लौट आते ?

समग्र रूप में अध्ययन आवश्यक. इस प्रश्न का उत्तर देने से पहले हमें समाजशास्त्र के इस दूसरे दृष्टिकोण पर विचार कर लेना चाहिये। यह वात सर्वस्वीकृत है कि सामाजिक जीवन के समस्त भाग परस्पर घनिष्ठतया सम्बद्ध और गुंथे हुए हैं। यदि समाज एक शरीर नहीं है, तो भी इसके स्वभाव में कुछ न कुछ शारीरिक तत्व इस अर्थ में विद्यमान है कि इसके भाग साथ-साथ काम करते हैं तथा किसी एक कोने में हुए परिवर्तन सम्पूर्ण पर प्रभाव डालते हैं। अतः यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि समाजों का अध्ययन समग्र रूप में हो, और उसके विभिन्न तत्वों की अन्तःक्रियाओं के स्वभाव को समझा जाय। विशेषज्ञ स्वभावतः सामाजिक जीवन के उस पहलू की प्रधानता का दावा करता नज़र आता है जिससे कि वह विशेषतः सम्बन्धित है। उदाहरणतः राजनीति का विद्यार्थी राज्य को समाज से मिला देता है, अर्थशास्त्री समस्त सामाजिक परिवर्तनों में आर्थिक कारणों को देखता है, धर्म और नैतिकता का इतिहासकार धार्मिक और नैतिक विश्वासों को निर्णायक श्रेय प्रदान करता है, प्राकृतिक विज्ञानों का विद्यार्थी वौद्धिक और यान्त्रिक विकास में सामाजिक परिवर्तनों को खोजता है। किन्तु सामाजिक जीवन के इन तत्वों के अन्तःसंबंध सूक्ष्म व्यावहारिक और तुलनात्मक अध्ययन द्वारा ही निर्धारित किये जा सकते हैं। ऐसा अध्ययन अक्सर उन विशेषज्ञों द्वारा नहीं किया जाता जोकि संस्कृति के किसी एक भाग से सम्बद्ध होते हैं। अतएव स्पष्ट ही एक सामान्य और सिलसिलेवार समाजशास्त्र की आवश्यकता है जो कि विभिन्न विशेषज्ञों के परिणामों से लाभ उठा विशेषतः उनके अन्तःसम्बन्धों से सम्बद्ध होता है तथा सामाजिक जीवन की समग्र रूप में व्याख्या करने की कोशिश करता है।

दुरखीम और हावहाउस की पुष्टि. समाजशास्त्र की यह कल्पना प्रसिद्ध फ्रांसीसी विचारक दुरखीम और अंग्रेजी विचारक हावहाउस के विचारों की पुष्टि करती है। दुरखीम के अनुसार समाजशास्त्र के तीन प्रमुख विभाग हैं, जिन्हें कि उसने सामाजिक स्वरूपशास्त्र (Morphology), सामाजिक शरीरक्रिया (Physiology) और सामान्य समाजशास्त्र का नाम दिया है। सामाजिक स्वरूपशास्त्र जनता के भौगोलिक और प्रादेशिक जीवन के आधार

तथा सामाजिक संगठन के नमूनों से उसके सम्बन्ध और जन-संख्या की समस्याओं, जैसे कि परिमाण और घनत्व, स्थानीय वितरण, इत्यादि से सम्बद्ध होता है। सामाजिक शरीरक्रिया अत्यन्त जटिल है और उसे विभिन्न अनुशासनों, जैसे कि धर्म के, नैतिकता के, कानून के, आर्थिक जीवन के और भाषा के समाजशास्त्र में, जिसका कि वर्तमान में समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से अध्ययन किया जा रहा है, विभक्त करना होता है। यह सब इन अर्थों में समाजशास्त्र की शाखाएं हैं कि इनमें से प्रत्येक एक सामाजिक तथ्यों के सेट का अर्थात् उन क्रियाओं का जो कि सामाजिक समूहों से सम्बद्ध तथा पोषित हैं, विचार करती है। समाजशास्त्र का कार्य इन तथ्यों के सामान्य लक्षणों को खोजना है, अर्थात् इस बात का निर्धारण करना है कि सामाजिक तथ्य किससे बनता है, और क्या कोई ऐसे सामान्य सामाजिक नियम हैं जिनके कि अन्य सामाजिक विज्ञानों द्वारा स्थापित नियम विशेष अभिव्यक्तियां हैं। इसे दुरखीम समाजशास्त्र का दार्शनिक भाग मानता है और वह यह भी मानता है कि समन्वय का मूल्य विश्लेषण की विश्वसनीयता पर, जिसका कि वह परिणाम है, निर्भर करता है। विश्लेषण का कार्य, अर्थात् विशेषों का विकास इस समय समाजशास्त्र का बहुत मुख्य कार्य है।

हावहाउस के परिणाम दुरखीम से बहुत भिन्न नहीं हैं। उनके लिए आदर्शतः समाजशास्त्र विभिन्न समाज-विज्ञानों का समन्वय है। किन्तु एक समाजशास्त्री का मुख्य कार्य दोहरा है। प्रथमतः, एक विशेषज्ञ की हैसियत से उसे समाज क्षेत्र के एक विशेष भाग में अपने अध्ययन को जारी रखना चाहिए, किन्तु द्वितीयतः, और अधिक सामान्य रूप से, सामाजिक अन्तःसम्बन्धों को ध्यान में रखते हुए, केन्द्रीय कल्पनाओं की विवेचना द्वारा, जिससे कि ऐसा समन्वय आगे बढ़े, अंतिम समन्वय के लिए ज़मीन तैयार करना है। सामाजिक सम्बन्धों के सामान्य लक्षणों के विश्लेषण और स्थायित्व और परिवर्तन के और सामाजिक विकास की प्रकृति और अवस्थाओं के अध्ययन द्वारा ही यह संभव है।

विशिष्ट अध्ययन और समन्वय दोनों ही आवश्यक. ऊपर वर्णित समाजशास्त्र के विरोधी विचारों की सूक्ष्म परीक्षा से यह प्रकट होता है कि मूलतः इनके बीच कोई विरोध नहीं है। वस्तु जगत् से दूर कल्पनालोक में सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन निर्विवाद रूप से ऐतिहासिक तथ्यों द्वारा उनके परिणामों की जांच की ओर अग्रसर होता है, और यह सामाजिक अन्वेषण के विभिन्न विशेषज्ञों द्वारा ही सफल हो सकता है। जिसे कि हम सामान्य अथवा

सिलसिलेवार समाजशास्त्र कहते हैं, एक शुष्क और निर्जीव श्रेणियों की सूची नहीं है, किन्तु उसे इतिहास, मानवशास्त्र और सामाजिक संस्थाओं के साथ सम्बन्ध स्थापित कर अपनी जीवन-शक्ति का प्रमाण देना चाहिए। समन्वय और व्योरेवार या विशिष्ट अध्ययन दोनों ही जरूरी हैं और साथ-साथ चल सकते हैं। इस माने में समाजशास्त्र उन विज्ञानों से जो कि जीवित प्राणियों से सम्बद्ध हैं बहुत मिलता है। उदाहरण के लिए प्राणिशास्त्र (Biology) विभिन्न विज्ञानों का जिनमें से हर एक ही बहुत विशिष्ट है, एक संग्रह है। पर कोई इन्कार नहीं करता कि जीवन की अवस्थाओं का एक विकासमान ज्ञान सामान्य प्राणि-शास्त्र भी है। इसी तरह समाजशास्त्र में सामाजिक जीवन के टुकड़ों से सम्बद्ध बहुत से विशिष्ट ज्ञान हैं। इस दृष्टिकोण से समाजशास्त्र को समाज-विज्ञानों के समग्र समूह से मिलाया जा सकता है। अन्य अर्थों में यह अपने आप में विशिष्ट शास्त्र है जिसका लक्ष्य दूसरे अनुशासनों के बीच कड़ियों का खोजना तथा सामाजिक सम्बन्धों के सामान्य लक्षणों का वर्णन करना है।

समाजशास्त्र के मुख्य कार्य

अब हम संक्षेप में समाजशास्त्र के प्रमुख कार्यों को गिना सकते हैं।

१. सामाजिक सम्बन्धों का स्वरूप निर्धारण. यह सामाजिक सम्बन्धों, विशेषकर उनके जो कि संस्थायें अथवा समितियां कही जा सकती हैं, उनके स्वरूपों या नमूनों का वर्गीकरण और स्वरूप निर्धारित करता है।

२. उनके आपसी पहलुओं व सम्बन्धों का निर्धारण. यह समाजिक जीवन के भागों और पहलुओं, उदाहरण के लिए आर्थिक और राजनैतिक, नैतिक और धार्मिक, नैतिक और कानूनी, बौद्धिक और सामाजिक तत्वों के आपसी सम्बन्धों को निश्चित करने का प्रयत्न करता है।

३. सामाजिक परिवर्तन की समस्याओं का समाधान. यह सामाजिक परिवर्तन और स्थिरता की मूलभूत अवस्थाओं को सुलझाने की चेष्टा करता है। चूंकि सामाजिक सम्बन्ध व्यक्तियों के स्वभाव और (क) एक दूसरे से उनके सम्बन्धों, (ख) समुदाय (Community) से उनके सम्बन्धों, (ग) वाह्य वातावरण से उनके सम्बन्धों पर निर्भर करते हैं, इसलिए समाजशास्त्र इनका अध्ययन करता है और उनसे उत्पन्न संघर्षों का समाधान प्रस्तुत करता है।

इस महत्वाकांक्षी प्रोग्राम को कार्यान्वित करने के लिए समाजशास्त्र को ऐसे विशेष ज्ञानों, जैसे कि इतिहास, तुलनात्मक कानून, मानवशास्त्र, जो कि अपने-आप सामाजिक क्षेत्र में हैं, तथा अन्य अधिक सामान्य विज्ञान, जैसे कि प्राणि-शास्त्र और मनोविज्ञान से मैत्री स्थापित करनी होगी। इसका लक्ष्य सब समय

ही सभ्यता के सम्मुख समग्र रूप में सामाजिक तथ्यों का निर्धारण करना है। इसमें विभिन्न विज्ञानों के परिणामों को साथ लाना निहित है, जो कि विशिष्ट ज्ञानों द्वारा नहीं किया जा सकता।

समाजशास्त्र की कुछ परिभाषाएं

विभिन्न लेखकों ने समाजशास्त्र की विभिन्न परिभाषाएं दी हैं। इनमें से कुछ इस प्रकार हैं :

"समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है।" —वार्ड

"समाजशास्त्र नाम उस प्रारम्भिक सामग्री को दिया जाता है जिसमें हमारा सामाजिक ज्ञान निहित है।" —आर्थर फेयर बैंक्स

"समाजशास्त्र मनुष्य का वह अध्ययन है जो कि संसर्ग से प्रभावित होता है और संसर्ग को प्रभावित करता है।" —स्माल

"समाज का वैज्ञानिक अध्ययन समाजशास्त्र है।"......"समाजशास्त्र सामूहिक रूप से विकासवाद की प्रक्रिया में संलग्न भौतिक, प्राणिक और मानसिक कारणों द्वारा समाज के जन्म, विकास, ढांचे और क्रियाओं के वर्णन का प्रयत्न है।" —गिडिंग्स

"समाजशास्त्र समाज के उन तथ्यों का अध्ययन करता है जो कि मानव-जाति के संसर्ग से उत्पन्न होते हैं।" —ब्लैकमार और गिलिन

"सामाजिक तथ्यों का विज्ञान समाजशास्त्र है।" —रास

"मानव संसर्ग और जो कुछ उसे लाभ पहुँचाये या सुधारे, उसका अध्ययन समाजशास्त्र है।" —डीले और वार्ड

"समाजशास्त्र वर्ग में मनुष्यों के व्यवहार से सम्बद्ध है।" —किम्बाल यंग

"अपने-आप में सामाजिक सम्बन्ध समाजशास्त्र की विषयवस्तु है।" —मैकाइवर

"व्यक्तियों के आपसी सम्बन्धों का अध्ययन, एक-दूसरे के प्रति उनका व्यवहार, उनके मानदंड जिनसे कि वे अपने व्यवहार को नियन्त्रित करते हैं, समाजशास्त्र का विषय है।" —हिलर

"मनुष्य और उसके मानवीय वातावरण से सम्बद्ध अध्ययन समाजशास्त्र है।" —फेयर चाइल्ड

"उन सामाजिक प्रक्रियाओं का अध्ययन जो कि सामाजिक वर्गों द्वारा व्यक्तित्व को विकसित एवं परिपक्व करने का कार्य करती हैं, समाजशास्त्र का सार है।" —बोगार्डस

पीत्रिम सोरोकिन के मत में, "समाजशास्त्र सामाजिक तथ्यों के उन

पहलुओं और उनके सम्बन्धों में दिलचस्पी रखता है जो कि समय, काल अथवा दोनों में दोहराये जाते हैं; जो कि परिणामतः कुछ एकरूपता, स्थिरता, और विचित्रता प्रदर्शित करते हैं। ऐतिहासिक विज्ञान द्वारा अध्ययन किये अनुपम तथ्य एक विशिष्ट व्यक्ति, संस्था, सामाजिक वस्तु, विशिष्ट अवस्थाओं के सामाजिक पुंज (Constellation) का व्यक्तिगत चित्र आंकते हैं; समाजशास्त्र या तो एक काल्पनिक गुर देता है (जो कि परिमाणतः अथवा अन्य प्रकार से एक दुहराई एकरूपता या विभिन्नता की तीव्रता है) या किन्हीं दो अथवा अधिक समाजी परिवर्तनों या एक विशिष्ट प्रकार के दुहराये सामाजिक तथ्य की मिलित फोटोग्राफी के नमूने का वर्णन करता है। यह अन्तर समाजशास्त्र को अन्य ऐतिहासिक सामाजिक विज्ञानों से स्पष्टतः विभक्त व पृथक कर देता है।

"यह बुनियादी तथ्य अच्छी तरह समझ लेने पर सामान्य और साथ ही विशिष्ट समाजशास्त्रों की प्रकृति सरलता से समझी जा सकती है। ऐसी अवस्थाओं में **सामान्य** समाजशास्त्र का कार्य स्पष्ट ही और कुछ न होकर केवल उन गुणों और सम्बन्धों का अध्ययन करना है जो कि **समस्त सामाजिक तथ्यों के लिए समान हैं।** समस्त सामाजिक तथ्यों में समान होने का अर्थ जहां कहीं और जब कभी भी सामाजिक तथ्य मौजूद हो वहां मौजूद होना है, या किसी भी समय और कहीं पर भी जहां कहीं भी कोई सामाजिक तथ्य दिया हुआ हो दोहराया जाना है। **इस विषयवस्तु से सामान्य समाजशास्त्र मूलतः अन्य सामाजिक विज्ञानों से पृथक् होता है।** जब तक कि वे विशिष्ट सामाजिक विज्ञान रहते हैं उनमें से कोई भी इस समस्या का अध्ययन नहीं करता और न ही कोई इस समस्या का अध्ययन करने के योग्य ही होता है। इनमें से प्रत्येक सामाजिक विज्ञान सामाजिक तथ्य की एक विशिष्ट किस्म का ही अध्ययन करता है : अर्थशास्त्र आर्थिक किस्म का; राजनीतिशास्त्र राजनैतिक किस्म का। अस्तु। किन्तु जहां तक यह सब किस्में सामाजिक तथ्य की उस सामान्य श्रेणी की उप-किस्में हैं, उनके विशिष्ट गुणों और सम्बन्धों के साथ-साथ उन सबों में कुछ समान गुण और सम्बन्ध होने चाहिएं; अन्यथा वह तथ्यों की श्रेणी में नहीं आ सकते और समाज-विज्ञानों के समान नाम से घोषित नहीं किए जा सकते। क्रम-प्रणाली द्वारा सामाजिक तथ्यों की विभिन्न किस्मों के निम्न तत्वों और सम्बन्धों को इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है :—

आर्थिक : अ, व, स, न, म, फ, इ
राजनैतिक : अ, व, स, ह, उ, ज, प
धार्मिक : अ, व, स, ग, ई, क, र और इसी तरह

"यह मान कर कि सामाजिक तथ्यों की अन्य सब किस्मों में यही समान तत्व और सम्बन्ध अ, ब, स मौजूद हैं, यह अ, ब, स सामान्य समाजशास्त्र का क्षेत्र बनायेंगे। **इन समान तत्वों और सम्बन्धों का पृथक्करण, वर्णन, विश्लेषण और वर्गीकरण समाजशास्त्र का विवेच्य विषय है।** इस क्षेत्र का अन्य समाजविज्ञानों द्वारा अध्ययन नहीं किया जाता। यदि केवल एक किस्म में प्राप्त गुणों (उदाहरण के लिये पौधों के विशिष्ट गुणों) को तथ्यों की समस्त श्रेणी पर लागू किया जाय, तो सिद्धान्त अपर्याप्त और भ्रान्त होगा। इसके विपरीत, यदि प्रत्येक विशिष्ट विज्ञान जो कि एक विशिष्ट प्रदत्त श्रेणी के तथ्यों से सम्बद्ध है समग्र श्रेणी में समान गुणों को दोहराता है, उसका यह अध्ययन प्रयत्न की बचत की दृष्टि से अपर्याप्त और अत्यन्त बेकार होगा।

"इससे पहले कि मैं विशिष्ट समाजशास्त्र की ओर जाऊं, एक टिप्पणी जरूरी है। बहुत से लोग सामान्य समाजशास्त्र की उपर्युक्त कल्पना को अस्पष्ट समन्वयात्मक दार्शनीकरण से मिला देते हैं। वे सोचते हैं कि समाजशास्त्र की ऐसी कल्पना इसे एक विशिष्ट विज्ञान नहीं बनाती बल्कि एक 'समन्वयात्मक खिचड़ी' या समस्त समाज-विज्ञानों का विश्वकोष बना देती है। मैं बलपूर्वक कहूंगा कि ऐसा परिणाम सर्वथा ग़लत है।"

उपर्युक्त विवेचना से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि वह, लक्षण, गुण और सम्बन्ध जो कि समस्त समाजी तथ्यों के लिए समान हैं, सामान्य समाजशास्त्र के अध्ययन का उचित विषय हैं। यह अध्ययन एक व्यावहारिक और वैज्ञानिक रूप धारण कर लेता है जबकि यह क्रियायें उन शब्दों में व्यक्त की जा सकें जिनके आधार पर हम **ठोस परिस्थितियों** (cases) में मानवीय व्यवहार की भविष्योक्ति कर सकें। भविष्योक्ति सामान्य समाजशास्त्र के अध्ययन का अभिन्न अंग है।

समाजशास्त्र एक विज्ञान

यद्यपि प्राकृतिक विज्ञानों और समाजविज्ञानों की विषयवस्तु तो भिन्न होती है, फिर भी इन दोनों का ही वैज्ञानिक प्रणाली से अध्ययन किया जा सकता है। इसका अर्थ हुआ कि तथ्यों की खोज, प्रस्थापना का प्रस्तुत करना, मापना और पद्धति का-सम्मान वह प्रणालियां हैं जो प्राकृतिक और सामाजिक दोनों विज्ञानों पर लागू होती हैं।

हमारे यहां बहुत से प्राकृतिक व सामाजिक विज्ञान हैं जिनमें से प्रत्येक वास्तविकता के किसी पहलू का अध्ययन करता है। इन सब से ऊपर एक अन्य विज्ञान है जिसे १९वीं शती में विज्ञान और २०वीं में विज्ञान का दर्शन कहते

हैं, जो कि संसार को अपनी समग्रता में वताना चाहता है अथवा वताने की आशा करता है और जो कि विभिन्न पृथक विज्ञानों की खोजों व शोधों का समन्वय है। इस दृष्टि से वह विज्ञान कला, दर्शन, धर्म, इतिहास—जिनमें हर एक संसार की पूर्णता में उसकी व्याख्या करने का दावा करता है, उन सभी से प्रतियोगिता करता है। किन्तु सामाजिक विज्ञानों का कोई सामान्य विज्ञान नहीं है, जिसके ऊपर कि विभिन्न विज्ञानों के क्षेत्रों के निष्कर्षों के समन्वय का भार हो।

दूसरे, अभी तक समाजशास्त्र का स्वरूप राष्ट्रीय है। समाजशास्त्र में राष्ट्रवाद उसकी अपरिपक्वता का द्योतक है।

स्पेन्सर की सवसे वड़ी सफलता विभिन्नजातीय योग को समझना था। स्माल के अनुसार समाजशास्त्र मानव संसर्गों में फैले भावों के प्राप्त ज्ञान को संगठित और सामान्य करने का प्रयत्न था। इससे मिलती-जुलती कल्पना वार्ड की थी कि समाजशास्त्र विशिष्ट समाज विज्ञानों का समन्वय नहीं है किन्तु उनके समन्वय से मिश्रित (compound) रसायन है। न यह कोई समाज विज्ञानों में से एक है, न ही यह उन सवसे मिलकर वना है। विशिष्ट सामाजिक विज्ञान योग की इकाइयां हैं जो कि सामाजशास्त्र निर्मित करने के लिए तैयार की जाती हैं, किन्तु वह अपनी व्यक्तिगत सत्ता सम्पूर्णतः उसी भांति खो वैठती हैं जिस भांति कि रासायनिक इकाइयां; और उनसे तैयार वस्तु उनसे सर्वथा भिन्न और ऊंचे दर्जे की होती है।

इससे पृथक कल्पना कि समाजशास्त्र एक पृथक विज्ञान है, जिसका कि अन्य समाज विज्ञानों पर प्रमुख स्थायी शासन करने का कोई इरादा नहीं है, प्रो० गिडिंग्स द्वारा प्रस्तुत की गयी है। उनके अनुसार इसका क्षेत्र अन्य समाज-विज्ञानों का सहवर्ती है, किन्तु यह इस क्षेत्र के प्रारम्भिक और जातीय स्वरूप के विस्तृत अध्ययन से ही सन्तुष्ट रहता है। इसलिए यह समाज विज्ञानों का पूर्ण योग नहीं, वरन् उनका समान आधार है। इसके सिद्धान्त अन्य सामाजिक विज्ञानों की प्रस्थापनाएं हैं और इस तरह वह समस्त क्षेत्र को एकीकृत करने में मदद पहुंचाते हैं। इस भांति विशिष्ट सामाजिक विज्ञान समाजशास्त्र के सहयोगी वन जाते हैं। अव समाजशास्त्रियों का विचार ऐसा होगया है कि समाजशास्त्र दूसरे समाज विज्ञानों के लिए आधार भी है और अन्य विशिष्ट ज्ञानों के साथ एकीकृत विशिष्ट ज्ञान भी है। समाजशास्त्र अव "न तो समाज-विज्ञानों का स्वामी है और न ही दास, वल्कि उनका भाई है"—(वार्नस वेकर)।

ऐतिहासिक दृष्टि से और उसके मुख्य विज्ञानों की दृष्टि से समाजशास्त्र ही एक ऐसा विज्ञान है जो कि अन्य समाज-विज्ञानों का समन्वय है और एक

बुनियादी समाज विज्ञान है। कई बार इस प्रश्न के अन्य दृष्टिकोण भी रखे जाते हैं कि यह इसमें से कुछ भी नहीं है, बल्कि वह प्रणाली है जो कि सामाजिक तथ्यों के अध्ययन में प्रत्येक समाज-विज्ञान द्वारा प्रयुक्त की जाती है। समाजशास्त्रियों ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि यह विभिन्न विचार एक दूसरे के प्रतियोगी न होकर पूरक हैं। इस तथ्य को अच्छी तरह से समझने के लिए समाजशास्त्र तथा अन्य सामाजिक विज्ञानों के सम्बन्ध को समझना भी आवश्यक है।

समाजशास्त्र और अन्य विज्ञान

समाजशास्त्र का विद्यार्थी समाजशास्त्र की दीवार के पीछे अन्य विज्ञानों से आंख मूंद कर नहीं बैठ सकता। अन्य विज्ञानों में अपने विज्ञान की स्थिति को उसे भली-भांति पहचानना चाहिए। विज्ञान सामान्यतः दो श्रेणियों में विभक्त किए जाते हैं: प्राकृतिक अथवा सामाजिक, या भौतिक प्राणिक या सामाजिक विज्ञान। पहले हम प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञानों के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार करेंगे।

भौतिक और सामाजिक विज्ञान. एक ऐसी भी धारणा है कि विभिन्न विज्ञानों को वह वस्तु पृथक करती हैं जिनका कि वह अध्ययन करते हैं। इस तरह इस मत के अनुसार प्राकृतिक विज्ञान, जैसे कि भौतिक शास्त्र, केवल स्थूल भौतिक वस्तुओं से ही सम्बन्धित हैं, जबकि समाजशास्त्र सामाजिक व्यवहार अर्थात् विशिष्ट प्रकार के जीवित प्राणियों और उनकी क्रियाओं की खोज करता है। यह धारणा कुछ अंशों में ही सही है। यह सही है कि विभिन्न विज्ञानों में एक विशिष्ट श्रेणी की वस्तु पर अधिक ध्यान दिया जाता है, किन्तु यह भी सही है कि विभिन्न विज्ञान एक ही वस्तु का अध्ययन कर सकते हैं। एक मानवशास्त्री कंकाल के जोड़ों की प्रणाली में; रसायनशास्त्री उस शरीर के तत्वों और अंगों में; शरीररचनाशास्त्री पेशियों, हड्डियों और अंगों के सम्बन्ध में; समाजशास्त्री उसके सामाजिक व्यवहार में दिलचस्पी रख सकता है। या एक और उदाहरण लीजिए। एक पहाड़ एक भूगर्भशास्त्री के लिए पृथ्वी के तल के पूर्वपरिवर्तनों का द्योतक है; वनस्पतिशास्त्री के लिए वह विशिष्ट पौधों की जन्मभूमि होने के कारण महत्व रखता है; एक समाजशास्त्री की दृष्टि में वह मानव विकास और निष्क्रमण पर क्या प्रभाव डालता है, अथवा मानव समाज द्वारा इसके क्या धार्मिक अर्थ दिये गये हैं, महत्व रखता है; अस्तु। यह उदाहरण इस ओर संकेत करते हैं कि हम एक ही वस्तु का विभिन्न दृष्टिकोणों से अध्ययन कर सकते हैं और विषय-वस्तु का पार्थक्य विज्ञानों के पार्थक्य का

मानदण्ड नहीं है।

सामान्यतः प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञानों में निम्न प्रकार भेद किया गया है : (१) सैद्धांतिक और काल्पनिक तत्व भिन्न होते हैं, इसलिए इनको नियन्त्रित करने वाले नियम भिन्न हैं। "इसीलिए किसी क्रिया को जड़ वस्तु (mass) कहना उतना ही निरर्थक है जितना कि तारे को बौद्धिक प्राणी कहना।" (२) यह दोनों अपनी व्यावहारिक साक्षी में, जो कि उनके लिए उपयोगी है, भिन्न हैं। इस तथ्य का कि सामाजिक विज्ञान मानव प्राणियों से सम्वद्ध है, अर्थ हुआ कि वह मानव विचारों, उद्वेगों तथा अन्य मानसिक प्रक्रियाओं के तथ्यों से संवद्ध है जो कि अन्य कम विकसित और भौतिक विज्ञानों को उपलब्ध नहीं हैं। (३) प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञानों में अन्य भेद समस्या के सम्मिलित तत्वों के पृथक्करण की सीमा से सम्वद्ध हैं। तुलनात्मक दृष्टि से हाइड्रोजन और नाइट्रोजन के, जिनसे मिलकर पानी बना है, कणों को पृथक करना सुगम है। किन्तु मानव क्रियाओं में निहित मानव-प्रेरणाओं (motives) को पृथक् करना बहुत कठिन है।

यद्यपि सब ही विज्ञान गवेषणा की सामान्य प्रणाली—जिसे **वैज्ञानिक पद्धति** कहते हैं—का अनुसरण करते हैं, पर वे विज्ञान अपने दृष्टिकोणों और दिलचस्पी के केन्द्रों में भिन्न हैं। प्रत्येक विज्ञान इस विश्व की वास्तविकता के किसी एक पहलू पर विचार करता है। जैसा कि हम बता चुके हैं समाजशास्त्र प्रकृति के उन पहलुओं से सम्बद्ध है जो मानव प्राणियों की अन्तःक्रियाओं से सम्बन्धित हैं।

समाजशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान. वह विज्ञान जिनके अध्ययन का क्षेत्र मानवजाति है, सामाजिक विज्ञान कहलाते हैं और जो मानव सम्बन्धों के किसी एक पहलू का अध्ययन करता है वह विशेष सामाजिक विज्ञान कहलाता है। इन विज्ञानों और समाजशास्त्र में मूल अन्तर यह है कि वह किसी एक पहलू और कभी-कभी किसी एक मनुष्य अथवा मनुष्य के प्रतिनिधि का अध्ययन करते हैं, जबकि समाजशास्त्र समाज के पृथक सदस्यों को समाज के सदस्यों की हैसियत से देखता है।

इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि समाजशास्त्री के लिए व्यक्ति का कोई महत्व नहीं है। अन्ततोगत्वा व्यक्तियों का सुख ही समाजशास्त्री का मुख्य ध्येय है। अन्तर इतना ही है कि समाजशास्त्र को समाज बनानेवाले मानव प्राणियों के एक और अनेक प्रत्येक सम्बन्ध का अध्ययन करना पड़ता है, जब कि अन्य प्रत्येक विज्ञान उसके किसी एक विशेष पहलू पर विचार करता है और अन्य किसी सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश नहीं करता।

समाजशास्त्र अन्य सम्बद्ध विज्ञानों की सहायता लेने में अन्य विज्ञानों का अनुगमन करता है, जिस तरह कि इंजीनियरिंग गणित, भौतिक और रसायन-शास्त्र के परिणामों से लाभ उठाती है; जिस तरह अर्थशास्त्र को उन भौतिक नियमों पर ध्यान देना पड़ता है जो कृषि को प्रभावित करते हैं । इसी भांति समाजशास्त्र को आर्थिक जीवन के विश्लेषण में अर्थशास्त्र की खोजों की मदद लेनी पड़ती है। इस तरह यह अन्य समाज विज्ञानों के परिणामों को ही स्वीकार नहीं करता, बल्कि "यह विशिष्ट ज्ञानों के परिणामों को एक दूसरे के पास लाता है, उनमें आवश्यक हेर-फेर करता है, यह ध्यान रखते हुए कि वह सब सामाजिक जीवन का अंग हैं जिनमें से प्रत्येक का समग्ररूप में समाज के जीवन को निर्धारित करने में अत्यधिक महत्व है ।"

जीवन का उद्देश्य सुख है । क्या अभी कोई ऐसा विज्ञान है जिसकी खोजें मानव जाति को सुख की ओर ले जा सकें ? समाजशास्त्र का विज्ञान बहुत कुछ इस आवश्यकता की पूर्ति कर सकता है ।

अब हम संक्षेप में समाजशास्त्र के प्रमुख सामाजिक विज्ञानों से संबंध की विवेचना करेंगे ।

समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र. जीविकोपार्जन की दृष्टि से मानवजाति का अध्ययन अर्थशास्त्र है। मार्शल ने ठीक ही कहा है कि यह एक ओर सम्पत्ति का अध्ययन है, दूसरी (और अधिक महत्वपूर्ण) ओर मनुष्य का अध्ययन है । अधिकांश मनुष्यों को अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किसी न किसी आर्थिक कर्म में प्रवृत होना पड़ता है । वह वस्तुओं का उत्पादन करता है, उनका विनिमय करता है, सम्पत्ति का विभाजन करता है और अन्ततोगत्वा उसका उपभोग करता है । मनुष्य का बहुत अधिक समय आर्थिक समस्याओं को सुलझाने में लग जाता है । मनुष्य किस भांति उत्पादन करते हैं, किस भांति वस्तुओं का विनिमय करते हैं अथवा किस भांति सम्पत्ति का वितरण करते हैं, यह केवल मनुष्यों की व्यक्तिगत इच्छा का परिणाम न होकर समाज के संगठन और संस्थाओं और विचारधाराओं का परिणाम होता है । इसी तरह आर्थिक क्रियाएं केवल व्यक्तियों की आर्थिक आय को ही प्रभावित नहीं करतीं, वह उनके सामाजिक दर्जे, समाज में उनके सम्मान तथा उनके बौद्धिक और नैतिक विकास पर भी प्रभाव डालती हैं । इस भांति हम देखते हैं कि अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र में बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध है । बिना समाजशास्त्र के अध्ययन के आर्थिक समस्या की जड़ों तक नहीं पहुंचा जा सकता । बिना आर्थिक जीवन-समस्याओं के अध्ययन के समाज का अध्ययन सर्वथा अधूरा है ।

✓ **मनोविज्ञान और समाजशास्त्र.** मानसिक अनुभव के तथ्यों का अध्ययन मनोविज्ञान का विषय है। मनोविज्ञान की भी दो शाखाएं हैं : व्यक्तिगत मनोविज्ञान और सामाजिक मनोविज्ञान। व्यक्तिगत मनोविज्ञान, सामाजिक परिस्थिति से पृथक, मनुष्य की मानसिक प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है। मनुष्य के सामूहिक व्यवहार में प्रच्छन्न सामाजिक संगठन, आदर्शों और संस्थाओं की छाप स्पष्टतः दिखाई देती है। क्यों कुछ जातियां शांतिप्रिय और क्यों कुछ युद्धप्रेमी होती हैं, क्यों कुछ जातियां भाग्यवादी और क्यों कुछ कर्मवादी होती हैं, इसका बहुत कुछ परिचय हमें उस समाज की वाह्य परिस्थिति के अध्ययन द्वारा मिल सकता है। इसके विपरीत वाह्य परिस्थितियों के परिवर्तन का मानवसमूहों पर क्या प्रभाव पड़ेगा, इसके लिए मानव मन की प्रक्रियाओं, उसकी सहज प्रवृत्तियों, स्वभाव और गुणों की ओर दृष्टिपात करना होगा। इससे यह स्पष्ट है कि मनोविज्ञान और समाजशास्त्र आपस में घनिष्ठतया सम्बन्वित हैं। सामाजिक समस्याओं को भलीभांति समझने के लिए, उनका समुचित समाधान ढूंढने के लिए हमें मानव प्रकृति और व्यवहार का अध्ययन करना होगा। इसके विपरीत मानवीय व्यवहार को समुचित रूप से समझने के लिए हमें उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि पर दृष्टि डालनी होगी।

आचारशास्त्र और समाजशास्त्र. आचार-शास्त्र मनोविज्ञान से घनिष्ठतया सम्वन्वित है। आचार-शास्त्र का उद्देश्य मानव जीवन में अच्छे और बुरे कार्य का मानदण्ड स्थापित करना, अर्थात् नैतिकता की विवेचना है। यह कार्य केवल ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन से ही समाप्त नहीं हो जाता वरन् इसमें सदैव एक नीतितत्व विद्यमान रहता है, अर्थात् उच्चतम कल्याण क्या है ? कुछ व्यक्तियों का कहना है कि यह दर्शन का विशिष्ट क्षेत्र है। यह वात देखने में आती है कि मनुष्य की भले-बुरे की कल्पना कोई अपरिवर्तित, शाश्वत, निर्दोष व पूर्ण चीज़ नहीं है। उसकी शिक्षा और वातावरण द्वारा वरावर उसमें परिवर्तन होते रहते हैं। जहां एक ओर मनुष्य की भले-बुरे की कल्पना व्यक्तिगत विचारों से प्रभावित होती है, वहां दूसरी ओर स्वयं वह विचार सामाजिक संगठन, संस्थाओं और उनके आदर्शों से प्रभावित होते हैं। समाजशास्त्र जहां उन दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों का विश्लेषण करता है, वहां क्या वह समाजनीति के वारे में स्वयं तटस्थ रह सकता है ? यदि समाजशास्त्र को एक उपयोगी और जीवित विज्ञान वनना है, तो उसे अन्धविश्वासों, अज्ञान, परम्परा, अशिक्षा के वातावरण के जाल से मुक्त कर एक सामाजिक आदर्श-सुख की खोज में मानव जाति के एक अन्तिम उद्देश्य का उद्धार करना होगा।

कानूनशास्त्र और समाजशास्त्र. व्यक्तियों के आचरण और पारस्परिक व्यवहार को नियन्त्रित करने के लिए तथा निषिद्ध कार्यों के करने पर उन्हें दण्डित करने के लिए कानून की आवश्यकता पड़ती है। साथ ही हम यह भी देखते हैं कि प्रायः यह कानून किसी एक व्यक्ति की सनक और मन-मरजी का परिणाम न होकर तत्कालीन समाज की भले-बुरे की कल्पनाओं और विश्वासों का प्रतिविम्ब होते हैं। पर जहां कानून विद्यमान सामाजिक अवस्था का प्रतिविम्ब होते हैं, वहां वह बहुत कुछ सामाजिक संगठन, संस्थाओं और आदर्शों को मोड़ने और ढालने में भी योगदान देते हैं। इस सम्बन्ध में एक और बात भी मार्के की है। केवल कानून बना देने से ही उनका पालन नहीं हो जाता। विभिन्न परिस्थितियों में उनका विभिन्न सीमाओं में पालन होता है। विभिन्न वर्गों की परिस्थितियां इस पर अच्छा प्रकाश डालती हैं। इस भांति हम देखते हैं कि बिना कानून को स्थान दिये सामाजिक अध्ययन अपूर्ण है। इसी तरह एक कानूनशास्त्री के लिए भी सामाजिक परिस्थितियों का अध्ययन परम आवश्यक है।

इतिहास और समाजशास्त्र. इतिहास और समाजशास्त्र जो ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं उसमें कोई मौलिक भेद नहीं है। इतिहास मानव जाति के कृत्यों का सिलसिलेवार लेखा तथा विभिन्न घटनाओं के पारस्परिक महत्व को आंकने का एक प्रयत्न है। यह विवेचना की तुलना में वर्णन अधिक है। एक समाजशास्त्री उन सामान्य प्रवृत्तियों को जो कि मानव-जाति के आन्दोलनों को आज निर्धारित करती हैं तथा यदि उन्हें जारी रहने दिया जाय तो उनका क्या प्रभाव पड़ेगा, खोजने का प्रयत्न करता है। इससे स्पष्ट है कि समाजशास्त्री और इतिहासकार कोई भी अच्छे-बुरे के निर्णय से मुक्त नहीं हो सकते। इतिहास मानव-जाति के अतीत आन्दोलनों का अध्ययन करता है। समाजशास्त्री इतिहासकार के कार्य को उससे प्राप्त ज्ञान के आधार पर वर्तमान और भविष्य के लिए उपयोगी बनाता है। एक विद्वान् का कहना है कि "समाजशास्त्र केवल इतिहास के सामाजिक तथ्य का अध्ययन करता है"—(बर)। इसके विपरीत कुछ विद्वानों का कहना है कि इतिहास और समाजशास्त्र में कोई सम्पर्क नहीं है। इतिहास "व्यक्तिगत समग्रों की स्थूल अन्तःदर्शित (intuitive) अनुभूति है"—(औल्श)। वास्तव में सामाजिक सिद्धान्त और सामाजिक इतिहास को पृथक नहीं किया जा सकता। जो इतिहास अक्सर हमें पढ़ाया जाता है उसका उद्देश्य एक मिथ्या राष्ट्रीय अहंकार उत्पन्न करना होता है। किन्तु विश्व के इतिहास का निष्पक्ष अध्ययन हमें बताता है कि सहयोग द्वारा ही मानव जाति प्रगति कर सकती है। इतिहास का अध्ययन हमें यह बतलायगा कि इस सहयोग की क्या शर्तें हैं,

समाजशास्त्र के अध्ययन को सामाजिक सम्बन्धों की समान चेतना को विकसित करना चाहिए। सामाजिक समस्याओं के स्पष्टीकरण में इतिहासकारों का सहयोग अनिवार्य है। इतिहास की समाजशास्त्रीय व्याख्या द्वारा ही मानव जाति अतीत के अर्थ और भविष्य के महत्व को समझ सकती है।

✓ **राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र.** राज्य और सरकार के सिद्धान्तों का अध्ययन राजनीतिशास्त्र के अध्ययन का विषय है। मनुष्य की सामाजिक प्रवृत्ति को ही राज्य-संस्था को जन्म देने का श्रेय प्राप्त है। मनुष्य की यौन, धार्मिक, आर्थिक आवश्यकताओं ने परिवार, सम्प्रदाय और सामूहिक उत्पादन जैसी संस्थाओं को जन्म दिया है। सुरक्षा और नियम की भावना ही सामाजिक भावना का सहारा पा राज्य का रूप धारण कर बैठी। इस संस्था तथा अन्य सामाजिक संस्थाओं में अन्तर यही है कि यह सर्वोपरि और सार्वभौम प्रभुता-सम्पन्न है; अर्थात् जब कि अन्य संस्थाओं की शक्ति बहुत सीमित है, राज्य ही एक ऐसी संस्था है जिसकी शक्तियां बहुत विस्तृत और विशाल होती हैं। राज्य की नीति केवल राजनैतिक जीवन को ही प्रभावित नहीं करती, उसका प्रभाव कानूनों की मदद से समाज के समस्त क्षेत्रों पर पड़ता है। इसके अतिरिक्त आर्थिक जीवन के केन्द्रीकरण तथा आर्थिक आयोजन के आन्दोलनों ने राज्य के क्षेत्र को बहुत विस्तृत कर दिया है। वर्तमान सामाजिक प्रवृत्तियां दिन-पर-दिन राज्य को समाज से मिलाती जा रही हैं। किसी भी सामाजिक समस्या का अध्ययन और हल बिना विद्यमान राजनैतिक परिस्थितियों को समझे और बदले नहीं किया जा सकता। साथ ही किसी भी प्रकार के राजनैतिक परिवर्तन सामाजिक स्थिति का ध्यान किये बिना कार्यान्वित नहीं किये जा सकते।

✓ **प्राणिशास्त्र और समाजशास्त्र.** "हमारा यह विचार कि मनुष्य के लिए किस प्रकार की प्रगति संभव या उचित है, बहुत कुछ उसकी प्रकृति के प्रति हमारी धारणा, उसके जन्म के ढंग, उसके परिवर्तन की पद्धति तथा उसके आपसी तथा उसकी प्रकृति के सम्बन्धों पर निर्भर करता है"—(एच० जे० मुलर)। अन्ततः इस जगत् में मनुष्य क्या करने जा रहा है, यह बहुत कुछ उसकी मानसिक और शारीरिक रचना पर निर्भर करता है। उसे यह जानना चाहिए कि उसकी क्या शक्तियां हैं और वह क्या विकसित कर सकता है। उसे अपनी कमियों का जानना ज़रूरी है। यह एक परिचित तथ्य है कि मनुष्य के यान्त्रिक विकास की तुलना में उसका मानसिक और नैतिक विकास बहुत ही मन्द गति से हुआ है और यही कारण है कि वह अभी भी दमन और निषेधों के शिकंजे में है। अन्य बातों के अतिरिक्त समाजशास्त्र मानव-प्राणियों और समूहों और संस्थाओं पर मानसिक और

शारीरिक विभिन्नताओं के विपरीत, सामाजिक संस्थाओं और समूहों के मानव प्राणियों पर होने वाले प्रभावों का अध्ययन करता है। वह यह जानने की कोशिश करता है कि आनुवंशिकता व्यक्ति के शारीरिक और मानसिक परिवर्तनों में क्या पार्ट अदा करती है, और कहां तक आनुवंशिकता अपने-आप और कहां तक वातावरण और अनुभव से संशोधित होती है। यह प्रजननशास्त्र के दावों की कि नस्ल की किस्म मानव-समितियों पर क्या प्रभाव डालती है, तथा कौन कारण नस्ल की किस्म को निर्धारित करते हैं, छान-बीन करता है। यह उस विकट समस्या का मुकाबिला करता है कि हम कहां तक और किस तरह मनुष्य की नस्ल को सुधार सकते हैं। समाजशास्त्री इस ओर ध्यान दे रहे हैं। इस दिशा में प्राणिशास्त्र उनके लिये अत्यन्त मूल्यवान् सिद्ध होगा।

विभिन्न विज्ञानों की अन्तःनिर्भरता. उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि समाजशास्त्र और विभिन्न सामाजिक विज्ञान किस भांति एक-दूसरे पर अन्तः-निर्भर हैं। पहले लोगों का ऐसा विश्वास था कि समाजशास्त्र पर समस्त सामाजिक विज्ञान निर्भर हैं। इस प्रकार राजनीति और अर्थशास्त्र समाजशास्त्र पर निर्भर विज्ञान माने जाते थे। अधिकांशतः अब समाजशास्त्रियों ने एक परस्पर सम्मान की नीति (Good neighbour policy) जो कि सामाजिक विज्ञानों की अन्तः निर्भरता को स्वीकार करती है, के पक्ष में एक विश्व साम्राज्य की कल्पना को छोड़ दिया है। यह आन्दोलन दोनों ही ओर से चला है, जिससे दोनों को ही लाभ हुआ है। समाजशास्त्री आदिम सामाजिक संगठन की मानवशास्त्रीय खोजों से प्राप्त लाभों को स्वीकार करते हैं; कानून-शास्त्र कानून के व्यावहारिक पहलू के आग्रह में, कानून की एक सामाजिक संस्था की कल्पना में, इसके अन्य सामाजिक उद्देश्यों पर जोर देने में, समाजशास्त्र के प्रति अपने विशाल दायित्व को प्रकट करता है; अर्थशास्त्रियों ने समाजशास्त्र की उस सहायता को स्वीकार किया है जो कि वह सामाजिक नियन्त्रण, सामाजिक अनुकूलन (Adaptation), सामाजिक शक्तियों, प्रतियोगिता और सामाजिक व्यवहार को स्पष्ट करने में पहुंचाता है, और समाजशास्त्री समाज के आर्थिक पहलुओं (Phases) को समझने के लिए अर्थशास्त्रियों की ओर झुके हैं, समाजशास्त्र राजनीतिशास्त्र की ओर राजनैतिक संगठन के तथ्यों के लिए देखता है, और राजनीतिशास्त्र समाजशास्त्र से सामाजिक ढांचे का ज्ञान प्राप्त करता है, राजनैतिक संगठन जिसका केवल एक हिस्सा है; इतिहास सामाजिक संगठन की एक सामान्य दृष्टि के लिए जो कि उसके तथ्यों के उचित वितरण का आधार बन सके समाजशास्त्र की ओर मुड़ता है, और समाजशास्त्र अपने महत्वपूर्ण तथ्यों

के लिए इतिहास की ओर देखता है; अन्ततः आचारशास्त्र भी समाजशास्त्र की शोधों से ही अपने अधिकांश तथ्य, विषयवस्तु संग्रह करता है। इस तरह व्यवहार में समाजशास्त्र और अन्य सामाजिक विज्ञानों का सम्बन्ध सामान्य किन्तु विशिष्ट चुने हुए लेन-देन का है। ऐसा कोई प्रश्न नहीं कि समाजशास्त्र ही एक-मात्र समन्वित समाज-विज्ञान है, यद्यपि सभी समाज विज्ञान बहुत जगह एक-दूसरे को ढक देते हैं। विभिन्न विज्ञानों के लिए कोई अपरिहार्य सीमाएं नहीं हैं, और जो खींची गई हैं, वह भी पुनर्जीवन और अतिरिक्त पोषण के लिए किसी भी बिन्दु पर पार की जा सकती हैं।

समाज-विज्ञानों का एकीकरण. जब समाजशास्त्रियों ने यह कहा कि उनका विज्ञान समन्वयात्मक या बुनियादी है, उनका ध्यान एक बात पर केन्द्रित था। यदि समाज विज्ञानों का उद्देश्य सामाजिक तथ्यों की पूर्ण व्याख्या है, तो यह सम्भव नहीं कि हम उसे प्रचलित अधूरे तरीकों से प्राप्त कर सकें। मानव-व्यवहार और उसकी कृतियों, अर्थात् संस्कृति को ज्ञान के क्षेत्र के लिए एक ही मानना चाहिए। सामाजिक विज्ञानों का उद्देश्य अन्त में समस्त महत्वपूर्ण कारणों और सम्बन्धों को पृथक्-पृथक् कर देना है, पर उन्हें समग्र रूप से देखने पर ही उस क्षेत्र की व्याख्या की जा सकती है। जैसी कि आज स्थिति है, प्रत्येक सामाजिक विज्ञान उस क्षेत्र के एक भाग का अधूरा वर्णन करता है। उनको एक संगत सम्पूर्ण में मिलाना संभव नहीं है। उनके अधूरेपन की सीमा भी अज्ञात है। एक प्रणाली के रूप में विशिष्टीकरण के पक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है। इसके बिना ज्ञान बहुत कुछ उथला रहेगा। किन्तु विशिष्टीकरण हमें कुछ नगण्य तथ्यों को अनुचित महत्व देने की ओर भी ले जा सकता है। और सब से अधिक, विशिष्टीकरण ज्ञान की एकता की अनुभूति को जिस पर कि अन्त में संतोषजनक व्याख्या अवलम्बित है, नष्ट कर सकता है। अतः एक सामाजिक वैज्ञानिक के सामने सबसे बड़ा कार्य विभाजन और सार्वभौमता के लाभों के बीच समझौता स्थापित करना है।

सामाजिक दर्शन. समाजशास्त्र एक विज्ञान की हैसियत से विभिन्न सामाजिक ध्येयों के बीच तटस्थ है। वह किसी सामाजिक प्रक्रिया का विभिन्न वर्गों पर क्या प्रभाव पड़ेगा, इसको बताता है, किन्तु उस प्रभाव में क्या अच्छाई या बुराई है, इसके बारे में कुछ नहीं कहता। चूंकि समाजशास्त्र का अध्ययन मानव जीवन से घनिष्ठतया सम्बन्धित है अतः मानव कल्याण के प्रश्न के प्रति समाजशास्त्र तटस्थ व उदासीन नहीं हो सकता। इस दिशा में समाजशास्त्र को मार्गप्रदर्शन के लिए एक समाजदर्शन की आवश्यकता पड़ती है। यह

समाजदर्शन उच्चतम कल्याण की खोज करता है, उसके आदर्श को प्रस्तुत करता है। समाजदर्शन समाजशास्त्र के निष्कर्षों को मानव जीवन के कल्याण से सम्बन्धित करता है। इसके लिए उसे समाजशास्त्र की सहायता के अतिरिक्त आचारशास्त्र की भी सहायता लेनी पड़ेगी । यह समाजदर्शन समाजशास्त्र की शोधों का मार्गदर्शन करेगा तथा उसके निष्कर्षों का मूल्यांकन करेगा । वास्तव में समाजदर्शन को इस समाजशास्त्र का धर्म कह सकते हैं। परिणामतः हम समाजशास्त्र और समाजदर्शन को दो कठोर श्रेणियों में नहीं बांट सकते। समाजशास्त्र अच्छा-बुरा कहे विना नहीं रह सकता। समाजशास्त्र और समाज-दर्शन का वड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है, विशेषतः ऐसी जगह जहां कि उसे ऐसे तत्वों का विवेचन करना पड़ता है जो कि मनुष्य के सुख-दुःख से घनिष्ठतया सम्बन्धित हैं, उदाहरण के लिए, सम्पत्ति के न्यायपूर्ण वितरण का प्रश्न ऐसा ही है।

यह भी सत्य है कि अभी तक मनुष्य जाति ने स्पष्ट रूप से एकमत हो कोई एक निश्चित लक्ष्य निर्धारित नहीं किया है। अधिकतर व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत समस्याओं को ही लिए बैठे हैं और यदि कुछ लोगों ने इस पर विचार भी किया है तो उनमें से अधिकांश संकीर्ण वर्ग और राष्ट्रीय स्वार्थों, अहंकार, अन्धविश्वासों और अज्ञान से ग्रसित हैं। इससे स्पष्ट है कि मानवजाति के आदर्श को प्रस्तुत करने के लिए हमें इन जालों से वाहर निकलना होगा। समाजदर्शन को उन बुनियादों का विश्लेषण करना होगा जिन पर विभिन्न सामाजिक विज्ञान आधारित हैं। जिन्सवर्ग के शब्दों में "यह उन बुनियादी श्रेणियों को जिन्हें वह प्रयुक्त करते हैं, उन कल्पनाओं, पूर्व-स्थापनाओं को जिन पर कि वह निर्भर हैं सुलझायेगा, और उन्हें समालोचनात्मक परीक्षा और रचनात्मक पुनर्व्याख्या में काम में लायेगा।" अनासक्ति और तटस्थता (Objectivity) से अध्ययन करने में समाजविज्ञान के विद्यमान व्यवस्था का समर्थक वनने का खतरा हर समय मौजूद है। मार्क्सवादी लेखक तो यहां तक कहते हैं कि हमें केवल तथ्यों के वर्णन का ढोंग छोड़ अवश्य एक पक्ष लेना चाहिए। हावहाउस ने हमें अच्छी चेतावती दी है—"हमें यह सोचना छोड़ना चाहिए क्योंकि घटनाएं घटती हैं, इसलिए वह अच्छी हैं, या क्योंकि घटनाएं अच्छी हैं, इसलिए घटती हैं, अन्यथा तथ्य का वर्णन पक्षपातपूर्ण होगा और हमारा मूल्यों (Values) का निर्णय दूषित होगा।" दासता और युद्ध जैसी संस्थाओं का वहुत वार इसी विना पर युक्तिसंगत कहकर समर्थन किया गया है कि वह वहुत समय तक कायम रही हैं, वहुत जगह फैली हैं; और ऐसी किसी भी नीति की भरपेट निन्दा करना और उसे खतरनाक भूठ कहना एक आम चीज है जो कि एक आमूलचूल परिवर्तन की

ओर निर्देश करती है। इसलिए एक ओर वास्तव की पूजा और दूसरी ओर वास्तव में अपनी इच्छाओं और रुचियों को देखने से बचने के लिए, तथ्यों और मूल्यों के अध्ययन को पृथक् रखना जरूरी है। उनके भेद को स्पष्ट करने से, पर साथ ही उनके आपस में कभी न मिलने से भ्रान्ति उत्पन्न होना बहुत संभव है। मानव-जीवन के सम्पूर्ण अध्ययन के लिए समाजशास्त्र और समाजदर्शन में एक समन्वय अपेक्षित है, विलयन नहीं।

समाजशास्त्रीय अध्ययन पद्धतियां

सामान्य अध्ययन पद्धति. प्रत्येक शास्त्र को अपने विषय के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए कुछ विशिष्ट रीतियों या साधनों का सहारा लेना पड़ता है जिसे कि हम विज्ञान की अध्ययन पद्धति कहते हैं। सामान्य रूप से समाजशास्त्र की अध्ययन पद्धति बहुत कुछ अन्य विज्ञानों से मिलती-जुलती है, अर्थात् (१) समाजशास्त्र सामाजिक स्थिति के किसी भी पहलू से उत्पन्न किसी भी अपरिचित और चुनौती देने वाले तथ्य पर ध्यान देता है, (२) उसकी प्रकृति के बारे में एक कामचलाऊ पूर्व कल्पना (Hypothesis) तैयार करता है, अर्थात् अनुभव को, जो कि उस पर लागू किये गये अस्थायी कथनों से व्यक्त होता है, अधिक परिचित पृष्ठभूमि में कार्यशील स्थान देता है; (३) इस स्थान देने का औचित्य जिसका कि उद्देश्य किसी सामाजिक घटना या तथ्य को अर्थ प्रदान करना होता है, विस्तृत खोज और परीक्षण, विषय से सम्बन्धित वस्तुगत (Objective) सम्बन्धों तथा सम्बद्ध तथ्यों के आंकड़ों और तथ्यों के संकलन से प्राप्त होता है जिससे कि उससे गुणों, प्रभावों या समाज के कर्मरत भाग पर प्रकाश डाला जा सके; (४) इसका उद्देश्य विषय विशेष और सामाजिक जीवन जिसका कि वह अंग है, दोनों की वृद्धि और उत्कृष्ट व्याख्या करना है।

विशिष्ट पद्धतियां. उपर्युक्त सामान्य अध्ययन पद्धति के अतिरिक्त समाजशास्त्र के लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों ने सामाजिक घटनाओं और तथ्यों के अध्ययन के लिए विभिन्न विशिष्ट पद्धतियों का आविष्कार किया है, उनकी श्रेष्ठता सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, अथवा उनके अपनाने पर बल दिया है। सुविधा के लिए हम इन विशिष्ट पद्धतियों को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं।

१. आदर्शात्मक काल्पनिक विश्लेषण पद्धति. तथाकथित यथार्थवादियों ने पद्धतिशास्त्र पर यथार्थता की कल्पना करते हुए कई कल्पनाएं और दृष्टिकोण प्रस्तुत किये हैं। कोम्टे का सामाजिक ऐक्य, दुरखीम का सामूहिक प्रतिनिधित्व, साईमल का अन्तःक्रियाओं का सामाजिक स्वरूप, वैबर का आदर्श

टाइप विश्लेषण, सुमनर की जनरीति और मान्य रूढ़ि, स्माल का समूह, कूले का सहानुभूति अन्तःपर्यवेक्षण, पार्क का सामूहिक व्यवहार इसके अच्छे उदाहरण हैं।

२. तथ्य संकलन पद्धति. समाजशास्त्रियों के दूसरे वर्ग का कहना है कि प्राकृतिक विज्ञानों की मुख्य प्रणालियां—अवलोकन, तुलना, संवहन—मानव सामाजिक व्यवहार पर क्यों लागू नहीं की जा सकतीं ?

व्यक्ति जीवनी का महत्व. इसके अतिरिक्त, किसी भी विज्ञान के लिए एक उपयुक्त यन्त्र की खोज या आविष्कार ज़रूरी है। ज्योतिषशास्त्र के लिए टेलिस्कोप, रसायनशास्त्र के लिए टेस्ट ट्यूब, प्राणिशास्त्र के लिए माइक्रोस्कोप ऐसे ही यन्त्र हैं। कुछ विद्वानों का कहना है कि व्यक्तिगत जीवनी के रूप में समाजशास्त्र के लिए वह एक ऐसे ही यन्त्र की खोज कर चुके हैं। समाजशास्त्रीय अध्ययन में व्यक्तिगत जीवनियों का महत्व दिन-पर-दिन बढ़ता जा रहा है।

केस अध्ययन (Case study) पद्धति का विकास. किसी भी सामाजिक घटना का अध्ययन करते समय उसके वाह्य और आन्तरिक, दोनों ही कारणों पर ध्यान देना और विचार करना आवश्यक हैं। इसके लिए केस अध्ययन अर्थात् व्यक्ति विशेष की मानसिक प्रतिक्रियाओं तथा उसके वाह्य वातावरण का जानना ज़रूरी है। व्यक्तिगत लेखे इस कार्य को सम्पन्न करते हैं। अलपोर्त के मत में, "व्यक्तिगत लेखे एक वैज्ञानिक पद्धति के रूप में स्वीकार होने चाहिएं, क्योंकि वह सूचना, पूर्वोक्ति, और नियन्त्रण शक्ति को जिसे कि मनुष्य विना किसी मदद के प्राप्त कर लेता है, बढ़ाते हैं। जान डौलार्ड के अनुसार 'जीवन इतिहास के मापदण्ड' में अपना उद्देश्य सम्पूर्ण व्यक्ति और उसकी सम्पूर्ण संस्कृति का अध्ययन है। वास्तव में व्यक्तित्व का जननिक (Genetic) तत्वों, सांस्कृतिक मानवशास्त्र, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र सबों का एक साथ अध्ययन आवश्यक है।

व्यक्तिगत लेखों के अध्ययन की भी दो पद्धतियां हैं—(क) निष्कर्ष की तुलना, (ख) व्यक्तिगत केस का उसके पूर्व व्यक्तित्व और सम्पूर्णता में मूल्यांकन करना।

केसों और व्यक्तिगत लेखों के विश्लेषण के लिए दुरखीम और वैबर जैसे प्रसिद्ध फ्रेंच और जर्मन समाजशास्त्रियों ने आदर्श टाइप (Ideal Types) की सहायता ली है। आदर्श टाइप अन्वेषण की एक प्रणाली है जिसमें कि वह विशेष केस के गुणों को वढ़ा-चढ़ा कर एक आदर्श कल्पना के

रूप में रखता है और उसकी स्पष्ट व्याख्या देता है। उदाहरण के लिए, वैवर ने एक दैवी नेता का आदर्श टाइप प्रस्तुत किया है, जिसे कि उसने अति-मानवीय अलौकिक शक्तियों से विभूपित माना है। आर्थिक मनुष्य (Economic Man) जो हर समय केवल आर्थिक लाभ-हानि की ही दृष्टि से सोचता है, एक आदर्श टाइप है।

गणनात्मक (Statistical) पद्धति का विकास. हाल में समस्त सामाजिक अन्वेषणों में गणनात्मक पद्धति का अधिकाधिक प्रयोग हुआ है। जन-गणना के तथ्य-संग्रहों से इसे विशेष प्रेरणा मिली है। वास्तव में जन्म, मरण, प्रव्रजन, अन्वेषक की व्यक्तिगत धारणा और मूल्यों से सम्बद्ध न थे, अतः वह वैज्ञानिक अध्ययन में पर्याप्त निष्पक्ष सिद्ध हुए हैं।

पूर्व कल्पना-विश्लेपण के साथ सामाजिक परिमाणात्मक तरीकों से एक नये समाज गणित का विकास हुआ है जिसे कि समाज़मिति (Sociometry) कहते हैं। समाजमिति धीरे-धीरे काल्पनिक सामाजिक विश्लेषण और आंकड़ों के अन्तर को कम कर रही है।

केस अध्ययन और आंकड़ों का अन्तःसम्बन्ध. केस अध्ययन और गणनात्मक पद्धति—आंकड़ों के प्रयोग का प्रचार दिन-पर-दिन बढ़ता जा रहा है। गणनात्मक पद्धति दिन-पर-दिन पूर्णता की ओर अग्रसर हो रही है, यद्यपि यह अभी भी वहुत सी सामाजिक समस्याओं पर लागू होती नहीं दीखती। केस अध्ययन आंख खोलने वाले हैं किन्तु जटिल पूर्वकल्पनाओं का परीक्षण वहुत कठिन कार्य है। निःसंदेह केस अध्ययन और व्यक्तिगत लेखे ने गवेषक को एक नया शास्त्र प्रदान किया है। केस अध्ययन आंकड़ों का उपयोगी सहायक है; आंकड़ों की खोजों की व्याख्या में वहुत मूल्यवान है। आंकड़े और केस अध्ययन, दोनों ही एक दूसरे के सहायक हैं।

३. विचारधारात्मक (Ideological) पद्धति. समाजशास्त्रियों का एक अन्य वर्ग अतीत, वर्तमान और उदीयमान विचारधाराओं की सहायता से समाज का अध्ययन करना चाहता है। उनके अनुसार सामाजिक घटनाओं और परिवर्तनों अथवा सामाजिक संस्थाओं के स्वरूप-निर्धारण और नियन्त्रण में समाज की तत्कालीन विचार-धारा का जवर्दस्त हाथ होता है। उदाहरण के लिए १९ वीं शताव्दी के पूंजीवाद के उत्कर्ष में यान्त्रिक कारणों के अतिरिक्त, तत्कालीन मुक्त व्यापार की विचारधारा का वड़ा हाथ था। प्रख्यात समाज-शास्त्री कार्ल मैनहाइम ने इस दृष्टिकोण को वहुत स्पष्टतापूर्वक व्यक्त किया है। विचारधाराओं की शैलियों को समझे विना हम सामाजिक तथ्यों को ठीक-ठीक

नहीं समझ सकते।

तीनों पद्धतियों का समन्वय आवश्यक. प्रथम महायुद्ध के पश्चात् आदर्शात्मक काल्पनिक विश्लेषण, तथ्य संकलन तथा विचारधारात्मक विवेचन के बीच की खाई को पाटने का प्रयत्न किया गया है। वास्तव में किसी भी सामाजिक अध्ययन के लिए आवश्यक तथ्यों का मौजूद होना, तथ्यों को समझने अथवा बदलने के लिए वर्तमान विचारधारात्मक पेचीदगियों से परिचित होना बहुत जरूरी है। इस तरह तीनों पृथक् पद्धतियां एक-दूसरे की प्रतियोगी न हो कर पूरक हैं, शत्रु नहीं, सहयोगी हैं।

दूसरा अध्याय

प्राथमिक परिभाषाएं

प्रतिदिन के प्रयोग के कारण निर्दिष्ट अर्थ का अभाव. क्योंकि समाजशास्त्र मनुष्य के सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्यवहारों—सामाजिक व्यवहारों—का अध्ययन करता है, या जैसे बोगार्डस ने कहा है, समाजशास्त्र उन सामाजिक अन्तःक्रियाओं का अध्ययन है जो व्यक्तित्वों के विकास और परिपक्वता में सामाजिक समूहों के द्वारा कार्यान्वित होती हैं इसलिए कितनी ही वार हम उन शब्दों को और धारणाओं को अपने दैनिक, अवैज्ञानिक और अनिर्धारित अर्थों में समझ लेते हैं । बार-बार जब हम उन्हीं व्यवहारों, उन्हीं क्रियाओं और शब्दों के प्रतिदिन संपर्क में आते हैं तो उनका अलग-अलग अर्थों में प्रयोग, अलग-अलग क्रियाओं के लिए उनका नामकरण होना स्वाभाविक है भी । पर जब भी हम एक वैज्ञानिक, एक शास्त्रीय दृष्टिकोण से इन व्यवहारों और क्रियाओं का अध्ययन करने लगें, हमें कुछ विशेष शब्दों की परिभाषा करनी होगी, उनके अर्थ निर्धारित कर लेने होंगे ।

स्थूल वस्तु-शरीर न होने से अर्थ में भ्रान्ति. यह न केवल इसलिए, बल्कि इसलिए भी कि यह—समाज, समुदाय, नस्ल, जनरूढ़ि, इत्यादि शब्द—हमारे संमुख एक स्थूल शरीर लेकर उपस्थित नहीं हैं । कुर्सी, सूर्य, चावल, मेंढक, इत्यादि की तरह जिन्हें पदार्थ, रसायन या प्राणि-विज्ञान निर्दिष्ट परिभाषा दिए बिना प्रयुक्त कर सकते हैं, हम इनको नहीं कर सकते । समाज की ही बात ले लीजिये । क्या यह किसी एक समूह का नाम है—जैसे ब्रह्मसमाज या आर्यसमाज—या एक राष्ट्र का, जिसे कुछ राजनैतिक दल सारी सम्पत्ति का स्वामी बना रहे हैं, या यह सभी व्यक्तियों की एक समष्टि का नाम है ? व्यक्ति और समाज का जो विवाद चल पड़ा है, यह उस विवाद का अंग है ?

समुदाय को हम जाति या धर्म मान लें और समाज का साम्प्रदायिक विभाजन करके उसके भागों को समुदाय कहें—इसका भी निर्णय परिभाषा द्वारा करना होगा । एक समुदाय और समाज में क्या अन्तर है ? संस्था क्या है ? चूंकि यह सब हमारे सामाजिक जीवनका अभिन्न अंग हैं, चूंकि दैनिक प्रयोग से और सूक्ष्म शरीर या अशरीर होने से, इनका एक अर्थ रहा नहीं,

इसलिए हम ऐसे कुछ प्राथमिक शब्दों की परिभाषा कर देने पर बाध्य हैं।

समाज (Society)

हम सभी दूसरे मनुष्यों के साथ रहते हैं। दूसरे मनुष्यों—परिवार—पर ही बच्चा अपने भरण-पोषण के लिए, अपने शरीर की रक्षा के लिए, अपने ज्ञान के लिए, निर्भर करता है। दूसरे मनुष्यों के सहयोग में ही आरण्यक अवस्था का प्रत्येक प्राणी दुर्निवार और भयावह परिस्थिति में अपने को सुरक्षित रख सका, और सहयोग, साहचर्य, सामूहिक जीवन ने ही मानव जाति को यह विकास दिया है, जो कि आज उसे प्राप्त है।

समाज मानव व्यवहारों, अन्तःक्रियाओं और सामूहिक प्रणालियों का विधान है. यही दूसरे मनुष्य, यही समूह, जिनमें हम अपनी पूर्णता को प्राप्त करते हैं. अपने पेट को भरने, तन को ढांपने, जीवन की रक्षा करने इत्यादि का प्रयास करते हैं, जिसके कारण ज्ञान प्राप्त करते हैं, जो हमारे व्यवहारों को एक दिशा देता है, जो हमारे व्यवहारों का नियन्त्रण भी करता है, यही तो समाज है; और इसमें हमारा व्यवहार तथा इसमें प्रविष्ट सभी व्यक्तियों का व्यवहार सामाजिक व्यवहार है, इसी के व्यवहारों, परिपाटियों, परिवर्तनों, विकास इत्यादि को हम सामाजिक प्रक्रिया कहते हैं और रौस के कथनानुसार यही समाजशास्त्र के अध्ययन के विषय हैं।

"समाज", मैकाइवर का कहना है "व्यवहारों और प्रणालियों का एक विधान है; शासन और सहयोग का, समूहों और विभक्तियों का, मानव व्यवहार के नियन्त्रणों और स्वाधीनताओं का एक ढांचा है। इस सदा परिवर्तनशील, पेचीदा विधान को हम समाज कहते हैं।"

अन्तःप्रेरित मानव-समूह : सदा विकासमय और परिवर्तनशील. इस प्रकार समाज, ऐसे मनुष्यों का समूह है जो एक दूसरे से व्यवहार करते हैं, अर्थात् एक दूसरे की उपस्थिति से, एक दूसरे के व्यवहारों से प्रेरित होते हैं। पर उनकी प्रेरणा के ये विषय—दूसरे लोगों के व्यवहार—भी तो उनके अपने व्यवहारों की ही प्रतिक्रियाएं हैं, इसलिए ऐसे मनुष्यों का समूह जो एक दूसरे से अन्तःप्रेरित होते हों, एक समाज कहलाता है और ये प्रेरणाएं और प्रतिक्रियाएं सामाजिक व्यवहार हैं और क्योंकि हम अपनी परिवर्तित अवस्था के कारण या अपने सहयोगियों या उपस्थितों के बदलने के कारण अलग-अलग शारीरिक प्रतिक्रियाएं करते हैं, इसलिए परिवर्तन इन सामाजिक व्यवहारों का मूल मंत्र है। हम सब जीवित हैं; जीवन को मृत्यु से पहचानने का एकमात्र साधन है विकास, परिवर्तन; अतः हमारा समूह, और हमारी अन्तःप्रेरणाएं और

इसीलिए हमारा समाज सदा ही जीवित, विकासमय और परिवर्तनशील है।

एक दूसरे की उपस्थिति की अभिज्ञता अन्तःप्रेरणा का आधार. परन्तु यदि समूह अन्तःप्रेरित नहीं, तो उसे समाज कैसे कहा जाए ? अन्तःप्रेरणा तभी होगी जब हम अपने समीप के लोगों से प्रेरित होंगे; जब उनकी उपस्थिति का हमें ज्ञान होगा। इसलिए यह आवश्यक है कि समाज के व्यक्तियों को एक दूसरे की उपस्थिति का आभास हो।

एक दूसरे से परिचय, समानता और भिन्नता. एक दूसरे की उपस्थिति का ज्ञान सामाजिक व्यवहार को जन्म भले ही दे दे, पर उसे विकसित करने, जारी रखने के लिए एक दूसरे से पहचान होना, एक दूसरे के साथ मिल कर चल सकना अधिक आवश्यक है। यदि सहयोग, सहकारिता, साहचर्य के न होने से मानव न मिलते, समाज कहाँ बनता, समाजशास्त्र अध्ययन किस चीज़ का करता ? मानव-मानव बहुत मात्रा में समान हैं, एक दूसरे के हित सम्बद्ध हैं, सामाजिक जीवन से रहित वे जी न सकेंगे. समाज का जन्म हितों की इसी एकता से, समानता की और सम्बन्धित होने की इसी भावना से हुआ है।

एक समान होते हुए भी मानव-मानव भिन्न हैं। भिन्न-भिन्न विचार, व्यक्तित्व और भिन्न-भिन्न हित लिए हुए हैं। इसीलिए संघर्ष, युद्ध, विरोध हमारे समाज के अंग हैं। सामाजिक व्यवहारों की विभिन्नता के परिणाम हैं विविधता, बहुमुखता और विकास। पर यह विकास और विविधता मानव-मानव की भिन्नता के ज्ञान के कारण और उस भिन्नता में भी एक दूसरे की भिन्नता को पहिचान कर मिल सकने की भावना के कारण ही हो सके हैं। मानव-मानव में भिन्नता के बावजूद भी, जिसे गिडिंग्स ने "एकजातीयता की भावना" कहा है उस भावना के कारण ही मानव प्रगति कर सका है, चूंकि भिन्नता से समानता अधिक है।

इस समानता की ओर लक्ष्य करके ही फेयर चाइल्ड ने समाजशास्त्र के शब्द-कोष में कहा है : "समाज उन मनुष्यों का एक समूह है जो अपने कुछ प्रधान हितों की प्राप्ति में सहयोग कर रहे हों। इन हितों में आत्मरक्षा और मानव जाति का सतत प्रसार प्रधान हैं। इस में जटिल सामितिक सम्बन्ध, धारा-वाहिकता और पुरुषों, स्त्रियों और शिशुओं के सम्मिलन को लिया जाता है।"

समुदाय (Communities)

सहवास, प्रधान हितों की एकता और आत्मीयता. इस प्रकार हम देखते हैं कि समाज उन 'समानजातीय' मनुष्यों का समूह है जो इस समानजातीयता के कारण समाज का अंग हैं। समाज का वह सीमित रूप जिसमें मनुष्य एक छोटी परिधि में, ऐसी परिधि में जिसमें एक साथ रहने के कारण उनका

जीवन समान हो और सामूहिक हो, जिसमें उनके सभी प्रधान हित पूरे हो पाएं, समाज से छोटा होने पर समुदाय कहलाता है। एक गांव की वात ले लें। सभी ग्रामीणों के चिर सहवास के कारण उनके हित करीब-करीब ग्राम तक ही सीमित हो जाते हैं, सहवास के कारण ही उनमें एकता की भावना, एक स्थानीयता और अपनेपन की भावना का जन्म हो जाता है। ऐसे समूह को, जिसमें सहवास, प्रधानहितों की पूर्ति और अपनेपन की भावना हो, हम समुदाय कहते हैं।

सहवास ऐकात्म्यता के दृढ़ सूत्र का पोषक. सहवास समूह के जीवन को एक लड़ी में पिरो देता है। एक माला में, एक सूत्र में गूंथ देता है। एक साथ रहने से सामाजिक आत्मीयता का एक दृढ़ सूत्र सब को बांध लेता है। इन अर्थों में एक समुदाय भौगोलिक इकाई और सांस्कृतिक एकता के आपस के सम्बन्ध का अच्छा प्रमाण है। इस वात के बावजूद भी कि भौगोलिक या क्षेत्रीय प्रभाव परिवहन के साधनों के विकास के कारण कम हो गया है, सहवासजनित एकता और घनिष्ठता से इनकार नहीं किया जा सकता।

ऐकात्म्यता सामुदायिक भावना की आत्मा. परन्तु फिर भी केवल सहवास ही किसी समुदाय को जन्म दे पाए, ऐसा नहीं है। जिस सामाजिक सामान्यता और दृढ़ता से समुदाय में एक होने की, अपना ही होने की, अपर होने की भावना का जन्म होता है, उसके लिए 'स्थानीय' नहीं, मानसिक धारणाओं का ऐक्य आवश्यक है। जो लोग एक समुदाय से मानसिक एकता होने पर दूसरे स्थानों पर भी रहते हैं, वह भी अपने को उसी समुदाय का अंग मानने में गर्व करते हैं।

एक समुदाय सामान्य—, सह—, जीवन का क्षेत्र है और इस सामान्य जीवन में यह आभास भी होना चाहिए कि समूह के अलग-अलग व्यक्ति एक विशिष्ट सामान्य जीवन की रीति को अपनाए हुए हैं, एक विशिष्ट जीवन प्रणाली में भाग ले रहे हैं, सार्वजनिक कार्यों में योग दे रहे हैं।

"एक समुदाय में एक क्षेत्र, वड़ी मात्रा में अन्तर्व्यक्तिगत परिचय—एक दूसरे से जान पहचान—और सम्बन्ध और सामाजिक एकता की विशिष्टता जो समुदायों को पड़ोसी समूहों से अलग करती हैं—इन का होना आवश्यक होता है।"

—फेयर चाइल्ड

"ऐसे मनुष्यों का समूह जो एक ही भौगोलिक क्षेत्रीय इकाई में रहते हों, कार्यक्रमों और हितों के समान केन्द्र रखते हों और जीवन के महत्वपूर्ण कामों में सामूहिक रूप में सहयोग करते हों, समुदाय है।"

—आस्बोर्न

"समुदाय एक ऐसा सामाजिक समूह है जिसमें "हम एक ही हैं" की भावना और एक विशेष क्षेत्र में रहन-सहन, यह दोनों तत्व विद्यमान हैं।" —**बोगार्डस**

समिति (Association)

जहाँ सामान्य निवास और प्रधान हितों की उपलब्धि की सामूहिक चेष्टा एक समुदाय को जन्म देती हैं, वहां जब मनुष्य एक जगह न रहते हुए भी सभी प्रधान हितों की समानता न रखते हुए भी, कुछ खास हितों के लिए अपने को एक सम्बन्ध में बांध लेते हैं, ऐसे सम्बन्धों को हम समिति कहते हैं।

कुछ विशेष हितों की प्राप्ति समिति का लक्ष्य. स्पष्ट है कि अलग-अलग श्रेणियों, अलग-अलग हितों, अलग-अलग समुदायों या एक श्रेणी के लोग भी एक समिति के सदस्य हो सकते हैं। उन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए सामूहिक चेष्टा होती है और इसी के लिए समिति का संगठन होता है। इस संगठन के कुछ सुनिर्धारित नियम-उपनियम होते हैं जो या तो समुदाय के ही रीति रिवाज होते हैं या बनाए जाते हैं।

समिति की विशेषताएं : नियम, पदाधिकारी, संगठन और सम्पत्ति. संगठन के न केवल निर्धारित नियम और नियमावली होती है, बल्कि समिति की चेष्टा को निर्दिष्ट करने के लिए, सामान्य हितों की प्राप्ति या रक्षा के लिए कुछ अधिकारी भी होते हैं। चन्दा भी इसी लिए एकत्रित होता है और इस प्रकार सदस्य अपना-अपना योग देकर सामितिक सम्पत्ति संगृहीत कर पाते हैं, ताकि सामान्य लक्ष्य प्राप्ति का प्रयत्न चल सके और चलता रहे। अतः ऐसा संगठित समूह जो एक सामान्य हित की प्राप्ति (या रक्षा) के लिए बनाया जाय और जिसके कुछ अपने ही विशिष्ट पदाधिकारी, कार्यकर्ता हों, 'अपनी ही' आत्मसीमित शासन व्यवस्था हो, समिति कहलाता है।

संस्थाएं (Institutions)

प्रधान हित या हितों की समानता के कारण समुदाय बनते हैं या समितियां बनाई जाती हैं। परन्तु उन हितों की प्राप्ति के लिए कुछ मान्य प्रणालियां, कुछ सर्वस्वीकृत तौर तरीके अपनाए जाते हैं। यह प्रणालियां या व्यवहार संस्थाएं कहलाते हैं।

संस्थाएं : व्यवहार प्रणाली के सर्वमान्य रूप. इन अर्थों में जो चेष्टाएं विभिन्न, पर समाज स्वीकृत ढंगों में हम अपने सामूहिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए करते हैं, वही संस्थाएं हैं। चाहे प्रजनन के लिए विवाह की प्रणाली, चाहे क्रय और विक्रय के संगठन के लिए बाजार और उसके नियम, चाहे अपराधी को दण्ड देने के लिए जेल—यह सभी संस्थाएं हैं। यह संस्थाएं सामूहिक क्रिया या

व्यवहार की विशिष्टताएं होती हैं।

संस्कृति प्रणालियों के समूह. गिलिन ने कहा है : "एक (सामाजिक) संस्था संस्कृति प्रतिमानों (Patterns) का वह कार्यात्मक समूह है (क्रियाएं, विचार, सम्मान और सांस्कृतिक साधन सभी इसके अन्तर्गत हैं) जो कुछ स्थायी होता है और जिसका जन्म अनुभव होने वाली सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुआ है।" समाजशास्त्र के शब्दकोष में संस्था का अर्थ यह है :

"एक स्थायी, बहुग्रथित, एकीकृत, और संगठित व्यवहार प्रणाली जिसके द्वारा सामाजिक नियंत्रण किया जाता है और जो बुनियादी सामाजिक मांगों या आवश्यकताओं को पूरा करती है।"

संस्था की विशेषतायें

इस दृष्टि से हम देखते हैं कि एक संस्था की कुछ विशेषताएं होती हैं। (१) व्यवहार प्रणालियों का संगठित समूह या रूप एक संस्था होती है। हैमिल्टन ने इसे 'सामाजिक प्रयोगों का समूह' कहा है। इस प्रकार संस्थाएं सारे सांस्कृतिक विधान की अलग-अलग इकाइयों के तौर पर कार्य करती हैं। (२) स्थायित्व या स्थिरता संस्था का स्वभाव है। जब तक यह सर्व स्वीकृत है, यह प्रचलित रहेगी, पर परिवर्तनशील समाज में यह भी समय पाकर बदलेगी। परिवर्तन का प्रभाव एक संस्था पर बहुत देर में होता है। (३) प्रत्येक संस्था के कुछ सुनिर्धारित लक्ष्य या उद्देश्य होते हैं। (४) सांस्कृतिक विकास और सांस्कृतिक विरासत के लिए, व्यक्ति की शिक्षा और सामाजिक जीवन में उसके योग के लिए ये व्यवहार-प्रणाली-समूह बहुत लाभदायक होते हैं। (५) प्रत्येक संस्था के कुछ चिन्ह और (६) कुछ निश्चित परिपाटी या विधान होता है। (७) एक संस्था सामाजिक नियंत्रण का साधन होती है।

समाज, समुदाय, समिति और संस्था का अन्तर

समाज उन मनुष्यों का समूह है जिनको एक दूसरे का ज्ञान है, जो समानताओं के कारण एक दूसरे को प्रेरित करते हैं।

ऐसा समाज जब एक ही स्थान पर रहता है, रहते-रहते प्रधान हितों की उपलब्धि सहयोग द्वारा करता है, और अपनेपन की भावना से ओतप्रोत हो जाता है, समुदाय कहलाता है।

स्पष्ट है, प्रत्येक समुदाय समाज हो सकता है, प्रत्येक समाज समुदाय नहीं। इनका बड़ा अन्तर घनिष्ठता, ऐकात्म्य, हितों की एकता और सामान्य जीवन में है।

मनुष्यों का अन्तःप्रेरित समूह जब कुछ प्रधान हितों को पाने के लिए

संगठित होता है, समिति कहलाता है। इसके अपने कार्यकर्ता, सम्पत्ति और नियम होते हैं। एक समिति एक समुदाय से इस रूप में विभिन्न है कि घनिष्ठता की वह पराकाष्ठा जो सामुदायिक भावना का प्राण है, समिति में नहीं होती। समुदाय का तो व्यक्ति पूर्णतः अंग होता है, हर पहलू से उसका होता है; समिति में वह केवल कुछ हितों के लिए अपनापन महसूस करता है। अतः अपनेपन की भावना कम होती है। न ही सामान्य, सहचरजीवन की सी एकता, रहन-सहन, खान-पान, रीति-रिवाज की एकता ही आ पाती है। जहां समाज बनने के लिए केवल एक दूसरे की उपस्थिति का ज्ञान, समानता का आभास ही पर्याप्त है, समिति के लिए एक खास या कुछ खास हितों की एकता अनिवार्य है। पर समिति की तरह समाज के नियमबद्ध व्यवहारसमूह और निश्चित कार्यकर्त्ता नहीं होते हैं।

एक संस्था, एक समाज, समुदाय या समिति की किसी सामूहिक व्यवहार प्रणाली या प्रणालियों के समूह का नाम है। किसी एक सामाजिक मांग को पूरा करने के लिए इसकी उत्पत्ति होती है। इसलिए यह इन तीनों समूहों का साधन है; पर कितनी ही बार यह स्वयं ही पवित्रता, पुरातन सत्ता की बात करके अमरत्व के स्वप्न लेती है, हालांकि यह तो स्वयं समाज, समुदाय और समिति की शिशु है। संस्थाओं के 'हम' अंग नहीं होते। समुदाय के कुछ अपने 'हम' हो सकते हैं; इसमें कुछ तो घनिष्ठता है, संस्था में इतनी भी नहीं है।

एक समुदाय के कुछ रीति-रिवाज ही होते हैं। पर एक समिति की अपनी सम्पत्ति इत्यादि भी होती हैं। संस्था आज उससे भी अधिक महत्व ले रही हैं। संस्था तो सामुदायिक या सामितिक ज़ीवन की एक छोटी इकाई है।

नस्ल (Race)

नस्ल का विचार जब मानव शास्त्रियों को आया, तो उसका आधार था प्राणिक, रक्त शुद्धि। पर ऐसी नस्लें मिल जाना, जो शताब्दियों से बिल्कुल अलग-अलग रहती हैं, जिनकी दूसरी नस्लों के रक्त से मिलावट न हुई हो, संभव नहीं है। अतः इस अर्थ में कोई नस्लें नहीं मिल सकेंगी।

पर पुरातन काल में एक ही पितामह की संतान एक ही स्थान में पली, एक ही भौगोलिक वातावरण और परिस्थिति के प्रति उसने अपने को बदला, बनाया, संतुलित किया, और इस प्रकार एक भाषा, एक संस्कृति, व्यवहार-मर्यादा का उदय हुआ। इस प्रकार प्राणिक और सांस्कृतिक दोनों कोण मिल गए, और परिणामतः एक प्राणिक सांस्कृतिक आधार पर नस्ल समझी जाने लगी। परन्तु

स्थान परिवर्तन, भ्रमण, भोजन की खोज में मारे-मारे फिरने इत्यादि कारणों ने इन संस्कृति-विशेपताओं को भी अक्षुण्ण नहीं रक्खा।

फिर भी अज्ञात का भय जो आदिम अवस्था में रहने वालों को था, उससे वे अधिक मुक्त नहीं हो पाए। प्रजनन के लिए विवाह का रूप रूढ़ि द्वारा निर्धारित करके उन्होंने कुछ मात्रा में रक्त विशुद्धि रक्खी। 'अपने ही समूह में विवाह करो' के रिवाज, और एक ही सामाजिक और प्राकृतिक वातावरण के प्रति प्रतिक्रिया के कारण एकता, धारावाहिकता पीढ़ी दर पीढ़ी चलती रही। और इसी आधार पर कुछ शारीरिक विशेपताओं और रक्तसम्बन्धी गुणों को लेकर लोग अलग-अलग नस्लों की वात कहते हैं। मजूमदार के शब्दों में "यदि मनुष्यों का कोई समूह कुछ सामान्य शारीरिक गुणों या चिन्हों के कारण दूसरे समूहों से विशिष्ट हो वह अपने सदस्यों के वहुत दूर स्थानों में विखरे होने पर भी एक नस्ल कहलाएगा। परन्तु यह नस्ली भेद ऐसे महत्वपूर्ण आनुवंशिक गुणों पर आधारित होने चाहियें, जिन पर वातावरण का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ा है।"

जो लोग संस्कृति और नस्ल को आपस में मिला देते हैं, या राष्ट्र और नस्ल को मिला देते हैं, जैसे कि आर्थर कीथ ने किया, वे प्राणिक तत्व को छोड़ कर, कृत्रिम, सामाजिक तत्व को लेते हैं; पर याद रखना होगा कि नस्ली भेद का आधार प्राणिक और शारीरिक ही है।

रेवड़ (Horde)

मनुष्यों के किसी भी समूह को रेवड़ कह दिया जाता है। इसकी कोई मान्य परिभाषा नहीं है। यह एक ढीला-ढाला संगठित सामाजिक समूह है। एक छोटा सा दल भी इस कोटि में आ सकता है, जैसा कि आस्ट्रेलिया के, और एक वहुत वड़ा समूह भी जैसा कि मध्य एशिया के, कुछ आरण्यक कवीले हैं। जिन लोगों में कुछ समानता हो या न हो, जो यों ही इकट्ठे हो जाएं, और एक स्थान पर रहें, या एक दिशा में चलते जाएं, वह रेवड़ नाम से पुकारे जा सकते हैं।

समूह (Group)

निश्चित मानस व्यवहार प्रणाली आवश्यक. कोई भी दो मनुष्य जिनमें मानसिक अंतःक्रिया या अन्तर्व्यवहार का एक निश्चित आकार या निश्चित प्रणाली विद्यमान हो, एक समूह कहला सकते हैं। ऐसे एक समूह को एक पृथक् इकाई के रूप में माना जाता है न केवल समूह के सदस्यों द्वारा वल्कि दूसरे लोगों द्वारा भी। इसे इस प्रकार की इकाई मानने का कारण इसका एक विशेप सामूहिक व्यवहार है।

सामाजिक सम्बन्धों से समूह का उदय. एक निश्चित मानसिक व्यवहार प्रणाली की स्थापना तभी होगी जब कुछ सामाजिक सम्बन्ध स्थापित होंगे और इसी को देखकर मैकाइवर ने मनुष्यों के किसी भी ऐसे समूह को जो एक दूसरे के साथ विशिष्ट सामाजिक सम्बन्ध में आ जाएं समूह कहा है। इस परिभाषा से वे समूह जो केवल गिनती और परीक्षण के लिए गिन लिए जाते हैं, जैसे स्त्री समूह या युवक समूह, समूह नहीं कहे जा सकते।

तीसरा अध्याय

प्राणिक विकास

पशु जगत् में मानव का स्थान

पशु-जीवन-श्रेणी-व्यवस्था में मनुष्य का क्या स्थान है ? पृथ्वी के इतिहास-काल में उसका क्या स्थान है ? इन प्रश्नों के उत्तर हमें मानव जाति के वहुविध सामाजिक तथ्यों को अधिक अच्छी तरह समझने में पर्याप्त सहायता प्रदान करते हैं, क्योंकि वह मनुष्य के प्राणिक शरीर की बुनियादी विशेषताओं पर प्रकाश डालते हैं। मनुष्य की शारीरिक और मानसिक विशेषताएं वह ढांचा हैं जिन पर कि उसके सामाजिक सम्बन्धों की व्यवस्था खड़ी हुई है । उसकी प्राणिक विचित्रतायें और नस्ली विभिन्नतायें उसकी आदतों, रिवाजों, परम्पराओं, आविष्कारों तथा संगठित सामाजिक जीवन को जानने में मदद पहुंचायेंगी । मनुष्य पशु जगत् का एक सदस्य है, इससे सभी सहमत हैं। यद्यपि वह पशु है फिर भी वह वहुत सी वातों में पशुओं से भिन्न है।

शारीरिक मानवशास्त्र का मुख्य कार्य प्रकृति में मनुष्य के स्थान, उसके विकास, पशुजगत् में उसकी स्थिति तथा उसकी आनुवंशिक विभिन्नताओं का अध्ययन करना है । मानवशास्त्र की कुछ खोजें इस वात पर अच्छा प्रकाश डालती हैं कि मनुष्य के अन्दर एक विशिष्ट व्यवहार क्यों विकसित हुआ तथा नस्ल और संस्कृति का क्या सम्बन्ध है,।

मनुष्य का प्राणिशास्त्रीय श्रेणी विभाजन

प्राणिशास्त्री शारीरिक वनावट की समानताओं, जिनसे कि किसी वर्ग के रक्त-सम्बन्ध प्रकट होते हैं, के आधार पर पशुओं को पृथक समूहों में विभक्त करते हैं। इस योजना में मनुष्य का स्थान वहुत कुछ निश्चित है। वर्तमान में जीवित मनुष्य की जाति (Species) होमोनिडि वंश (Hominidae) की वची जाति है। विस्तृत श्रेणी विभाजन से संकुचित श्रेणी विभाजन की ओर अग्रसर हो प्राणिशास्त्री हमें वताते हैं कि मनुष्य वहुकोषीय पशु (Metazoa), पृष्ठवंशी (Vertebrate), अर्थात् जिसके अन्दर रीढ़ की हड्डी है, स्तनन्धय (Mammals) प्रधानकवर्ग (Primates) मानवसम प्रधानक (Anthropoid Primates) और मानववर्ग का है । मानवसमों में

पुराने विश्व विभाजन के अनुसार शारीरिक दृष्टि से मनुष्य जैसे वन्दरों, गिवन औरंगुटान, शिपांजी, गौरिल्ला से घनिष्टतया सम्वद्ध हैं।

(१) प्रादिनूतन (Eocene) युग में आदि स्तनन्वयों अन्य स्तनन्वयों से इस वात में भिन्न थे कि वह पेड़ पर पंजों से चढ़ने के वजाय उसे हाथ से पकड़ते थे। उनकी अन्य विशेषताएं विशेषज्ञों के अध्ययन का विषय हैं।

(२) वन्दर विकासवाद की दूसरी अवस्था को दर्शाते हैं। इसमें इन्द्रियां दिन के समय में पेड़ों में वास के अनुकूल वन गईं। घ्राण शक्ति कम हो गई, शरीर के वाल समाप्त हो गये, दोनों आंखों से एक साथ देखने और रंग देखने की दृष्टि विकसित हुई, वाहरी कान छोटा हो गया तथा आवाज को जानने के लिए सिर को इधर-उधर घुमाना सम्भव हुआ।

(३) लंगूर अवस्था वह है जव कि हाथ के पुट्ठों में ऐसे हेर-फेर हुए जिनसे पेड़ों पर सीधा रहना शुरू हुआ। पशुओं के लम्वे हाथ, छोटा धड़ तथा आदमी जैसी उनकी आंतें भी व्यवस्थित होने लगी।

(४) मानवीय अनुकूलता में ऐसे विकासगामी परिवर्तन निहित थे जिनसे पृथ्वी पर पैर के वल खड़े होना सम्भव हुआ। कुछ वन्दर, जैसे कि वैवून, अफ्रीका के चौपाये के रूप में ही जमीन पर रहने लगे। इन परिवर्तनों में उन शारीरिक अनुकूलताओं का समावेश है जिसमें कि हमारी जाति के मुख्य गुण निहित हैं तथा जिन्होंने कि मनुष्य को जमीन पर सीधा खड़े होने में समर्थ वनाया। इसे पेड़ों पर वास करने वाले आदि स्तनपोषियों की पृष्ठभूमि में देखना जरूरी है। इस तरह मनुष्य में वहुत से मानवसम वानरमानव के लक्षण हैं, किन्तु उनके संशोधनों द्वारा वह उनसे पृथक् है।

वानरमानव में मनुष्य से सव से अधिक मिलते-जुलते विना पूंछ के लंगूर हैं, जिनके गिवन, औरंगुटान, शिपांजी और गौरिल्ला चार वर्ग हैं। इनमें से शिपांजी और गौरिल्ला मनुष्य से सवसे अधिक मिलते हैं। यद्यपि यह पशु हमें मनुष्य की हास्य विकृतियां दिखाई देते हैं, पर इनमें तथा मनुष्यों में घनिष्ठ शारीरिक सादृश्य है। इनके शरीर की हर एक हड्डी और अंग मनुष्य से मिलता है। मानवसम लंगूरों के कपाल यद्यपि छोटे और सरल होते हैं, तो भी मूलतः मनुष्य के समान होते हैं तथा उनकी मानसिक क्रियाएं चार-पाँच साल के वच्चे के समान होती हैं। उनके संवेग या उद्वेग भी मनुष्य के समान होते हैं, यहां तक कि वह मनुष्य की ही वहुत सी वीमारियों से पीड़ित होते हैं। उनके रक्त तथा मनुष्य के रक्त में सूक्ष्मतम परीक्षणों से भी भेद करना कठिन है। यहां तक कि

नारी शिपांजी और गौरिल्ला को मासिक धर्म भी होता है । वाह्यतः शिपांजी उसी जीवन चक्र से गुजरते हैं जिससे कि मनुष्य, अन्तर केवल इतना ही है कि उनके बढ़ने की गति तेज़ होती है तथा उनकी वयस कुछ कम होती है ।

लंगूर और मनुष्य के बीच यह समानताएं इस बात को सिद्ध करती हैं कि यह दोनों निकटतम सम्बन्धी हैं, फिर भी यह स्मरण रखना जरूरी है कि मनुष्य वर्तमान बन्दरों और लंगूरों का वंशज नहीं है । मनुष्य की विशिष्ट विशेपताओं के अध्ययन से हमें यह पता लगेगा कि यद्यपि मनुष्य और बन्दर में अन्य पशुओं की तुलना में सबसे अधिक समानता है, फिर भी इनमें एकवंशीय (Lineal) सम्बन्ध नहीं है । विकासवादी दृष्टि से सम्भवतः लंगूर और मनुष्य किसी समान पुरखा की ही संतान हैं । वह 'खोयी कड़ी' (Missing link) जिसको कि अभी तक वैज्ञानिक नहीं जान पाये हैं, कुछ भी हो, यह सिद्ध करती है कि लंगूर और मनुष्य के बीच यह विभिन्नता कम-से-कम कई लाख साल पहले घटी होगी । अतः वर्तमान लंगूर हमारे बहुत दूर के चचेरे भाई ठहरते हैं । फिर भी इन चचेरे भाइयों से समानता इस माने में मनोरंजक है कि यह हमें इस बात की सुविधा प्रदान करती है कि हम उन बुनियादी विभिन्नताओं को समझ सकें जो कि मनुष्य को उन कार्यों के करने के योग्य बनाती हैं, जो कि लंगूरों तथा अन्य पशुओं के बूते के बाहर हैं । यद्यपि शिपांजी और गौरिल्ला की कम से कम दो जातियां हैं, परन्तु मनुष्य की केवल एक ही जीवित जाति है । इस तरह मनुष्य के अध्ययन में हम एक ही प्राणिक वर्ग का अध्ययन कर रहे हैं जिसके कि उपवर्ग आपस में प्रजनन क्रिया सम्पन्न कर सकते हैं ।

मानव जाति की विशेपताएं

यह तथ्य कि मनुष्य एक पशु है इस बात की ओर संकेत करता है कि मानव व्यवहार उन्हीं आन्तरिक और वाह्य आवश्यकताओं द्वारा नियंत्रित है जो कि पशुओं की बनावट और संगठन पर निर्भर हैं । फिर भी मनुष्य और उसके घनिष्ठतम सम्बन्धी मानवसम लंगूर में पर्याप्त विभिन्नताएं हैं । उनमें से बनावट की कुछ प्रमुख विशेपताओं पर विचार करना आवश्यक है ।

१. बड़ा मस्तिष्क. मनुष्य की सबसे प्रमुख विशेपता उसका अत्यन्त संगठित और केन्द्रित नाड़ी संस्थान है । मस्तिष्क नाड़ी संस्थान का सबसे विकसित भाग है । पशु-जगत् में इसका चरमतम विकास मानव में हुआ है । कुल वज़न में मनुष्य का दिमाग समस्त अन्य वानरमानवों जिनका कि अपने वज़न के अनुपात में सबसे बड़ा मस्तिष्क है, से भी बड़ा है । एक पुरुष कपाल का औसत आयतन १४५० वर्ग सेन्टीमीटर और स्त्री कपाल का १३००

7 J3 760

वर्ग सेन्टीमीटर है, जब कि सबसे बड़े मानवसम लंगूर, गौरिल्ला का केवल ५०० वर्ग सेन्टीमीटर, लगभग एक तिहाई है।

मनुष्य का मस्तिष्क बड़ा ही नहीं वल्कि बहुत जटिल भी है। वृहत् मस्तिष्क (Cerebrum) जो कि उच्च मानसिक प्रक्रियाओं का संचालक है, अन्य पशुओं से अधिक विकसित होता है। वृहत् मस्तिष्क करोटि (Cortey) या सतह अधिक लिपटी हुई तथा अन्य पशुओं की तुलना में अधिक बड़ी होती है। यह अनुमान लगाया गया है कि मानव वृहत् मस्तिष्क करोटि में कम-से-कम १० अरब नाड़ियों के छोर जुड़े हुए हैं, जिनके अन्तःसम्बन्धों से अनन्त प्रकार की व्यवहार-प्रतिक्रियायें संभव हैं।

२. सीधे खड़ा होना. मनुष्य की दूसरी प्रमुख विशेषता यह है कि यह सीधे अपने पैरों पर खड़ा हो सकता है। मनुष्य के सीधे खड़े होने ने उसके दोनों हाथों को शरीर का भार संभालने से छुट्टी दे दी है। इससे केवल श्रम की ही बचत नहीं हुई, प्रत्युत इससे बाहुओं को विभिन्न प्रकार के कार्य करने तथा वातावरण को अपने अनुकूल बनाने की छूट मिल गई। चतुष्पद पशुओं को अपने निकटवर्ती वस्तुओं को खुरच, सूंघ, चख अथवा काट कर मलिन और सीमित प्रकार से ढूंढना पड़ता है, जब कि मनुष्य उन्हें हाथ में उठा कर उनकी समुचित परीक्षा कर सकता है। बड़े लंगूर भी स्वभावतः दो पैरों पर नहीं चलते, ज़मीन पर चलते समय वह अपने दोनों हाथों का सहारा लेते हैं। दो महत्वपूर्ण शारीरिक परिवर्तनों ने मनुष्य को सीधा खड़े होने में समर्थ बनाया है।

(क) मनुष्य का पैर भारवहन करने के एक विशिष्ट और स्थिर अंग के रूप में विकसित हो गया है। मनुष्य के पैर में पकड़ने की शक्ति जो कि वानर-मानव के पैरों का प्रमुख लक्षण है, समाप्त हो गई। टखने की हड्डियों ने एक चपटा फैला रूप धारण कर लिया है; बड़ी उंगली के पोर छोटी उंगलियों से मिल गये हैं; एड़ी की हड्डी लम्बी हो गई तथा पैर का कटाव बढ़ गया है। इन सब विशेषताओं ने मनुष्य को ज़मीन पर सीधा खड़े होने में समर्थ बनाया। इसके विपरीत लंगूरों के हाथ जैसे पैर पेड़ों के जीवन के तो अनुकूल थे पर ज़मीन पर सीधा खड़े होने के लिए सर्वथा अनुपयुक्त थे। यही कारण है कि जब शिपांजी या गोरिल्ला ज़मीन पर चलते हैं तो उनकी चाल आदमी से नहीं मिलतीं।

(ख) सीधे खड़े होने को संभव बनाने में दूसरा विकास रीढ़ की हड्डी का अंग्रेज़ी अक्षर S की आकृति वाला झुकाव है जो कि अन्य पशुओं में नहीं

पाया जाता । इसके अतिरिक्त श्रोणिका (Pelvis) के परिवर्तनों ने पैरों को लम्बा तथा खड़ी दशा में शरीर के भार को वहन करने की सामर्थ्य उत्पन्न की। मनुष्य की रीढ़ की हड्डी (Vertebral column) एक ओर से देखने में S वक्ररेखा की भांति दिखाई देती है जिसके दो झुकाव (curves) आगे की ओर और दो पीछे की ओर हैं। अग्रगामी झुकाव शरीर के वजन को बांटने तथा संतुलन को कायम रखने में योग देता है। लंगूरों के पास इस प्रकार के झुकावों के अभाव में ऐसी कोई शारीरिक प्रणाली नहीं जिससे कि वह धड़ के भार को पैरों के गुरुत्वाकर्षण केन्द्र पर संभाल सकें। इसके लिए उन्हें पेशियों पर ज़ोर देना पड़ता है। मनुष्य बिना पेशियों पर ज़ोर दिये ऐसा कर सकता है।

३. **हाथों का अधिक लचकीलापन.** अन्य वानर-मानवों की भांति मनुष्य को पकड़ने के लिए हाथ प्राप्त हैं, किन्तु अन्तर इतना ही है कि मनुष्य में इनका लचकीलापन बहुत विकसित है। हम अपने अंगूठों की भीतरी तह को सब उंगलियों की तह से मिला सकते हैं। इसके अतिरिक्त, अंगूठे और उंगलियां अपेक्षाकृत लम्बाई में बढ़ गई हैं तथा हाथ का शारीरिक गठन इतना सुन्दर है जैसा कि किसी भी वानरसम मानव में नहीं पाया जाता।

४. **संभाषण योग्यता.** मनुष्य का अन्य महत्वपूर्ण लक्षण उसकी स्पष्टतः बोलने की योग्यता है। शारीरिक दृष्टि से यह योग्यता वाह्यतः सीधी देह और वृहत् मस्तिष्क से सम्बद्ध परिवर्तनों का परिणाम है। अन्वेषण और कार्य के लिए मुक्त हाथों ने मानव प्राणी के लिए लम्बी बाहर निकली थूथनी की आवश्यकता को समाप्त कर दिया। इसीलिए मनुष्य के जबड़े बड़े लंगूरों की तुलना में अपेक्षाकृत छोटे और कम बाहर निकले हैं। लंगूरों में वृहत् निचला जबड़ा सामने के दांतों के नीचे एक हड्डी की तह से संरक्षित होता है, जिसे कि वन-नर पट्टिका (Semian plate) कहते हैं, जो कि जीभ का स्वाधीनतापूर्वक इधर-उधर घुमाने-फिराने में सबसे बड़ी बाधक है। मनुष्य में यह बाधा नहीं है, जीभ सरलता से मुंह के अन्दर घूमती है। इसके अतिरिक्त, मनुष्य का बड़ा मस्तिष्क लंगूरों की तुलना में बड़े कपाल में आवेष्टित है। निचला जबड़ा ठीक कानों के छेदों के नीचे कपाल के साथ सीधा जुड़ा हुआ है। अपेक्षाकृत चौड़े कपाल का अर्थ निचले जबड़े की हड्डी का चौड़ा होना है। मनुष्य में निचले जबड़े को यदि ऊपर से देखा जाय तो उसके दोनों पार्श्व (Side) V की भांति दिखाई देते हैं, लंगूरों में जबड़े के दोनों पार्श्व बहुत कुछ समानान्तर U जैसे दिखाई देते हैं। ये समस्त शारीरिक विशेषताएं

मनुष्य की आवाज़ निकालने की योग्यता में याग देती है। पर वास्तव में बोली विचारों के प्रतीकों का एक समूह मात्र है। बिना अति विकसित नाड़ीयन्त्र और मस्तिष्क के मनुष्य का असाधारण वाक्यन्त्र विशेष काम न आता। यह तथ्य इससे पुष्ट होता है कि मूर्ख मानव (Idiots) स्पष्ट बोलने में असमर्थ होते हैं। उनके मुंह और गले सामान्य होते हैं, किन्तु मस्तिष्क और नाड़ी यंत्र अपूर्ण होता है। यह संभव है कि एक शिपांजी स्पष्टतः, यद्यपि कुछ मोटी आवाज में, मानव बोली की सब ध्वनियों को निकाल सके, किन्तु यह लगभग निश्चित है कि मस्तिष्क के अपूर्ण विकास के कारण यह असंभव है। मानव बोली श्रवण प्रभावों और वाक् अभिव्यक्ति के बीच सुन्दर समन्वय चाहती है; सबसे अधिक यह विचार चाहती है। बावजूद इसके कि मनुष्य जो बात करता है उसका बौद्धिक महत्व कम है, पर उसका समाजशास्त्रीय महत्व अत्यन्त अधिक है, चूंकि बोली द्वारा संभव बनाये गये व्यक्तियों के बीच अन्तःसंवाद द्वारा ही सामाजिक जीवन से सम्बद्ध व्यवहार का बड़ा अंश क्रियान्वित होता है।

अन्य विशेषताएं. उपर्युक्त मुख्य विशेषताओं के अतिरिक्त मनुष्य में निम्न गौण विशेषताएं हैं। मानव शरीर पर सापेक्षतया बाल नहीं हैं। प्राकृतिक आवरण का अभाव और शारीरिक प्रक्रिया उसके शरीर की बहुत सी गर्मी को नष्ट कर देते हैं, परिणामतः उसे ठंडे प्रदेशों में रहने के लिए कृत्रिम आवरण की जरूरत पड़ती है। मनुष्य के पास अन्य स्तनंधयों की भांति शिकार योग्य दांत नहीं होते, इसकी क्षतिपूर्ति वह सुरक्षा के कृत्रिम साधनों के आविष्कार से करता है। इसके अतिरिक्त मनुष्य की नाक का उठा हुआ सेतु तथा मांसल छोर, ऊपर के होठ के बीच का गड्ढा, नीचे के होंठ की झिल्ली तक उसका विस्तार, तथा बाहर निकली ठोड़ी, उसे अन्य वानरों से पृथक करती है। यद्यपि ऐसा कहा जाता है कि कुछ वानरों में पर्याप्त ऊंची नाक और ठोड़ियां पाई जाती हैं।

इस सम्बन्ध में मनुष्य की कुछ विशिष्ट शरीर-क्रियात्मक विशेषताओं जिनका कि सामाजिक जीवन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है, की ओर भी संकेत करना आवश्यक है। अन्य समस्त नरवानरों की तुलना में मनुष्य का शैशवकाल सबसे दीर्घ होता है, वह उस समय सबसे अधिक असहाय तथा दूसरे व्यक्तियों की देखरेख पर अवलम्बित होता है। इन तथ्यों का मानव-परिवार और सामाजिक जीवन पर विशिष्ट प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त मनुष्य नाना प्रकार के पदार्थ, मांस, अनाज, घास, फल, फूल इत्यादि खाकर जीवित रह सकता है। उसे

किसी वस्तु के प्रति सहज घृणा नहीं है, इसलिए उसे कुछ भी खाने-पीने के लिए अभ्यस्त किया जा सकता है।

सृष्टि में मनुष्य का आगमन और विकास

तुलनात्मक दृष्टि से पृथ्वी पर मेधावी मानव (Homo sapiens) का अवतरण पर्याप्त बाद की घटना है। पृथ्वी की पृष्ठभूमि में मनुष्य का संक्षिप्त अध्ययन हमें उसकी वर्तमान अवस्था और व्यवहार को समझने में सहायता प्रदान कर सकता है।

पृथ्वी का इतिहास. भूगर्भशास्त्रियों ने पृथ्वी के इतिहास को विभिन्न युगों और उपयुगों में बांटा है। पृथ्वी की आयु आंकने के लगभग चालीस तरीके उन्हें ज्ञात हैं और उनके द्वारा प्रयुक्त किये गये हैं, जिससे सालों में उनके हिसाब में कुछ अन्तर पड़ता है। फिर भी विभिन्न युगों की सापेक्ष आयु और सापेक्ष तिथियों के बारे में प्रायः विभिन्न तरीके प्रयुक्त करने वाले सभी अन्वेषक एकमत हैं। पृथ्वी की आयु पता लगाने का स्वभावतः सबसे उपयोगी तरीका रेडियो एक्टिविटी के अध्ययन पर आधारित है। इस साक्षी के अनुसार पृथ्वी की आयु २,०००,०००,००० वर्ष ठहरती है। अन्य साक्षियों पर आधारित अल्पतम अनुमान १,०००,०००,००० वर्ष है। दोनों ही अनुमानों के अनुसार लगभग ३० प्रतिशत समय आदिजीवीय-काल (Archeozoic era), को, वह काल, जिसमें कि हमें कोई भी जीवित शरीर नहीं मिलते, पर जिसमें स्वभावतः एककोशीय जीवन (Unicellar life) का विकास हुआ हो, दिया गया है। अगला काल, सुपुराजीवीय काल (Proterozoic) था, जिसमें अपृष्ठवंशी जीव (Invertebrate life), घोंघे, कीड़े, इत्यादि प्रकट हुए, पृथ्वी की आयु का लगभग २० प्रतिशत भाग घेरता है। तीसरा काल पुराजीवीय या प्राथमिक (Paleozoic or Primary) काल है, जिसमें पृष्ठवंशी (Vertebrate) मछलियां, ग्राह तथा अस्थिमत्स्य उभयचर (Amphibians) और सरीसृप (Reptiles) विकसित हुए, पृथ्वी की आयु के लगभग अन्य ३० प्रतिशत भाग को यह काल घेरता है। चौथा काल मध्यजीवीय या द्वितीयक (Mesozoic or Secondary) या सरीसृप युग कहलाता है, जो लगभग ११ प्रतिशत भाग घेरता है। इस युग में वायवीय तथा पार्थिव सरीसृप और जलचारी विकसित हुए, इसी युग में प्रथम चिड़ियां और आदिकालीन छोटे स्तनन्धय (Mammals) भी प्रकट हुए।

परवर्ती युग को नूतन जीवन (Cenazoic) आधुनिक जीवन या स्तनन्धय युग कहते हैं। इसे छः कालों में बांटा गया है। यह अनुमान कया।

जाता है कि यह ६ करोड़ वर्ष पूर्व शुरू हुआ। इसमें सबसे पहला काल प्रादि-नूतन (Eocene) कहा जाता है, जिसमें जेर वाले (Lutherian or Placental) स्तनन्धय, पहले नर-वानर और कीटभोजी (Insectivora) प्रकट हुए। दूसरा काल, आदि नूतन (Oligocene) था, जिसमें पहले छोटे मानव सदृश वानर, (Anthropoid apes) वर्तमान स्तनन्धयों के अग्रगामियों का आगमन हुआ। तीसरा काल मध्यनूतन (Miocene) था, जो कि दो से चार करोड़ वर्ष पहले शुरू हुआ, जिसमें वर्तमान महापुच्छहीन वानरों के सामान्य पूर्वज तथा सम्भवतः अब तक न खोजे गये भूमिवासी दो पैर वाले मानव सदृश रूप प्रकट हुए। चौथा काल, अतिनूतन (Pliocene) है; यदि हम वर्तमान अनुमान सही मानें, तो यह लगभग दस लाख से बीस लाख वर्ष पूर्व समाप्त हो गया। पांचवें काल प्रतिनूतन या हिम युग (Pleistocene or Glacial Epoch) ने उत्तरी गोलार्ध को चार हिम खंडों से ढकते-बढ़ते देखा। इसी काल से हमें मानव सदृश जीवों के सर्व प्रथम अवशेष प्राप्त होते हैं।

प्रतिनूतन या हिमयुग में मनुष्य मनुष्य के रूप में प्रकट और विकसित हुआ। अभी तक प्राप्त ज्ञान के आधार पर हम इतना कह सकते हैं कि प्रतिनूतन युग के समाप्त होने से पहले पृथ्वी पर तीन प्रकार के मुख्य मानव वर्ग पैदा हुए, जिनमें से आधुनिक मनुष्य को छोड़ आज कोई भी जीवित नहीं मिलता। (१) प्रथम वर्ग में भी तीन प्रकार के वानर-मानव थे जो कि दक्षिणी अफ्रीका में रहते थे। इन प्राणियों के सापेक्षतया छोटे मस्तिष्क थे और निश्चय ही यह आधुनिक मनुष्य की तरह न थे। फिर भी यह वानरों से मानव की दिशा में काफी आगे बढ़ चुके थे, दो पैरों पर चलने तथा ज़मीन पर रहने लगे थे। (२) दूसरे वर्ग को हम प्राचीन मानव कह सकते हैं। यह विश्व के विभिन्न भागों में प्रकट हुए और यह मानव की विभिन्न नस्लों के थे। जावा के वानरमानव और उनके साथी, पेकिंग के पास प्राप्त चीनी मानव, दक्षिणी इंग्लैण्ड के पिल्ट डाउन स्थान से मिले उपा मानव, तथा पश्चिमी योरोप, निकटपूर्व और मध्य रूस में बिखरे नीनडरथल घाटी की खुदाई में प्राप्त नीनडरथल मानव (Neanderthal) के अवशेष इसी श्रेणी में आते हैं। इस बात की पर्याप्त साक्षी उपलब्ध है कि जहां-जहां नीनडरथल और वर्तमान मनुष्य सम्पर्क में आये उन्होंने आपस में सन्तानोत्पत्ति की। प्रतिनूतन या हिम-युग के अन्तिम चरण में फिलस्तीन में विशेष रूप से कार्मेल पर्वत के निकट ऐसा ही हुआ। (३) तीसरे वर्ग में आधुनिक मानव का समावेश है जो अपने

वर्तमान रूप में आज से २५,००० साल पहले पश्चिमी योरोप और भूमध्य-सागरीय प्रदेश में अवतरित हुआ। योरोप में आधुनिक मानव के प्रारम्भिकतम रूप क्रोमायोंग स्थान में प्राप्त क्रोमायोंग-मानव (Cro-magnon) थे। वह कहां से आये, वह किनके वंशज थे, यह अभी तक स्पष्ट नहीं हुआ है। उनके आगमन से उनसे पहले के नीनडरथल तथा अन्य पूर्वरूप लुप्त हो गये। तब से आज तक समस्त पृथ्वी पर आधुनिक मानव का ही आधिपत्य और विस्तार है।

अतिनूतन के आखिरी समय से हमें मनुष्य की प्रारम्भिकतम संस्कृति के अवशेष मिलते हैं। यह पत्थर के औजार हैं या वह चूल्हे हैं जहाँ आग जलायी जाती थी। वानर मानव (Pithecanthropus) भी दो पैरों पर खड़े होते, थे, बोल सकते थे तथा छोटे-छोटे सामाजिक समूहों में रहते थे। प्रतिनूतन या हिमयुग में रहने वाले नीनडरथल मानवों की पत्थरों और हड्डियों के औजारों की संस्कृति, जो कि भूमध्य-सागर तथा स्वभावतः एशिया में विस्तृत थी, पर्याप्त उन्नत थी।

यह एक मजे की बात है कि पश्चिमी गोलार्ध में मेधावी मानव को छोड़ अन्य किसी पूर्व मानवसम रूप के दर्शन नहीं होते और यह मेधावी मानव भी यहाँ पर हिमयुग के अन्तिम चरण में अवतरित हुए।

प्रतिनूतन युग के पश्चात् सर्वनूतन (Holocene) या आधुनिक युग का प्रारम्भ हुआ जो कि २५,००० साल पहले शुरू हुआ। स्वभावतः १०,००० ई० पूर्व तक कुछ मानव समुदायों ने पशु पालना, कृषि करना और शहरों में रहना सीख लिया। निःसंदेह १०,००० और ५,००० ई० पूर्व, नव पाषाण युग (Neolithic Age) के विकसित समय में जीवन और कला के क्षेत्र में पर्याप्त उन्नति हुई। ५००० ई० पूर्व तक मिश्र और मेसोपोटामिया में सुमेरिया, मोहन्जोदडो और मेक्सिको में पर्याप्त उच्च श्रेणी की संस्कृतियों की स्थापना हुई और इसी समय से लिखित इतिहास का प्रारम्भ हुआ।

मनुष्य का समाजशास्त्रीय पहलू. एक पशु की हैसियत से मनुष्य को पशुओं की तुलना में अनेक असुविधाएं हैं। यह सत्य है कि वह अपनी बुद्धि के बल पर कृत्रिम साधनों के आविष्कार द्वारा उन पर विजय प्राप्त कर चुका है इसी लिए उसे पशुओं के राजा की उपाधि दी जाती है। मनुष्य का शरीर सापेक्षतया लघु और दुर्बल है। उसका दो पैरों पर चलना उसके चलने की रफ्तार को कम कर देता है, उसके शरीर पर बालों या कांटों का अभाव उसकी असुरक्षा और उसका सीधा खड़ा होना उसके प्रजनन अंगों की क्षति की सम्भावना को बढ़ाता है। असहाय अवस्था में उसका जन्म होता है और उसे

अपने पैरों पर खड़ा होने के लिये दूसरों द्वारा दीर्घ लालन-पालन की आवश्यकता पड़ती है। जन्म के समय उसे कुछ भी ज्ञान नहीं होता, लम्बे श्रम और शिक्षा द्वारा ही वह अपने को वातावरण के अनुकूल बना पाता है। मनुष्य को यदि केवल पशु माना जाय तो वह अति क्षुद्र और अकिंचन है। किन्तु मनुष्य के पास मस्तिष्क है, सीखने की क्षमता है, कुशल हाथ हैं, सीधे खड़े होने की शक्ति है, बोलने की विशेषता है, और इस तरह एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को, वर्तमान संतति से भावी संतति को ज्ञान संक्रमित करने की सामर्थ्य है। इसी से हम इस बात का अनुमान कर सकते हैं कि क्यों मनुष्य के लिए सामाजिक जीवन इतना महत्वपूर्ण है। एक व्यक्ति रूप में दुर्बल होते हुए भी वह सामूहिक रूप में सबल हो जाता है। अज्ञानी जन्मते हुए भी, सीखने की असीम योग्यता होने के कारण, वह हजारों जीवनकालों के अनुभव अपने साथियों से कुछ सालों में ही सीख जाता है। अन्ततः मनुष्य सर्वाधिक अनुकूलनीय पशु है। उसने अपने प्राणिक विशिष्टीकरण के संकीर्ण बन्धन तोड़ दिये हैं; वह अपनी सहज प्रवृत्तियों द्वारा किसी विशेष वातावरण से बंधा नहीं है। मनुष्य अपनी सीखने की योग्यता के कारण विश्व के समस्त क्षेत्रों में फैला हुआ है।

मनुष्य आनुवंशिक सहज प्रेरणा का दास न होकर अपनी सीखी प्रतिक्रियाओं से रहता है। यह सीखा व्यवहार जन्म के साथ नहीं आता वरन् बाद में ग्रहण किया जाता है। इसी सीखे व्यवहार को, जो कि किसी मानवीय वर्ग में समान होता है, हम संस्कृति कहते हैं। संस्कृति में मनुष्य के समस्त आन्तरिक और समस्त बाह्य व्यवहार, जो कि समूह के सदस्य जन्म के बाद सीखते हैं, समाविष्ट हैं। इस तरह मनुष्य पशुओं में अनुपम है, क्योंकि उसके व्यवहार का प्रमुख अंश सांस्कृतिक है।

चौथा अध्याय

मनुष्य की नस्लें

आज भी संसार में ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो कि नस्ल को किसी समाज की स्थिति, संस्कृति, सभ्यता का मापदण्ड मानते हैं। हिटलर का आर्य जाति का सिद्धांत इसका अच्छा उदाहरण है। यद्यपि युद्ध में तथाकथित श्रेष्ठ आर्य जर्मन नस्ल की हार हो चुकी है, तथापि ऐसी विचारधाराओं के समर्थक अभी भी बहुत देशों में जीवित हैं। दक्षिण अफ्रीका में मलान सरकार की नस्ल नीति श्वेत नस्ल की श्रेष्ठता की घोषणा कर रही है। अमरीका में नीग्रो के साथ भेद-भाव और उनके प्रति उपेक्षा और घृणा में यही बड़ा कारण है। नस्ली श्रेष्ठता का यह सिद्धांत कहां तक वैज्ञानिक है और कहां तक राजनैतिक स्वार्थों पर आधारित है,-इसका अध्ययन समाजशास्त्रीय दृष्टि से परम आवश्यक है।

आर्यवाद १९ वीं सदी के भाषाशास्त्रियों की देन था। वेस्क, मेगयर और फिन्नी भाषा को छोड़कर योरोप की समस्त भाषाएं संस्कृत से सम्बद्ध हैं। अतः इस एक भाषा परिवार के लोगों को आर्य परिवार का नाम दिया गया। साथ ही भारत, मध्यपूर्व और योरोप की उन्नत संस्कृतियों को देखकर यह परि-णाम निकाला गया कि आर्य रक्त उच्च संस्कृति के लिए पहली शर्त है।

नार्डिसिज्म इसी सिद्धांत की एक शाखा थी जिसके अनुसार लम्बे, श्वेत-वर्ण, लम्बे सिर वाले उत्तरी योरोप में बिखरे लोग असली आर्य थे, यद्यपि इस सिद्धांत के समर्थकों ने पूरे के पूरे राष्ट्रों को नार्डिक ठहराया। परिणामतः, नार्डिक नस्ल के विशुद्ध रखने की चिन्ता उत्पन्न हुई और गैरनार्डिकों से रक्त-मिश्रण के विरुद्ध आवाज बुलन्द हुई। नात्सी जर्मनी में नार्डिसिज्म ने ट्यूट-निजम, इंग्लैण्ड में एंग्लो-सैक्सनिजम और फ्रांस में गालिसिज्म का रूप धारण किया। हिटलर ने घोषणा की—"नस्लों की असमानता राष्ट्रों के भाग्यों को समझाने में समर्थ है। सभ्यता और संस्कृति एकांततः श्रेष्ठ नस्लों द्वारा सृजित हैं और प्रत्येक प्रकार की संस्कृति केवल नस्ली गुणों की अभिव्यक्ति मात्र है।"

नस्ली सिद्धान्त की भूलें : उपर्युक्त सिद्धांतो की दो बुनियादी भूलें हैं। पहली तो नस्ल (जो कि प्राणिक आनुवंशिकता की द्योतक है) को राष्ट्र या संस्कृति से मिला देना है। उदाहरण के लिए यह सिद्धान्त यह मान लेता

है कि आर्य भापा भाषी आर्य रक्त के हैं। वास्तव में भाषा का रक्त से कोई अविच्छिन्न सम्बन्ध नहीं है। भापा संस्कृति का अंग है उसका सम्बन्ध नस्ल से न होकर सीखने से है। अमरीका के सवा करोड़ नीग्रो द्वारा अंग्रेजी भाषा का प्रयोग इसी बात को सिद्ध करता है। और फिर यदि जर्मन जाति ही सभ्यता की सामर्थ्य रखती है, तो क्यों रोमन लोगों के आक्रमण से दो हज़ार वर्ष पहले वह जंगलियों की भांति रहती थी? इतिहास इस बात का साक्षी है कि अनेक उन जातियों ने महान संस्कृतियों की स्थापना की जिनका कि आर्य जाति तथा उसके तथाकथित गुणों से कोई सम्बन्ध न था। उदाहरण के लिए मिश्र, मेसोपोटामिया, चीन, द्रविड़ भारत, कम्बोडिया और यूकतान माया की उन्नत संस्कृतियां अनार्य भाषा-भाषियों की ही कृतियां थीं।

इन सिद्धान्तों की दूसरी मुख्य भूल वर्तमान योरोप की जनसंख्या की बनावट के बारे में है। यदि यह भी मान लिया जाय कि नार्डिकों में सभ्यता के लिए कोई असाधारण प्रवृत्ति विद्यमान है, योरोप भर में कोई नार्डिक नस्ल मौजूद नहीं हैं। संसार के समस्त भागों में ही विभिन्न नस्लों का रक्त मिश्रण हुआ। योरोप में तो यह प्रक्रिया बड़े रूप में हुई। अतः यह बड़े मजे की बात है कि नस्ली विशुद्धता की आवाज़ वहां से उठायी जाती है, जहां वह सबसे कम है। इस तरह हम देखते हैं कि नस्ली सिद्धांतों का ताथ्यिक आधार बहुत ही लचर है।

नस्लों की परिभाषा, जन्म और श्रेणी विभाजन

नस्ल की प्राणिक परिभाषा. प्राणिशास्त्र में उस पशु वर्ग के लिए जाति (Species) शब्द का व्यवहार होता है, जिनकी शारीरिक रचना समान होती है जिनके प्रजनन (Genetic) तत्व इस भांति संगठित होते हैं कि वह आपस में प्राणिक दृष्टि से स्वस्थ संतानोत्पत्ति कर सकें। इस कसौटी पर इस पृथ्वी पर वास करनेवाले समस्त मनुष्य एक ही जाति के हैं। बावजूद बाह्य आकृति के परिवर्तनों के, एक अफ्रीकी पिग्मी, एक चीनी, एक फ्रांसीसी और एक भारतीय सभी एक दूसरे से अन्तःप्रजनन कर सकते हैं।

फिर भी मानव जाति में प्रजनन-परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं। हम मानव वर्गों को वाहकाण (Genes) या आनुवंशिक गुणों के आधार पर नस्लों में बांट सकते हैं। इस तरह नस्ल की आधुनिक कल्पना प्रजननशास्त्र (Geneties) पर आधारित है और प्राणिक प्रकार के कठोर आनुवंशिक माप-दण्ड से सम्बद्ध है।

यह सर्वविदित है कि वंशानुगत (Inherited) शारीरिक गुण

स्त्री बीज और पुम्बीज द्वारा नियन्त्रित होते हैं । प्रत्येक शरीर में हजारों वाहकाणु होते हैं जिनसे कि संतान की शरीर रचना प्रभावित होती है । वाह्य आकृति रूप (Phenotypes) की आनुवंशिकता के अन्तर्गत समस्त प्रजनन कारणों का अभी तक सही-सही विश्लेषण नहीं हो सका है, फिर भी प्रजननात्मक दृष्टि से अनेक गुणों को जाना जा चुका है। मानवीय नस्लों के सम्बन्ध में सर्वोत्तम तथ्य रक्त वर्गों (Blood groups) के अध्ययन से प्राप्त होते हैं। इन तथ्यों के प्रजनन गुण सरलतया जाने जाते हैं। विभिन्न भौगोलिक वर्गों में फैली मानव जाति के वाहकाणुओं के विभाजन में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है।

इस भांति हम नस्लों को मानव जाति के वह वर्ग मान सकते हैं जिनमें एक सीमा तक प्रजनन रूप (Genotypes) की समानता है, जो कि उन्हें अन्य वर्गों से पृथक् करती है। उस प्रजनन समानता के कारण, किसी नस्ली वर्ग के सदस्य प्रयः, अन्य वर्गों के विपरीत, एक दूसरे के अधिक समान नज़र आते हैं ।

ऐसा अनुमान किया जाता है कि मनुष्य के वर्णसूत्रों (Chromosomes) में स्वभावतः साठ हजार वाहकाणु हैं, जिसमें से प्रत्येक की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है, और उनमें से सब ही में अन्तःपरिवर्तन (Mutation) प्रजननात्मक परिवर्तन हो सकता है । इस भांति प्रजनन तत्वों के नाना मिश्रण उपस्थित हो सकते ह, और इसीलिए यह कोई आश्चर्य नहीं कि कोई मनुष्य दूसरे मनुष्य से हूबहू नहीं मिलता, विशेपकर जव कि हम यह जानते हैं कि प्रजननात्मक विशेपतायें वातावरण की स्थिति से भी पर्याप्त प्रभावित होती हैं ।

नस्लों का उदय

नस्लें कैसे बनीं, यह एक महत्वपूर्ण और मनोरंजक प्रश्न है । प्राणि-शास्त्रियों के अनुसार : (१) अन्तःपरिवर्तन, (२) चुनाव, (३) पृथक्करण इसके तीन कारण हैं ।

१. अन्तःपरिवर्तन. नव प्रजनन विशेपताएं एक प्रकार से एक स्वाभाविक परिवर्तन का परिणाम होती हैं जो कि वाहकाणु या वाहकाणुवर्ग में घटित होते हैं। इस प्रक्रिया के कारक कारणों को अभी तक भली-भांति नहीं समझा जा सका है, फिर भी पशुओं और पौधों पर परीक्षण कर इसे प्रदर्शित किया जा चुका है । स्वभावतः नीग्रोयडों की काली खाल को नियंत्रित करने वाले वाहकाणु मनुष्य जाति में अन्तःपरिवर्तन से ही उत्पन्न हुए हैं ।

२. चुनाव. आया एक वाहकाणु में स्त्री बीज और पुम्बीज रहता

है कि नहीं चुनाव पर निर्भर करता है। यदि यह आगत विशेषता है, या उसके रहने में कोई मुख्य बाधा नहीं है, वह प्रायः रहती है; यदि नहीं, तो इसके वाहक एक समय में स्वयं ही नष्ट हो जाते हैं। चुनाव भी दो प्रकार का होता है : (क) प्राकृतिक, (ख) कृत्रिम। प्राकृतिक वातावरण में तथाकथित जीवन के लिए संघर्ष जनता की विशेषताओं पर एक प्राकृतिक प्रभाव छोड़ता है, जब कि कृत्रिम रूप से नियन्त्रित अन्तःप्रजनन अथवा संस्कृति द्वारा विभिन्न वर्गों में प्रजनन का नियन्त्रण कृत्रिम चुनाव का परिणाम होता है।

३. पृथक्करण. एक बार 'चुने जाने' का एक सम्भावित परिणाम प्रजनन विशुद्धता की चिन्ता का उत्पन्न होना है, जो कि केवल पृथक्करण द्वारा ही सम्भव है, जिसका परिणाम प्रजनन तत्वों का दूसरे प्रजनन तत्वों से मिश्रण को रोकना है। पुनः यह पृथक्करण भी दो प्रकार का होता है—(क) प्राकृतिक, प्रायः भौगोलिक और (ख) कृत्रिम। कृत्रिम पृथक्करण में मनुष्यों द्वारा खड़ी की गई उन दीवारों का समावेश है जो कि प्रजननात्मक दृष्टि से परिभाषित वर्गों में अन्तःप्रजनन को रोकती हैं। अन्तर्नस्ली विवाहों का निषेध इसका मुख्य उदाहरण है। बावजूद इसके भौगोलिक पृथक्करण आज की मानव जाति की नस्लों का मुख्य कारण है। जब कि मनुष्य भौगोलिक दृष्टि से अतिदूर स्थित हों उनके लिए अन्तःजनन सम्भव नहीं है।

संसार की प्रधान नस्लें और उनके क्षेत्र. हम देखते हैं कि आधुनिक युग के प्रारम्भ से ही संसार की प्रधान नस्लें विशिष्ट क्षेत्रों में केन्द्रित हो गई हैं। मंगोल नस्ल (Mongoloids) एशिया और पश्चिमी गोलार्ध के अधिक भाग पर छाई हुई है; नीग्रो नस्ल (Negroids) अफ्रीका के रेगिस्तान के दक्षिणी भाग और मैलेनेशिया और दक्षिणी-पश्चिमी प्रशान्त सागर के द्वीपों पर फैली हुई है; काकेशियन या श्वेत नस्ल (Caucasoids) भूमध्य सागर के किनारे से लेकर उत्तरी अफ्रीका, पश्चिमी रूस और उत्तरी भारत तक अवस्थित है; आग्नेय नस्ल (Australoids) आस्ट्रेलिया महाद्वीप में केन्द्रित है।

नस्लों का अन्तर्मिश्रण

निष्क्रमण मुख्य कारण. सृष्टि के प्रारम्भ से ही मनुष्य एक घुमक्कड़ रहा है। उत्तम शिकारगाहों और हरे चरागाहों की खोज में वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते रहे। स्वभावतः अन्ततोगत्वा वह बिना बसे स्थानों में जाकर बस गये और इस तरह अपने साथियों से बिछुड़ गये तथा एक पृथक् नस्ल और उपनस्लों के रूप में विकसित हो गये। पर जैसे-जैसे पृथ्वी की जनसंख्या तथा बसे हुए प्रदेशों का क्षेत्रफल बढ़ा, निष्क्रमण ने पृथक् वर्गों के बीच

सम्पर्क स्थापित किया। भौगोलिक पृथक्करण इस तरह समाप्त हो चला। यह सम्पर्क चाहे मैत्रीपूर्ण रहा चाहे शत्रुतापूर्ण, इसका अन्तिम परिणाम किसी न किसी प्रकार का अन्तःप्रजनन ही हुआ। इस तरह पृथक् रूपों (Types) की "विशुद्धता" बहुत कुछ नष्ट होने लगी और अधिकाधिक व्यक्ति विभिन्न जातीय प्रजनन शरीर धारण करने लगे।

अन्तर्मिश्रण का परिणाम बुरा नहीं. यहां पर हम अन्तर्मिश्रण के परिणामों की विवेचना करने नहीं बैठे हैं, फिर भी इतना कहना अनुपयुक्त न होगा कि इस बात की कोई वैज्ञानिक साक्षी नहीं है कि सामान्य अवस्थाओं में नस्लों का अन्तर्मिश्रण किसी भांति के प्राणिक 'पतन' (Degeneration) को जन्म देता है। यह मिलन या मिश्रण अवश्य प्रकारों की विशुद्धता को नष्ट करता है; और यदि यह अन्तर्मिश्रण चलता रहे तो भावी पीढ़ियां अधिकाधिक विभिन्न जातीय और अपने पितामहों की असल प्रतिलिपियां तैयार करने में असमर्थ रहेंगी।

कोई नस्ल आज विशुद्ध नहीं. यह जानते हुए कि हजारों वर्षों से जारी अन्तर्मिश्रण की इस प्रक्रिया को आधुनिक यात्राओं और सम्पर्कों ने बहुत गति प्रदान की है, हम विशेषज्ञों को यह कहते सुनते हैं कि सामान्य बोलचाल की भाषा में आज कोई भी नस्ल विशुद्ध नहीं है। यद्यपि आज भी मानव प्राणियों के बड़े समूह—मुख्य नस्लों को—बाह्य आकृति रूपेण और प्रजनन रूपेण पृथक पहचाना जा सकता है, फिर भी वह विभिन्न प्रकारों के विस्तृत अन्तरों को स्पष्ट करते हैं, जो कि सीमा पर एक दूसरे में विलीन हो जाते हैं।

नस्ल का निर्णय

दृश्य माप्य गुण नस्ल का आधार. वास्तव में नस्ल एक ही वंश में आनुवंशिकता द्वारा प्राप्त प्राणिक गुणों से पृथक् वर्ग का नाम है। यद्यपि मानव वंश के कई श्रेणी विभाजन किये जा चुके हैं, पर इस बात से सभी नृवंश शास्त्री सहमत हैं कि किसी भी नस्ली वर्गीकरण का आधार आनुवंशिक रूप की दृश्य और माप्य शारीरिक विशेषताएं होनी चाहिएं। इस तथ्य को स्वीकार करते ही हमें भाषा या संस्कृति के आधार पर नस्लों के वर्गीकरण का अनौचित्य भली-भांति ज्ञात हो जाता है।

प्रायः प्रयुक्त माप. नस्लों का अध्ययन पर्याप्त शारीरिक विशेषताओं पर आधारित हैं, जिन्हें कि मापा और देखा जा सकता है। उनमें से प्रायः प्रयुक्त माप यह हैं: (१) शरीर के प्रमुख व्यासों का माप, जिसमें ऊंचाई, कंधे की

ऊंचाई, वैठने की ऊंचाई, कंधे की चौड़ाई, छाती का व्यास और श्रेणिका (Pelvic) व्यास का समावेश है; (२) जुड़े भागों और जोड़ों की लम्बाई, जिसमें कुल वाजू की लम्बाई, ऊपरले और निचले वाजू की लम्बाई, पैरों की लम्बाई सम्मिलित है; (३) कपाल खोपड़ी और चेहरे के व्यास, जिसमें कपाल की लम्बाई, चौड़ाई, ऊंचाई, कुल चेहरे और ऊपर से चेहरे की लम्बाई और चौड़ाई सम्मिलित है; (४) सिर के वालों, शरीर के वालों, आंख की पुतली और खाल का रंग; (५) सिर, चेहरे और शरीर पर वालों का वितरण और स्वरूप; (६) नाक के पार्श्व (Septum) छिद्रों, कानों के छिद्र और कर्ण-पर्पटी, ठोड़ी, जवड़े, मसूढ़ों के किनारों, गाल की हड्डियों और होठों की वनावट; (७) शरीर का गठन और वजन। एक समाजशास्त्री की हैसियत से हमें तीन वातों में मुख्य दिलचस्पी होती है।

१. माप शारीरिक बनावट से सम्बद्ध—इसमें पहली वात यह है कि यह माप और परीक्षण जिनका नस्ल के निर्धारण में प्रयोग किया जाता है, का सम्वन्ध शारीरिक विशेषताओं से है और जो कि समस्त संसार में सर्वमान्य हैं। सूक्ष्म विश्लेषण और भूल जांचने के लिए मान्य प्रणालियां और सूक्ष्म यन्त्र उपलव्ध हैं। यहां तक कि वालों के घुंघरीलेपन या रंग को जानने के लि अन्वेषक के पास मान्य नमूने रहते हैं, अथवा आंखों का रंग जानने के लिए रंगीन चार्ट होते हैं। इस तरह नस्ल के निर्धारण में अनुमान का स्थान वैज्ञानिक प्रणाली ने ले लिया है।

२. कंकाल से प्राप्त सूचनाएं अधूरी—दूसरी वात यह है कि नस्ल के वर्गीकरण में हमें कंकाल से कुछ ही सूचना मिलती हैं। वाल, रंग, मुलायम अंगों की वनावट मृत्यु के अधिक दिन वाद तक नहीं रहती, अतः प्रागैतिहासिक जनसंख्या की नस्ल का निर्धारण कम शुद्ध और अपूर्ण है। इसी का परिणाम है कि हमें योरुप तक, जहां कि इसका सूक्ष्म अध्ययन किया गया है, की नस्लों के प्रकारों के वारे में भी सही जानकारी नहीं है, जिससे कि हम जान सकें कि कहां और कव आज वर्तमान मानवजाति species के उपवर्ग प्रकट हुए। वंशावलियां वहुत कम और अपूर्ण हैं और मानवशास्त्र की दृष्टि से वहुत उपयोगी हैं। उनमें से कोई भी पांच पीढ़ी से अधिक पुरानी नहीं है। इसलिए हमें विद्यमान मेधावी मानव के वर्गीकरण से ही संतुष्ट होना पड़ता है।

३. वौद्धिक, भावुक विशेषताओं को स्थान नहीं—इस सम्वन्ध में यह वात और द्रष्टव्य है कि मानव जाति के इस वर्गीकरण की प्रक्रिया में कहीं भी उसकी 'वुद्धि', उसकी 'भावुक विशेषताओं' अथवा 'स्नायुशक्ति' का जिक्र

नहीं है इसलिए वह प्रचारक जो यह कहता है कि कंजूसी और क्रूरता यहूदी रक्त की, सुस्ती और काहिलपन मंगोल रक्त की अथवा उद्यम और बलिदान श्वेत नस्ल की विशेषता है, नस्ल शब्द का वैज्ञानिक अर्थों में प्रयोग नहीं कर रहा है।

नस्ल एक अल्प वास्तविक इकाई. मनुष्य इस दृष्टि से अनुपम है कि ध्रुव प्रदेशों को छोड़ कर वह पृथ्वी के समस्त भागों में अवस्थित है तथा एक स्थान से दूसरे को परिव्रजन करने का अभ्यस्त है। विभिन्न नस्लों के अन्त-मिश्रण, स्वतन्त्र परिवर्तनों, तथा विभिन्न वातावरणों में प्राकृतिक चुनाव ने एक विचित्र स्थिति को जन्म दिया है, जिसमें कि विशुद्ध नस्ल और परिवारों के लिए कोई स्थान नहीं है, जिन्हें कि हम एक आदर्श प्रकार अथवा गणनात्मक कल्पना ही मान सकते हैं। इसके अतिरिक्त इस बात की कोई साक्षी नहीं है कि आनुवंशिक अर्थों में कभी भी विशुद्ध नस्ल रही हैं, क्योंकि प्रारम्भ से ही अन्तर्मिश्रण और नये-नये वातावरणों में प्रव्रजन मनुष्य की एक विशेषता रही है जो उसकी आनुवंशिक विशुद्धता पर सदा चोट करती रही है।

परिणामतः, जैसा कि लोग सामान्यतः समझते हैं, उसके विपरीत नस्लें अल्प वास्तविक और स्थूल इकाइयां हैं। यहां तक कि उपनस्लें (breeds) भी जिन्हें कि हम बहुत पृथक् समझते हैं, केवल आदर्श प्रकार मात्र हैं जिनमें पर्याप्त विभिन्नताएं दिखाई देती हैं। भारतवर्ष के विषय में यह बात बहुत सही है, जहाँ कि विभिन्न नस्लों का मिश्रण हुआ है।

नस्ल के मनोवैज्ञानिक और सामाजिक पहलू

नस्लों के मनोवैज्ञानिक और सामाजिक पहलू के सम्बन्ध में बहुत-सी भ्रान्तियाँ विद्यमान हैं। इसमें संदेह नहीं कि मानव जाति के वृहत् वर्गों में पर्याप्त शारीरिक विभिन्नताएं पायी जाती हैं। यहाँ यह जानना आवश्यक है कि समाज-शास्त्र के लिए यह आनुवंशिक विशेषताएं अपने आप में कोई महत्व नहीं रखतीं जब तक कि इनका उन वर्गों के मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। हमारे सामने मुख्य प्रश्न यह है कि क्या इस बात की कोई निष्पक्ष साक्षी है कि मानव के उपवर्गों की विभिन्नताएं उनके सामाजिक जीवन के व्यवहार, स्वरूप और संस्कृति को प्रभावित करती हैं? यदि इस प्रकार के कोई आनुवंशिक तत्व विद्यमान हैं तो उनका अध्ययन जरूरी है।

नस्ल के आधार पर श्रेष्ठता सिद्ध नहीं की जा सकती. इस सम्बन्ध में विदेशों, विशेषकर संयुक्त राज्य अमेरिका में अनेक परीक्षण हुए हैं। इन परीक्षणों की बड़ी कमी यह है कि इनमें से कोई भी परीक्षण ऐसा नहीं है जो कि

जन्मजात (innate) से, सीखे हुए (acquired) गुण, योग्यता और रुचि को पृथक् कर सके। फिर भी अभी तक इस सम्बन्ध में जो परीक्षण हुए हैं उनसे यह स्पष्ट है कि नस्ल के आधार पर योग्यता, बुद्धि और रुचि के भेदों को नहीं दर्शाया जा सकता। इससे इस बात की सम्भावना का अन्त नहीं किया जा सकता कि भविष्य में विज्ञान द्वारा नस्लों के बीच कोई मानसिक विभिन्नताएं सिद्ध नहीं हो सकतीं। वास्तव में कुछ अध्ययनों से यह प्रकट होता है कि एक औसत नीग्रो के मस्तिष्क का वजन एक श्वेत मस्तिष्क से कम होता है। पर यदि इसे भी सही मान लिया जाय तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि एक नस्ल दूसरी नस्ल से किसी अर्थ में सामान्य बुद्धि और क्षमता में अधिक श्रेष्ठ या निकृष्ट है।

इसलिए यही मानना अधिक युक्तिसंगत होगा कि विभिन्न नस्लों की श्रेष्ठता का रहस्य उनकी नस्ल में न होकर अन्य कारणों में निहित है। वास्तव में मानव जाति की प्राणिक विशेषताएं, न कि मानव जाति के उपवर्गों की विशेषताएं, सामाजिक जीवन में अधिक महत्व रखती हैं। और न ही यह कहा जा सकता है कि नस्ली अन्तर्मिश्रण का कोई बुरा प्रभाव पड़ता है। यह एक मजे की बात है कि संसार की विकसित सभ्यताएं उन्हीं लोगों की कृतियाँ हैं जिनमें पर्याप्त नस्ली मिश्रण, वर्णसंकरता हुई है। इस सम्बन्ध में जूलियन हक्सले के शब्द स्मरणीय हैं: "यह संभव है कि जन्मजात मानसिक नस्ली विशेषताओं के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों के मौन रहने के बावजूद भी कुछ लोग संतुष्ट न हो सकें। इस सम्बन्ध में वैज्ञानिकों के कई उत्तर हैं। पहला, हमें सांस्कृतिक विभिन्नताओं को जन्मजात विशेषताएं नहीं समझ बैठना चाहिए, और वास्तव में सांस्कृतिक विभिन्नताएं ही सबसे अधिक और महत्वपूर्ण हैं। दूसरा, कि मानसिक सफलता सबसे अधिक परिवर्तनीय गुण है। तीसरा, इस बात से इनकार न करते हुए कि विभिन्न नस्लों में मानसिक विभिन्नताएं हो सकती हैं, यह कम महत्वपूर्ण नहीं है कि विपुल अन्वेषण अभी तक वह सिद्ध करने में असफल रहे हैं जो कि वह सिद्ध करना चाहते हैं।"

सामाजिक पहलू. यद्यपि अभी तक प्राप्त ज्ञान हमें यह बताने में असमर्थ है कि विद्यमान नस्लें और उपनस्लें ऐसा व्यवहार क्यों करती हैं जैसा कि वह कर रही हैं, तथापि यह मत कि वह वर्ग महत्वपूर्ण है, समाजशास्त्रीय दृष्टि से महत्व का है। यदि किसी सामाजिक वर्ग के व्यक्ति ऐसा समझते हैं कि कुछ शारीरिक विशेषताओं का होना किसी प्रकार की श्रेष्ठता का चिन्ह है तो निःसंदेह उनके व्यवहार में एक विचित्र अहंकार और दूसरी नस्लों के प्रति एक तिरस्कार की भावना जागृत हो जाती है, किन्तु यह एक विशुद्ध सांस्कृतिक

तथ्य है, प्राणिक नहीं।

अन्त में हम इसी परिणाम पर पहुंचते हैं कि नस्ली विभिन्नताओं का मनुष्य के व्यवहार पर कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ता।

भारत की नस्लें

प्रागैतिहासिक युग में भारतीय संस्कृति का प्रारम्भ आर्येतर और आर्य नस्ल के पारस्परिक संमिश्रण से हुआ। प्रागैतिहासिक काल में नीग्रो, आग्नेय, द्रविड़ और आर्य नस्लों में, परवर्ती काल में यवन, शक, हूण, तुर्क और मंगोलों में रक्त का मिश्रण हुआ।

पहले यह समझा जाता था कि द्रविड़ इस भारत के मूल निवासी थे और आर्य लोग बाहर से आये थे। नई वैज्ञानिक गवेषणा के अनुसार भारत में बसने वाली सभी नस्लें मूलतः बाहर से आई हैं। भारत की वर्तमान जनता को नृवंशशास्त्रियों ने सूक्ष्म निरीक्षण के बाद छः प्रधान नस्लों में बांटा है:

(१) नीग्रो, (२) आग्नेय, (३) मंगोल, (४) भूमध्यसागरीय (द्रविड़), (५) पश्चिमी (गोल सिर वाले) और (६) नार्डिक (आर्य)।

१. नीग्रो. नीग्रो वंश की वह शाखा है जिसका कद बहुत नाटा होता है। गहरा काला रंग, बहुत छोटा कद, मोटे होठ तथा ऊनी बाल इनकी मुख्य विशेषताएं हैं। यह भारत में बसने वाली प्राचीनतम नस्ल है और अब इसके अवशेष बहुत कम मिलते हैं। यह प्रधान रूप से आजकल अन्डमान टापू में बसी हुई है और इसके कुछ अंश भारत के दक्षिणी भाग कोचीन और ट्रावनकोर के पर्वतों की कडर और पलयन जातियों में, आसाम के अंगमी नागों में तथा राजमहल (बिहार) की पहाड़ियों में बसने वाली जातियों में पाये जाते हैं। इसे इसके बाद आने वाली नस्ल ने, विशेषकर आग्नेय नस्ल ने बहुत कुछ लुप्त कर दिया।

२. आग्नेय. नीग्रो नस्ल के बाद यह नस्ल भी पश्चिम से भारत में आई। इसे आग्नेय कहने का कारण यह है कि इस समय यह नस्ल प्रधान रूप से संसार के दक्षिण पूर्व (आग्नेय) कोण में पाई जाती है। भारत में इस नस्ल से सम्बद्ध विभिन्न बोलियां बोलने वाले समुदाय, संथाल, मुन्डा, शबर आदि प्रधान रूप से उड़ीसा के पास झाड़-खंड में रहते हैं। इन्हें कोल भी कहा जाता है। भारत में इनकी संख्या बहुत कम है, किन्तु इस देश से बाहर इस नस्ल के लोग बर्मा, हिन्द-चीन, मलाया, पूर्वी द्वीप समूह तथा प्रशान्त महासागर के टापुओं में बहुत दूर तक फैले हुए हैं। ऐसा समझा जाता है कि प्रागैतिहासिक युग में इनकी जो शाखा भारत में आई वह इस समय विद्यमान आग्नेय नस्ल

का पूर्व रूप थी, अतएव उसे आद्य आग्नेय (Proto-Australoid) का नाम दिया जाता है। भारत में इसे नस्ली विशेषताएं प्राप्त हुई हैं और यहीं से इसकी एक शाखा दक्षिण-पूर्व (आग्नेय) कोण की ओर चली गई। आद्य आग्नेय नस्ल के लोगों की शक्ल सूरत के सम्बन्ध में हमें सही-सही ज्ञान प्राप्त नहीं है; ऐसा प्रतीत होता है कि यह भी नाटे कद और चपटी नाक वाले थे। आज भी भारत के अधिकांश भाग में यह निम्न जातियों के रूप में विद्यमान हैं। प्राचीन काल में निषाद शायद इन्हीं का नाम था।

३. **भूमध्यसागरीय (द्रविड़).** पहले जिस नस्ल को द्रविड़ कहा जाता था उसे अब भूमध्यसागरीय नाम दिया जाता है। इसके तीन उपभेद माने जाते हैं :

(क) **पुरा भूमध्यसागरीय.** काला रंग और मंझला कद इस की विशेषताएं हैं। यह प्रधान रूप से मलयालम, तामिल तथा कन्नड़-भाषी प्रदेशों में अवस्थित हैं।

(ख) **असली भूमध्यसागरीय.** यह पुराभूमध्यसागरीयों की अपेक्षा अधिक ऊंचे और साफ रंग के हैं। गंगा की ऊपरली घाटी में बसे हुए हैं। ऐसा समझा जाता है कि आर्यों के आने से पहले उत्तरी भारत में इसी नस्ल का निवास था।

(ग) **प्राच्य भूमध्यसागरीय.** इसकी नाक लम्बी और रंग अधिक गोरा है। यह पंजाब, सिंध, राजपूताना और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में पाई जाती हैं। यह सभी नस्लें लम्बे सिर वाली हैं।

(४) **पश्चिमी वृत्तकपाल (गोल सिर वाली).** मध्य एशियायी पर्वत-मालाओं में विकसित इस नस्ल के आल्पाइनी, दीनारी और आर्मीनियन नामक तीन भेद पाये जाते हैं। पहला भेद गुजरात में, दूसरा बंगाल, उड़ीसा, काठियावाड़, कन्नड़ और तामिल प्रदेशों में तथा तीसरा प्रधान रूप से बम्बई के पारसियों में मिलता है।

(५) **नार्डिक (आर्य).** गोरा या गेहुंआ रंग, ऊंचा कद, उभरा हुआ माथा, लम्बी नुकीली नाक और भरपूर दाढ़ी मूंछ, आर्य भाषा-भाषी नार्डिक नस्ल के खास लक्षण हैं। इसके नमूने उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रांत, विशेषतः सिन्धु नदी की ऊपरली घाटी तथा स्वात, पंजकोरा, कुनार, चित्राल नदियों की घाटियों और हिन्दूकुश पर्वत के दक्षिण में मिलते हैं। पंजाब, राजपूताना और गंगा की ऊपरली घाटी में भी यह नस्ल अन्य नस्लों के साथ सम्मिश्रित पाई जाती है। महाराष्ट्र के चितपावन ब्राह्मणों में भी इसका तत्व प्रधान है। प्राचीन

साहित्य से ज्ञात होता है कि आर्य सुनहले वालों तथा नीली आंखों वाले थे। ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय जलवायु के प्रभाव से उनके रूप में कुछ परिवर्तन आ गया।

(६) **मंगोल.** पीला रंग, चपटा चेहरा, उभरी हुई गालों की हड्डियां, नहीं बराबर दाढ़ी-मूंछ तथा नाक की कुछ चपटी जड़ इस नस्ल की मुख्य पहचान है। भारत में इसके दो भेद—लम्बे सिर वाले और गोल सिर वाले पाये जाते हैं। लम्बे सिर वाले पुराने मंगोल हैं ये आसाम में तथा भारत और वर्मा के सीमा-प्रदेश में रहते हैं। गोल सिर वाले इन्हीं से विकसित समझे जाते हैं; यह चटगांव की पहाड़ियों तथा वर्मा के निवासी हैं। तिव्वत के किरात वंश में इस नस्ल के भेदक चिन्ह अधिक स्पष्ट रूप में मिलते हैं। ये सिक्किम और भूटान के निवासी हैं और तिव्वत से काफ़ी आधुनिक समय में भारत आये हैं।

इस तरह भारतीय जनता प्रधान रूप से छः नस्लों के सम्मिश्रण से वनी है।

चौथा अध्याय

आनुवंशिकता और वातावरण

मनुष्य अपने वंश से शारीरिक विरासत ही लेता है कि बौद्धिक और चारित्रिक भी ? आनुवंशिकता मनुष्य के विकास, व्यक्तित्व और जीवन पर कितना प्रभाव डालती है ? इन प्रश्नों का उत्तर देने से पहले जो प्रश्न उठता है वह है आनुवंशिकता क्या वस्तु है ?

कोष से जीवन का प्रारम्भ. मानव अपना जीवन एक अकेले कोष के रूप में आरम्भ करता है। माता के गर्भ का रजाणु पिता के वीर्याणु से पूरित होता है, और उस समय जो कोष बनता है, उसका व्यास (diameter) केवल एक इंच का २०० वां भाग होता है। यह कोष दो भागों में विभक्त हो जाता है, और यह दो भाग चार, आठ, सोलह और इस प्रकार कोटि-कोटि कोषों को जन्म देते हैं। यह सभी कोष एक ही होने के बावजूद भी भिन्न-भिन्न रूप से विकास पाते हैं, और कोई पेशियों का आधार बनता है, तो कोई ग्रन्थियों (glands) का।

कोषों का निर्माण और विकास कार्य. प्रत्येक कोष के दो महत्वपूर्ण भाग होते हैं: एक केन्द्र (nucleus) दूसरा केन्द्र के अतिरिक्त कोष का शेष सारा भाग। केन्द्र कोष के शेष भाग से रासायनिक बनावट (composition) में और शारीरिक व्यवस्था में पूर्णतः भिन्न होता है। यह केन्द्र कोष के अत्यधिक विभाजन और जीवन की क्रिया को कायम रखने में अपना महत्वपूर्ण कार्य करता है, जबकि शेष भाग शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों को उनके कार्यों के अनुसार विकसित करता है। जो कोष ग्रन्थियों (glands) की उत्पत्ति करेंगे, उनके केन्द्र उनमें शक्ति, कार्यक्षमता, प्राण और विकास के उत्तरदायी होंगे और उनके शेष भाग स्रावों (secretions) की जिम्मेवारी निभाएंगे। जो कोष मांस पेशियां बनायेंगे, उनके शेष भाग पेशियों की सिकुड़न, संकोच इत्यादि को कार्यान्वित करेंगे।

आनुवंशिकता में माता-पिता दोनों का योगदान. निषिक्त अण्ड (fertilised ovum) का केन्द्र प्रत्येक कोष को दो केन्द्र देगा। एक पिता के वर्ण सूत्र (chromosomes) का और एक माता के वर्ण सूत्र

का। और जब यह कोष दो में विभाजित होगा, तो यह भी दो ही केन्द्र देगा, और इस प्रकार शरीर के कोटि-कोटि कोषों में अनिवार्यतः माता और पिता दोनों के वर्णसूत्रों का समावेश होगा। इससे स्पष्ट है कि इस प्रकार आनुवंशिकता केवल माता या केवल पिता के प्रभाव का परिणाम नहीं होती, और 'मां पर पूत पिता पर घोड़ा' वाली पुरानी उक्ति चरितार्थ नहीं होती।

आनुवंशिकता के इस विवरण से हम तीन परिणामों पर पहुंचेंगे।

१. माता और पिता दोनों ही आनुवंशिकता के ज़िम्मेदार हैं।

२. **गर्भाधान के समय आनुवंशिकता का निर्धारण.** चूंकि गर्भधारण के समय ही रजाणु और वीर्याणु का जो समन्वय होता है, उसी से निर्णीत कोष के कोटिशः विभाजन में आनुवंशिकता का निवास है, इसलिए आनुवंशिकता उसी समय निर्धारित हो जाती है और अपरिवर्तित रहती है। न तो निषिक्त रजाणु में कोई बाह्य पदार्थ प्रवेश कर सकता है, और न ही आनुवंशिकता में कोई बाह्य गुण आ पाते हैं। यहां तक कि जन्म से पहले के गर्भधारण के लम्बे समय में गर्भ की आन्तरिक दशा भी आनुवंशिकता को प्रभावित नहीं कर सकती।

३. **शरीर के प्रत्येक अंश में आवंनुशिकता का निवास.** शरीर के प्रत्येक भाग में, प्रत्येक कण-कण में, प्रत्येक अणु और कोष में आनुवंशिकता का निवास है। कारण स्पष्ट है कि एक ही कोष के असंख्य विभाजनों ने शरीर को बनाया और उभारा है, विकसित किया है।

इससे सिद्ध है कि आनुवंशिकता प्रत्येक मनुष्य को जन्म से ९–१० मास पहले ही प्राप्त हो जाती है जब कि रजाणु और वीर्याणु परस्पर मिलते हैं। उससे उत्पन्न कोष असंख्य कोषों में विभक्त होकर शरीर के कण-कण को जन्म देता है। उसके बाद जीवन की दीर्घ यात्रा आनुवंशिकता पर कोई प्रभाव नहीं डालती; यह तो निर्णीत और पूर्वनिर्धारित होती है।

वर्णसूत्र और आनुवंशिकता. प्रत्येक केन्द्र दण्डाकार अणुओं का समूह होता है जिन्हें वर्ण-सूत्र कहा जाता है। यह वर्ण-सूत्र लम्बे, छोटे, टेढ़े मेढ़े, अंडाकार, कितने ही रूपों के होते हैं। प्रत्येक कोष के केन्द्र में ४८ वर्ण-सूत्र होते हैं। प्रत्येक कोष-विभाजन के समय उस कोष का प्रत्येक वर्ण-सूत्र एक समान दो भागों में बंट जाता है, और एक-एक भाग एक-एक कोष की सम्पत्ति बनता है। इस प्रकार नवजात दोनों कोष ४८ वर्णसूत्रों के स्वामी होते हैं।

प्रत्येक कोष के ४८ वर्णसूत्र कहने के स्थान पर उन्हें २४ जोड़े क्यों न कहा जाए? वर्ण-सूत्र जोड़ों में ही प्राप्त होते हैं। निषिक्त अंड भी वर्णसूत्रों के २४ जोड़े रखता है; जिनमें से एक वीर्य से प्राप्त होता है और दूसरा

पृथक्-पृथक् विशेषताओं को नई पीढ़ी की आनुवंशिकता में ले जाते हैं, आनुवंशिकता शृंखला को अटूट और अच्छिन्न रखते हैं।

लिंग और आनुवंशिकता.

आनुवंशिकता की नवजात शिशु को विशेष लिङ्ग देने में कितनी ज़िम्मेदारी है ? क्या किसी खास नियम के आधार पर पहले ही यह कहा जा सकता है कि शिशु पुत्र होगा कि कन्या ?

आकस्मिकता ही कारण. प्राणिशास्त्रियों का कहना है कि शरीर कोष में जो ४८ वर्णसूत्र रहते हैं, उनमें दो वर्णसूत्र क क रजाणु में और क ख वीर्याणु में रहते हैं। यही क क और क ख अणु शिशु को उसका लिंग प्रदान करते हैं। माता पिता के प्रजनन कोषों में २३ जोड़े साधारण वर्णसूत्र और एक जोड़ा विशेष लिङ्ग वर्णसूत्र (क क या क ख) का वास होता है। जब रजाणु निषिक्त होता है, तभी लिङ्ग निर्धारण हो जाता है। दोनों माता पिता यदि एक-एक क प्रदान करें, तो लिङ्ग स्त्री होगा और यदि पिता का भाग ख हो, तो लिङ्ग पुरुष होगा। और यह कि पिता का दान क्या है, न तो पिता की इच्छा पर निर्भर है, नहीं डाक्टर या वैद्य की जड़ी बूटी पर, यह केवल आकस्मिकता की बात है।

स्त्री पुरुष बराबर क्यों ?. यहां यह शंका होती है कि यदि यह केवल आकस्मिकता की बात है, तो फिर लगभग बराबर ही पुरुषों और नारियों का जन्म क्यों होता है और उनकी सापेक्ष संख्या शताब्दियों से करीब-करीब बराबर क्यों चली आ रही है ? यह स्मरण रखना चाहिये कि पिता के वर्णसूत्रों में दोनों प्रकार के वाहकाणुओं की एक जैसी संख्या होती है और इसलिए इस बात के अवसर कि पिता का दान क है कि ख समान होते हैं । इस बात का कोई भय नहीं है कि कभी पुरुषों की संख्या बहुत न्यून हो जाएगी या पुरुष कुमारों और विधुरों के रूप में ही मिलेंगे।

भारत जैसे देश में जहां ज्ञान पर अंधविश्वासियों का एकाधिकार है, जहां सन्तान के लिङ्ग निर्धारण में पुरुष के वीर्याणु का महत्व न होकर मुल्ला के तावीज और संन्यासी के वाक्य का अधिक महत्व है, इस तथ्य को समझना बहुत आवश्यक है, कि आनुवंशिकता और सन्तान के लिङ्ग का और मनुष्य की इस लिङ्ग निर्धारण को प्रभावित या निर्धारित करने में असफलता का क्या सम्बन्ध है ? कौन जान सकेगा कि वीर्य रज समन्वय में वीर्य के दोनों क और ख में से किस ने रज के क से मिलाप और सन्धि की है ?

जुड़वां बच्चों का जन्म. जोड़े और समरूप जुड़वां बच्चों को जन्म देने में भी रज और वीर्य की सन्धि का समय ही अन्तिम निर्णायक है। हो सकता है कि

एक रजाणु एक वीर्याणु से मिले, ऐसा न होकर, दो रजाणु एक ही समय में या थोड़े समय पश्चात् दो वीर्याणुओं से निषिक्त हों। इस परिस्थिति में दो जुड़वां बच्चे (Fraternal twins) जन्म लेते हैं परन्तु समरूप जुड़वां बच्चे (Identical) जो एक समान ही होते हैं, एक ही निषिक्त रजाणु से उत्पन्न होते हैं। यह रजाणु वीर्याणु से निषिक्त हो कर दो भागों में विभक्त हो जाता है, परन्तु दोनों भाग एक जैसे ही होते हैं, और एक ही जैसे शिशुओं के जन्म का कारण बनते हैं।

मैण्डल का सिद्धांत और मनुष्य. मैण्डल का प्रवल विशेपताओं के $\frac{3}{4}$ और दुर्वल विशेपताओं के $\frac{1}{4}$ के परिमाण में प्रकट होने का नियम मानव पर कुछ सीमाओं के भीतर लागू होता है । जो विशेपताएं इकाइयों में वर्णसूत्रों में समाई हुई होती हैं, केवल उन्हीं में यह सिद्धांत अपना कार्य करेगा। परन्तु मनुष्य के सभी शारीरिक गुण इकाइयों में इस प्रकार विभक्त होकर वर्णसूत्रों को नहीं प्राप्त हो पाते। दूसरी वात यह है कि ये विशेपताएं या गुण वर्णसूत्रों के जोड़ों के भिन्न-भिन्न प्रकार के सम्मिश्रण पर निर्भर हैं। कैसे जोड़े कैसे जोड़ों से मिलते हैं, यह आकस्मिक सी क्रिया है, और इसलिए बच्चा माता के किन गुणों का अधिकारी होगा, और पिता से कौन से गुण लेगा यह इस वात से जाना जा सकेगा कि (१) वर्णसूत्रों का मेल किस प्रकार का है और (२) इस मेल में किस की ओर से प्रवल विशेपता वाले वर्णसूत्रों ने प्रवेश किया है। क्या यह कभी जाना जा भी सकेगा ?

जैसे बौने पौदे दूसरी उपज में उपजे ही नहीं, वल्कि तीसरी में उपजे, और वह भी केवल एक चौथाई, और वाकी आधे कुल पौदे ऐसे रहे जिनमें से अगली या न जाने किस अगली उपज में बौने पौदे उपज सकें, इसी प्रकार हमारे किस पिता या पितामह का कौन सा शारीरिक गुण हमें किस समय मिल जाए, इसका अनुमान लगाना असम्भव है। होम्ज़ ने एक स्थान पर लिखा है, "आनुवंशिकता तो सभी स्थानों पर पहुंचाने वाली एक वस सर्विस है, जिसमें हमारे सभी पुरखें सवारी कर रहे हैं, और समय-समय पर अपना-अपना सिर वाहर निकाल कर हमें चकित कर देते हैं।"

इसी सम्वन्ध में यह भी स्मरणीय है कि आनुवंशिकता से हमें जो कुछ मिल चुका है, वह हमारे शरीर की परिपक्वता के साथ-साथ अपना प्रभाव बढ़ाता है। आंखों की बनावट या नाक का चपटा होना इत्यादि तो जन्म से ही निश्चित हो जाता है पर वालों का रङ्ग, गंजापन और ऐसी ही विशेपताएं समय पाकर प्रकट होती हैं।

कहा है : वहुत सम्भव है कि सर्वोत्तम विशेपताएं पिता-माता में प्रकट हो जाएं और वच्चों में न मिलें। शायद तीव्रवुद्धि की संतान मंदधी, पागल और अयोग्य ही हो।" फिर वातावरण का कितना तीव्र प्रभाव वर्णसूत्रों पर पड़ता है इसे क्यों भूला जाए ? यह सदा ध्यान रखना चाहिए कि वर्णसूत्रों के भिन्न-भिन्न प्रकार के मेल और वातावरण के प्रभाव के कारण कोई भी ऍडवर्ड और ज्यूकस एक से नहीं होते।

मायरसन ने गोडार्ड की जांच के तरीके पर कटाक्ष करके उसे अवैज्ञानिक वताया है। इसके अतिरिक्त यह भी सिद्ध हुआ कि एडवर्ड की दादी स्वयं वहुत चरित्र हीन थी। इन अनुसंधानों से ऐसे कुल-इतिहासों की महत्ता कम हो गई। यह भी माना गया कि मंदवीमत्ता का कारण (१) वच्चे के जन्म से पहले और जन्म के समय सिर पर लगी चोटें, (२) कुत्ता खांसी का वच्चों पर प्रभाव (३) थाइरोइड ग्रंथि का असन्तुलन इत्यादि हैं।

वातावरण मानसिक गुणों का एक प्रमुख कारण. हब्शी वच्चों पर किये गये परीक्षणों और दूसरे अनुभवों के वाद आज यह माना जाने लगा है कि मानसिक दुर्वलताएं आनुवंशिक नहीं हैं। जन्मजात अपराधी या नेता के सिद्धान्तों को आज का विज्ञान अस्वीकार करता है। पी० ए० विट्टी के निम्न शब्दों में हम एक मान्य सिद्धान्त पर पहुंच पाएंगे। उनका कहना है :

"हमें सदा ही व्यक्ति की अद्वितीयता को ध्यान में रखना चाहिये, जिसका प्रत्येक कोप एकसम वर्णसूत्र और एकसम वाहकाण अपने में समाये रखता है, जो एक समान होते हुए भी किसी भी दूसरे प्राणी के अणुओं से अलग होते हैं, और परिणामस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति की, वातावरण के उन थपेड़ों के प्रति जो उसके विकास का दिग्दर्शन करते हैं, अपनी विशिष्ट प्रतिक्रिया होती है।" जिसका सीधा अभिप्राय है कि यदि मनुष्य और उसके व्यक्तित्व के विकास का अध्ययन करना है, यदि मनुष्यों की एकता और भिन्नता और सामाजिक व्यवहारों में अन्तर के कारणों तक पहुंचना है तो हमें वातावरण की ओर अपना ध्यान आकृष्ट करना होगा।

स्पष्ट है कि प्राणिशास्त्रियों और समाजशास्त्रियों के दृष्टिकोण में यह परिवर्तन तभी हुआ जव उन्होंने यह निष्कर्प निकाला कि मानव-समाज और व्यक्तित्व पर वातावरण का भी प्रभाव पड़ता है। परन्तु कितना प्रभाव पड़ता है ? और क्या केवल वातावरण का ही प्रभाव पड़ता है या आनुवंशिकता का भी ? और तव विद्वानों में यह विवाद चला : प्रभाव किसका अधिक पड़ता है ? आनुवंशिकता और परिस्थिति दोनों में मानव के लिए वड़ा देवता कौन है ?

वातावरण और आनुवंशिकता

इस विवाद ने आरम्भ में समाज-शास्त्रियों को दो भागों में बांट दिया। वे जो वातावरणवादी थे इस पर बल देते थे कि मनुष्य के स्वभाव, व्यक्तित्व और विकास में केवल वातावरण का ही अधिकार है। दूसरी ओर जैसा कि कहा जा चुका है, आनुवंशिकता के पक्षपातियों की भी कमी नहीं थी। इस विवाद का अन्त करने के लिए कितने ही परीक्षण किये गये हैं जिनमें से कुछ नीचे दिये जा रहे हैं।

१. भ्रांतिपूर्ण परीक्षण.—कुछ परीक्षण जिनसे वातावरण के प्रभाव को न्यून प्रमाणित करने की चेष्टा की गई, नीग्रो और गोरे अमेरिकन सिपाहियों पर किये गये। पहले विश्व-युद्ध के उपरान्त नीग्रो सिपाहियों की मानसिक वयस जांची गई और उसकी औसत १०·४ निकली। उसी तरह के गोरे सैनिकों की मानसिक वयस् थी १३.४। इससे यह प्रमाणित करने की चेष्टा की गई कि नीग्रो जन्मतः ही अल्पवुद्धि होते हैं। तदुपरान्त भी किये गये ऐसे अध्ययनों में दो को छोड़कर सभी इसी ओर संकेत करते हैं। परन्तु १९२३ में क्लार्क के लॉस एंजल्स स्कूल के बच्चों पर परीक्षण का फल और जे० पेटरसन और लेनियर के १९२९ के अध्ययन के फल जतलाते हैं कि गोरे और नीग्रो बच्चों की योग्यता और वुद्धि में कोई अन्तर नहीं है।

पुराने परीक्षणों की आलोचना.—फिर भी हमें यह ध्यान रखना होगा कि क्या वुद्धि-परिमाण-परीक्षाएं वुद्धिमापक हैं या ज्ञान-मापक? दूसरा प्रश्न यह है कि जो परीक्षाएं गोरी सभ्यता के प्रभाव में वुद्धि का माप करने के लिए रक्खी गई हैं, क्या वह नीग्रो जाति की सभ्यता और उनके वातावरण के अनुकूल हैं? या वे गोरों को वैसे ही एक अवांछित रियायत नहीं देती हैं? तीसरी समस्या यह निर्णय करने की है कि यह अन्तर क्या इस कारण तो नहीं कि गोरे वच्चों का घरेलू वातावरण वहुत उन्नत है और नीग्रो वच्चों को न वे सुविधाएं हैं और न ही उनका पोषण ठीक ढंग से होता है। वे वच्चे जो प्रतिदिन अभाव और इच्छाओं को कुचल देने वाले, व्यक्तित्व के विकास को दवा देने वाले, वातावरण में पलते हैं, कैसे उन गोरे वच्चों से स्पर्द्धा करेंगे?

हमें शीघ्रता में यह नहीं मान लेना होगा कि उपरिलिखित अध्ययन से नीग्रो जाति के मन्दवुद्धि होने और आनुवंशिक तौर पर पिछड़े होने का कारण उनकी वंशावली या नस्ल है। क्योंकि नीग्रो नीग्रो में भी तो कुछ अन्तर है। दक्षिणवासी नीग्रो से उत्तरवासी नीग्रो की वुद्धि परीक्षण के परिणाम में सात अंकों का अन्तर है, जिससे स्पष्ट है कि श्रेष्ठ वातावरण श्रेष्ठ व्यक्तित्वों

था, जबकि दूसरी का केवल ६२ । इससे सिद्ध होता है कि ऐसे बच्चों में भी वातावरण अन्तर ला देता है ।

आनुवंशिकता और वातावरण की सरल-सी परीक्षा अनाथालय में पले बच्चों और घर में पले भाई-बहनों से भी हो जाती है । न ही एक प्रकार का वातावरण, और न ही एक प्रकार की आनुवांशिकता उनके व्यवहारों और विकास को एक-सा कर पाती है फिर भी यह मानना होगा कि आनुवंशिकता का प्रभाव होता है । इस बारे में दो मत उपस्थित किए जा रहे हैं । पहला मत प्रो० वुडवर्थ का है । जिन्होंने एक चार्ट के द्वारा अपने मत की पुष्टि की है ।

बौद्धिक भागफलों में औसत अन्तर—

एकसम जुड़वां भाइयों में	५
जोड़े भाइयों में	६
असम्बन्वित व्यक्तियों में	१५

स्पष्ट है कि पहले उदाहरण में आनुवंशिकता के कारण ही इतना कम अन्तर है जो एक ही व्यक्ति की दो बार परीक्षा करने पर भी आ जाता है । दूसरे उदाहरण में जो अन्तर है वह वातावरण की सापेक्ष समानता का परिणाम है । तीसरे में न वातावरण समान है, न आनुवंशिकता । यहाँ यह भी ध्यान रखना होगा कि एक वातावरण कहना वास्तव में उचित नहीं है । उचित इस लिए नहीं कि कोई भी दो व्यक्ति पूर्णतः एक जैसा वातावरण रख ही नहीं सकते । एक जैसी परिस्थिति पृथक्-पृथक् व्यक्तियों के लिए पृथक्-पृथक् वातावरण उपस्थित करती है ।

आनुवंशिकता-वातावरण के अनुपात का निश्चय कठिन. दूसरा मत तीन बड़े विज्ञानवेत्ताओं,—प्राणिशास्त्री न्यूमैन, मनोवैज्ञानिक फ्रीमैन और गणना शास्त्री, हाल्जिंगर—की सर्वसम्मति से दिया गया है । अपने दस वर्षों की खोज का सार उन्होंने इस प्रकार दिया है :

"यदि आज से दस वर्ष पूर्व, अपने अनुसंधानों के आरम्भ में, हमें आनुवंशिकता-वातावरण समस्या का समाधान करने की कोई आशा थी भी, या यह आशा थी कि हम इन पर आधारित छोटी समस्याओं का हल मालूम कर लेंगे और कोई सीधा-सा फार्मूला निकाल लेंगे, तो हमारी वह आशा निराशा में परिणत हो गई है । जितना ही अधिक कोई उन पेचीदगियों को सुलझाने की चेष्टा करता है, जो आनुवंशिकता और वातावरण के विवाद में निहित हैं, उनमें जो इकट्ठी मिल कर व्यक्ति के विकास का निर्धारण करती हैं,

उतना ही अधिक उसको यह विश्वास हो जाता है कि यह कोई एक समस्या नहीं है बल्कि समस्याओं का समूह है, और कि बड़ी समस्याओं और इन छोटी समस्याओं का कोई साधारण हल नहीं है। हमें प्रो० जैनिंग्ज़ के इस विचार से पूर्ण सहानुभूति है कि जो कुछ आनुवंशिकता कर सकती है, वह वातावरण भी कर सकता है।

एक समान जुड़वां बच्चों की कहानी के बारे में अन्तिम बात कहकर हम आगे बढ़ेंगे। निषिक्त रजाणु के पांच भागों में विभक्त होने से जो पांच बहनें डायोनी कुल में उत्पन्न हुईं, उनकी प्रवृत्तियों और व्यवहारों पर खोज की गई। उनकी सामाजिक सफलता, सामाजिक लोकप्रियता और सामाजिक प्रवृत्ति की परीक्षा करके उनको अंक दिये गए, जो इस प्रकार हैं :—

एनेट	१·३	·८	२.७
सेसिल	१·३	१·२	१·८
एमिली	०·९	१·०	०·६
मेरी	०.९	०·७	०·४
यूनी	१·८	१·६	१·०

इससे यह ज्ञात होता है कि उनकी भिन्न प्रवृत्तियों में १००,२००,६०० तक के महान् अन्तर हैं।

उपर्युक्त उदाहरण से भी वातावरण की महत्ता को समझ सकते हैं। जैसा कि हमने देखा, डा० एच० न्यूमैन के शब्दों में वह जुड़वां बच्चे जो एक ही साथ पाले जाते हैं, उन जुड़वां बच्चों की अपेक्षा जो भिन्न परिस्थितियों में पाले जाते हैं, एक दूसरे के कहीं अधिक समान होते हैं। इसके अतिरिक्त एक समान जुड़वां बच्चों में जो अन्तर हो जाते हैं, वह भिन्न प्रकार के वातावरण के कारण होते हैं। यदि वह कोष जो विभक्त होने पर दो जुड़वां सन्तानों को जन्म देता है, विभाजित होने में समय ले, तो बच्चों में अधिक भिन्नता होगी और उन बच्चों पर वातावरण की भिन्नता का और अधिक प्रभाव पड़ेगा।

वातावरण और मानव प्रकृति

इस विषय में यहां संक्षेप में केवल यह कह देना ही पर्याप्त होगा कि सभी मनुष्य अपने-अपने वातावरण के ही परिणाम दिखाई देते हैं। हमारी जड़ें हमारे अतीत में हैं। मानव जाति आज संस्कृति के विकसित रूप की स्वामिनी है, और प्रत्येक पीढ़ी एक अतीव गौरवशील सम्पत्तिशाली विरासत

लेकर अपनी प्रगति के साथ उस सांस्कृतिक सम्पत्ति को अपने सचेष्ट प्रयोग द्वारा और भी समृद्ध करती है। परन्तु मानव जाति के ही कुछ अंग यदि इस सांस्कृतिक मानवीय वातावरण से दूर रक्खे जाएं, तो क्या वहां भी वे अपनी आनुवंशिकता या अपनी सहज प्रवृत्ति के कारण उतना ही विकास कर सकेंगे जितना कि यहां बच्चे करते हैं ? क्या भरत की जननी शकुंतला यदि कण्व ऋषि का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट न कर पाती, यदि मानव आवास न ले पाती और स्वनामधन्या-सी पक्षियों द्वारा ही पाली जाती, तो एक स्वाभाविक नारी की रूप-गुण-सम्पत्ति की भोक्ता हो सकती थी ?

मानव-संसर्ग से पृथक् पोषित बच्चे. अबुलफ़ज़ल ने अपने 'आईने अकबरी' में शहंशाह अकबर और राजा बीरबल की एक कहानी का ज़िक्र किया है। यह जानने के लिए कि आदि धर्म और ईश्वरदत्त भाषा कौन-सी है, दस बच्चों को जन्म से ही आबादी से दूर एक महल में रखा गया, जहां उनको खाना पहुंचाने का सुचारु प्रबन्ध था, परन्तु वे न किसी को देख सकते थे, न मिल सकते थे। दस वर्ष बाद ईश्वरीय वाणी सुनने के लिए जब वे दरबार में लाये गए, तो सिवाए अं, एं गं के उनकी कोई भाषा न थी।

इसी प्रकार की एक खोज भेड़िये बच्चे की है, जिसका विवरण इस प्रकार है :—

(क) इलाहाबाद ५ एप्रिल, १९२७:—"दस वर्ष का एक छोटा बालक यहां से कोई ७५ मील दूर मियावना की बस्ती के चरवाहों को प्राप्त हुआ है। यह बच्चा भेड़िये के निवासस्थान में रह रहा था, और कंदरा की अवस्था से ज्ञात होता था कि पर्याप्त समय से यह यहीं रह रहा है। न तो यह लड़का चल सकता है न बोल सकता है। इसका भोजन का तरीका पशुसम है। पानी को जिह्वा से चाटता है और घास खाता है। भौंकता है और अपने को काट तक लेता है।

(ख) लंदन २६ एप्रिल, १९२७—"पहले प्राप्त हुए भेड़िये बालक के विषय में और अधिक सूचना प्राप्त हुई है। इसकी अवस्था करीब सात से बारह साल तक की है। यह भेड़ियों के साथ ही पला प्रतीत होता है। अब इसे खाने को मांस दिया गया है, पर फिर भी घास की ओर लपकता है। वह खड़ा हो सकता है और चल भी सकता है, पर कभी-कभी घुटनों के बल चलना चाहता है।

"उसके घुटने सख्त हो गए हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि उसे बार-बार

धरती पर घसीटा गया है। उसकी हथेलियों में भी गांठें पड़ी हुई हैं। डाक्टरों का कहना है कि वह वर्षों तक जड़ों और बूटियों पर पाला गया है। उसे वेहिसाव भूख लगती है। उसे दौरे पड़ते हैं, और समय-समय पर वह भयानक हो उठता है। एक मानसिक चिकित्सालय में ले जाए जाने से पहले उसने दो पुलिस के सिपाहियों पर आक्रमण भी किया। अपनी वाणी के एक-मात्र साधन के रूप में एक विशेष प्रकार के भौंकने को बार-बार काम में लाता रहता है।......"

यह दोनों उद्धरण एक समाचार-पत्र के हैं। इसी प्रकार के और विवरण और अन्वेषकों ने भी दिए हैं जिनमें जंगल में मिले एक लड़के कास्पर हॉसर का वर्णन भी है।

श्रेष्ठ और निकृष्ट नस्लें ?. ऐसे सभी विवरणों से सिद्ध होता है कि मनुष्य और उसकी आज की प्रगति कोई वंश की शारीरिक या मानसिक देन नहीं है, वल्कि सांस्कृतिक देन है। इसीलिए समाजशास्त्र के विद्यार्थियों को संस्कृति और वातावरण के विषय में अध्ययन करना है। हमें शारीरिक वंशावलियां न वना कर ऐतिहासिक रूप में सांस्कृतिक विकास और उन्नति को जानना होगा। मनुष्य आज क्या है, इसका उत्तर देने के लिए उस समाज का भी अध्ययन करना होगा जो उसे पशु से मानव वनाता है।

एक और सामाजिक सत्य हमें यहां दृष्टि से ओझल न होने देना चाहिये। यदि मानसिक उन्नति या अवनति का आधार आनुवंशिकता नहीं है, तो क्या यह कहा जा सकता है कि कोई विशिष्ट नस्ल मनुष्येतर, असाधारण गुण अपने में रखती है ? क्या कोई समूह ईश्वरीय, क्या कोई राष्ट्र दैवी गुणों वाला हो सकता है ? क्या कोई गुणवान् जाति अलौकिक गुणी हो सकती है ? मनुष्य सभी जगह एक समान हैं, अन्तर केवल उन अवसरों में है जो उनको प्रगति और उन्नति के लिए मिलते हैं। समाजशास्त्र के प्रत्येक विद्यार्थी को मानव मानव के बीच बनी इन अनुदारता और संकोच की दीवारों को तोड़ गिराना होगा। संसार सुखी तभी वन पायेगा जव सभी धर्मों और जातियों के व्यक्ति, सभी वर्णों के नर-नारी, गोरे और हब्शी, अपना-अपना अमूल्य सहयोग सर्वोदय और सब के समष्टि के सुख के लिए दे सकें। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए क्या यह अनिवार्य नहीं कि सभी को इस बात के समान अवसर और अधिकार दिए जायं कि उनके व्यक्तित्वों में निहित सभी शक्तियां प्रस्फुटित हो सकें, उभर सकें और पल्लवित और विकसित हो सकें।

आनुवंशिकता और वातावरण सहवर्ती हैं

परन्तु इस दीर्घ विवाद के पश्चात् आवश्यक है कि मह अपने निष्कर्षों की ओर समूचे रूप में दृष्टिपात करें । मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए, शारीरिक और मानसिक गुणों और दुर्बलताओं के लिए दोनों—आनुवंशिकता और वातावरण महत्वपूर्ण हैं, और एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। जीवन का प्रत्येक श्वास, जीवन का प्रत्येक व्यवहार दोनों के अन्तःसम्बन्ध की उत्पत्ति है। दोनों एक दूसरे के परिणाम के लिए अनिवार्य हैं । इनके अलग-अलग प्रभाव का निर्णय तो तब किया जाए यदि दोनों को एक दूसरे से मुक्त और पृथक् किया जा सके। वास्तव में हम एक गलत प्रश्न की चर्चा करते रहे हैं। जब दोनों ही मानव विकास के अनिवार्य अंग हैं, तो कौन अधिक महत्वपूर्ण है, यह कैसे कहा जा सकता है ?

रज और वीर्य के सम्मिलन के पश्चात् ही कोष में आनुवंशिकता के साधन वाहकाणुओं (genes) पर निषिक्त स्त्री-बीज के शेष भाग का प्रभाव पड़ता है । दोनों में क्रिया और प्रतिक्रिया होती है । दूसरी ओर नौ महीने की गर्भावधि में माता के गर्भ में जो वातावरण, जल-वायु, और स्वास्थ्य इत्यादि होता है, वह भी तो वाहकाणुओं के विकास को प्रभावित करता है। ज्यों-ज्यों भ्रूण (Embryo) अपने कोषों की संख्या को बढ़ाता जाता है, त्यों-त्यों उसके भिन्न-भिन्न भागों में एक दूसरे का प्रभाव अधिक तीव्र होता जाता है।

जन्म के पश्चात् बच्चे का वातावरण कितने वेग से बड़ा हो जाता है, केवल कल्पना का विषय है। फलतः वातावरण का वाहकाणुओं पर जो अब शारीरिक ढांचे में होते हैं, प्रभाव और वाहकाणुओं के समूह को लिए हुए शरीर का वातावरण पर प्रभाव और भी गम्भीर और महत्वपूर्ण होता जाता है । इस प्रकार ये दोनों एक दूसरे में इस प्रकार समा जाते हैं, बंध जाते हैं, उलझ जाते हैं, कि विकास की इस दीर्घ योजना में से दोनों का अलग अध्ययन करना केवल एक भयानक भूल है।

अनुल्लंघनीय आनुवंशिकता. कुछ पर्याप्त सोचे-विचारे अर्थों में तो कम से-कम, वाहकाण शरीर और मन को ऐसी शक्तियां प्रदान करते हैं, जिनका विकसना या मुरझाना वातावरण के उपयुक्त होने या न होने पर आधारित है। और जब कि एक ही प्रकार के वर्णसूत्रों और वाहकाणुओं को लेकर ही अलग-अलग वातावरण अगणित कोटि के व्यक्तित्वों का विकास कर सकते हैं, तब भी

आनुवंशिक सम्पद् कुछ ऐसी सीमाएं अवश्य निर्धारित कर देती है, जिनका उल्लंघन कोई भी वातावरण नहीं कर सकता। नीग्रो वाहकाणुओं का एक समूह किन्हीं भी परिस्थितियों में एक चीनी की शारीरिक विशेषताएं नहीं दे सकता; और अवश्य कुछ तो ऐसी जन्मजात दुर्बलताएं होती ही हैं जिनका निदान कैसा भी बलशाली वातावरण नहीं कर सकता।

हमारे समाज में जो नाना प्रकार के परिवर्तन होते रहते हैं, उनका अध्ययन हमें यह नहीं बता पायेगा कि दोनों में से कौन अधिक प्रभावोत्पादक है। यदि कभी किसी नए तत्व का प्रवेश एक उलझी हुई परिस्थिति को पूर्णतः बदल देता है, तो इसे उस नए तत्व का ही प्रभाव या महत्व मान लेना सहज भले ही प्रतीत हो, वस्तु स्थिति के विरुद्ध होगा। रक्त की रासायनिक बनावट में थोड़ा सा अन्तर उसी पदार्थ को विष में परिणत कर सकता है, परन्तु उसे विष बनाने का श्रेय उस अन्तर को न होकर उस पदार्थ के भिन्न-भिन्न पदार्थांशों को है जिनके नए मेल से विष के गुणों का जन्म हुआ। इसी प्रकार कोई भी सामाजिक तत्त्व अकेला सामाजिक परिस्थिति की विशिष्टता का वर्णन नहीं कर सकता। बल्कि उसके प्रभाव से दूसरे सामाजिक सम्बन्धों का रूप कैसे बदला, और उनके तज्जनित विकारों से सारी परिस्थिति कैसे बनी, इसका ज्ञान ही उस परिस्थिति के लक्षण बता सकेंगे।

जीवन के किसी भी एक व्यवहार को, एक कर्म को, एक चेष्टा को बिल्कुल अलग से देखना बहुत कठिन है। इसीलिए जीवन के इन अनिवार्य तत्त्वों—इन घटनाओं को—अलग-अलग कैसे देखा जा सकेगा ?

संक्षेप में कहें तो, "आनुवंशिकता एक ऐसी शक्ति है जो एक वातावरण द्वारा वास्तविकता में विकसित कर दी जाती है।" जीवन के सभी गुण आनुवंशिकता में हैं, और उन गुणों का प्रस्फुटन, उनकी अभिव्यक्ति वातावरण पर निर्भर है। वातावरण के बड़े परिवर्तन निम्नकोटि की शक्तियों वाले मनुष्यों पर बहुत ही न्यून प्रभाव डालेंगे, जबकि ऐसे छोटे अन्तर भी अधिक मेधावी व्यक्तियों के लिए कभी-कभी क्रान्तिकारी होंगे। जीवन-मृत्तिका जितनी नर्म होगी, उतना ही वह वातावरण की दया पर आश्रित होगी। यह आवश्यक हो गया है कि मनुष्य अपने वातावरण का नियंत्रण करना मात्र सीख ले। इसी कारण तो विविध प्रकार के प्रसाधनों द्वारा मनुष्य आदि काल से अपने वातावरण को अधिक सुखद बनाने में, उसे मानवीय आवरण पहनाने में लगा रहा है, क्योंकि एक वही तो प्राणि-संसार में सब से अधिक नर्म-मृत्तिका की

सृष्टि है। यही मानव की अपनी परिस्थितियों को वदलते रहने की, अपने अनुकूल वनाने के प्रयत्न की कहानी—यही संस्कृति की कहानी है और यही समाज शास्त्र का विषय है।

व्यक्तित्व के विकास में वातावरण और आनुवंशिकता का समन्वय

संस्कृति की इस कहानी में व्यक्ति का अपना व्यक्तित्व कैसे विकसित होता है, इसके लिए आनुवंशिकता कैसे जीवन पर्यन्त इसे प्रभावित करती है, वातावरण का क्या प्रभाव पड़ता है और कैसे व्यक्तित्व दोनों तत्वों का एक समागम है, इन तीनों तथ्यों को विस्तार से समझना आवश्यक है।

परिपक्वता के साथ-साथ आनुवंशिकता का प्रभाव. व्यक्ति के शरीर के कोष उसकी वढ़ती हुई अवस्था के साथ-साथ वढ़ते हैं। एक दो सप्ताह तक वह आंखों से पूरा काम नहीं ले पाता, चार महीने की अवस्था तक उसे अपने चारों ओर के वातावरण की अभिज्ञता प्राप्त नहीं होती। प्रजनन (Gonad) ग्रंथियों के सक्रिय स्राव के लिए भी कितने ही वर्ष की अवस्था अनिवार्य है। पच्चीस वर्ष की अवस्था तक साधारणतः ग्रंथियां अपना परिपक्व रूप धारण करती हैं। इस प्रकार समय-समय पर आनुवंशिकता मनुष्य को नए-नए साधन देती है और नाना प्रकार से प्रभावित करती है।

ये सभी प्रभाव व्यक्तित्व के विकास में महत्वपूर्ण होते ही हैं। साथ-साथ आनुवंशिकता द्वारा निर्धारित ग्रंथियों के स्राव मनुष्य के शारीरिक विकास, मानसिक विकास, वातावरण के प्रति क्रिया और प्रतिक्रिया पर वहुत प्रवल प्रभाव डालते हैं। इस प्रकार यों तो आनुवंशिकता जन्म से भी पहले निर्णीत होती है, परन्तु यह जीवन में वहुत दूर तक इस परिपक्वता के प्रभाव के कारण अपनी शक्ति को फैलाये रहती है। यह भी कह देना यहां अनुपयुक्त न होगा कि परिपक्वता भी परिस्थितियों और वातावरण के साथ-साथ चलती है। इसे न तो वातावरण से अलग किया जा सकता है, न परिस्थिति से। इतना फिर भी कहा ही जा सकता है कि जो गुण या विशेषता जन्म के समय अधिक विकसित होगी, वह आनुवंशिकता और केवल आनुवंशिकता के प्रभाव का फल होगी।

नाड़ी और ग्रन्थि संस्थान और व्यक्तित्व

वच्चे के शरीर की सम्पत्ति कुछ न्यून नहीं होती। परन्तु हम केवल उसी से परिचय प्राप्त करेंगे जिसका प्रत्यक्ष सम्वन्ध व्यक्ति के विकास से है, उसकी मानसिक क्रियाओं और व्यवहारों से है, और संवेदनात्मक क्रियाओं (emotional activities) से है। किसी भी एक कार्य में समस्त शरीर

अपना योग दे सकता है। उदाहरण के लिए, वैसे तो फेफड़े ही वायु को शरीर के भीतर खींचने, सांस लेने का कार्य करते हैं, फिर भी इनकी उचित क्रिया चुल्लिका (Thyroid) ग्रंथि की अवस्था से प्रभावित होती है। इसी प्रकार सांस लेने के साधनों का मनोवैज्ञानिक क्रियाओं से भी सम्बन्ध है। परन्तु इस बात के बावजूद भी कि सारा शरीर श्वासोच्छ्वास की क्रिया में सम्मिलित होता है, उसके कुछ भाग दूसरे भागों की अपेक्षा अधिक सचेष्ट योग देते हैं। मानसिक और संवेदनात्मक व्यवहार के लिए सबसे महत्वपूर्ण आनुवंशिक साधन नाड़ी संस्थान (nervous system) और ग्रन्थि स्राव (secretions) हैं।

नाड़ी-संस्थान. नाड़ी-संस्थान नाड़ियों का एक ऐसा जाल है जो प्रेरकों (Stimuli) द्वारा क्रियान्वित, उत्तेजित या प्रेरित हो सकता है। यह प्रकाश, रंग, वाणी, गंध, सरदी और गरमी इत्यादि की प्रेरणाएं अनुभव करता है और उनके प्रति क्रिया भी करता है इसी प्रकार कुछ आंतरिक प्रेरणाएं (Impulses) जैसे भूख, निद्रा, थकान इत्यादि भी इसको आंदोलित और प्रेरित करती हैं। भूख की प्रेरणा आमाशय में उसकी आवश्यकता के कारण भी हो सकती है, और कोई स्वादिष्ट खाद्य-पदार्थ देख कर भी। मनुष्य दोनों ही प्रकार के प्रेरकों—आंतरिक और वाह्य—के प्रति व्यवहार करता है। नाड़ियां इन प्रेरकों की प्रेरणाओं को तन्तुओं (Fibres) द्वारा मस्तिष्क तक भेजती हैं। वहां से यह प्रेरणाएं व्यवहारों या प्रतिक्रियाओं के रूप में उन नाड़ी-संस्थानों द्वारा जिनको नियंत्रक नाड़ियां (Nerves of Control) कहते हैं, मांसपेशियों या ग्रंथियों में पहुंचती हैं और इस प्रकार प्रेरकों द्वारा उत्तेजित यह प्रेरणाएं व्यवहारों या क्रिया का रूप लेती हैं। ज्यों ही भूख की प्रेरणा होती है, और वह मस्तिष्क तक पहुंचती है, त्यों ही मस्तिष्क द्वारा प्रेपित इनकी प्रतिक्रिया के कारण हाथ खाद्य-पदार्थों को मुंह में डालता है।

इस सारे क्रम में चार साधन मुख्य हैं जो प्रेरकों को प्रतिक्रियाओं से जोड़ते हैं।

१. वह नाड़ियां जो प्रेरकों की प्रेरणा को ग्रहण करती हैं।

२. वह तन्तु जो इन उत्तेजनाओं को मस्तिष्क तक ले जाते हैं।

३. मस्तिष्क से मांसपेशियों और ग्रन्थियों तक प्रतिक्रिया को ले जाने वाले तन्तु।

४. मांसपेशियां और ग्रन्थियां जो इन प्रतिक्रियाओं को प्रकट करती हैं।

ग्रंथियां और ग्रंथि-स्राव. आंतरिक स्राव की ग्रन्थियां भी प्रेरकों का कार्य करती हैं। इन ग्रन्थियों के स्राव जो भिन्न-भिन्न रासायनिक तत्वों के मिश्रण होते हैं, और रक्त में ऐसे तत्वों को मिला देते हैं। इन स्रावों का प्रभाव भी इस दृष्टि से वैसा ही होता है, जैसे कि वाह्य स्थित प्रेरक तत्वों का। चुल्लिका ग्रंथि का स्राव जिसे चुल्लिकास्राव (Thyroxin) कहा जाता है, सांस लेने की क्रिया के वेग को बढ़ा देता है। इसी प्रकार अधिवृक्कस्राव (Adrenalin), अधिवृक्क ग्रन्थियों (गुरदों के समीप की ग्रन्थियों) के स्राव, से रक्त के जमने (Clotting) की गति बढ़ जाती है। पोषणिक ग्रन्थि (Pituitary Gland) जो सिर के बीच में और मस्तिष्क के बिल्कुल नीचे होती है प्रजनन शक्ति और क्रिया को उत्तेजित करती है।

इस विवरण से स्पष्ट है कि आनुवंशिकता से ही जो विरासत हमें मिलती है, उसका कितना प्रभाव व्यक्तित्व के विकास पर होता है परन्तु इसमे न केवल मांसपेशियां और नाड़ी संस्थान इत्यादि भाग लेते हैं बल्कि मनुष्य को उसके शरीर की आवश्यकताएं—जिन्हें हम आंतरिक प्रेरक कह आए हैं और जो चालक, संवेदनाएं इत्यादि में बांटी जा सकती हैं, भी मिलती हैं और वह उसके विकास की क्रियाओं और व्यवहारों की इकाइयां बनती हैं।

चालक (Drives)

शरीर की आवश्यकताओं को पूरा करना मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। अन्यथा एक अतृप्ति, एक बेचैनी, एक अशान्ति उसके शरीर में बनी रहती है। जो आवश्यकताएं पूरी नहीं होतीं, वे प्रेरकों के रूप में नाड़ियों को, और उनके द्वारा मस्तिष्क को आंदोलित करती हैं और मानसिक अवस्था को प्रभावित करती हैं, मनुष्य के व्यवहारों पर भी प्रभाव डालती हैं। मनुष्य को ये आवश्यकताएं तृप्ति के लिए बाधित करती हैं। भूख लगी हो, खाना न खाया जाय, तो आमाशय की दीवारें सिकुड़ने लगेंगी, मांसपेशियों को फैला देंगी और उद्भावनाओं को जन्म देंगी। इस प्रकार मनुष्य को यह अशान्ति खाने की ओर ले जायगी। स्पष्ट है कि ये चालक एक उद्देश्य की ओर अग्रसर होते हैं जैसे खाना, सोना इत्यादि।

हालां कि यह चालक प्राकृतिक हैं, आनुवंशिक हैं, फिर भी यह कैसे व्यवहारों को जन्म दें, इसका बड़ा आधार वातावरण पर है। हमारी सांस्कृतिक और सभ्य प्रणालियां और तरीके जिनसे हम इन आवश्यताओं की पूर्ति करते हैं, वातावरण की ही तो देन हैं। तब भी बच्चों के खाने के तरीके भी बहुत

भिन्न होते हैं । यह प्रत्येक व्यक्ति के अपने वातावरण पर निर्भर करता है कि कौन चालक किस प्रकार के व्यवहार को प्रेरित करे। वच्चे ने किस प्रकार क्या सीखा है, यह उसकी खाने के चालकों को तृप्त करने की क्रिया-प्रणाली का निर्धारण करेगा।

संवेदन और विकास

चालकों के साथ ही साथ कुछ ऐसी भावनाएं (Feelings) भी, जिनको कि संवेदन के साथ ही लिया जा सकता है, होती हैं। भूख लगने पर भूख की भावना और अहसास कहते हैं। यह संवेदन जिनको हम उत्तेजित भावनाएं कह सकते हैं, क्या हैं ? मरे ने इन संवेदनों की विशेपता इन शब्दों में वताई है :—"यह एक प्रेरक स्थिति के ज्ञान के परिणाम स्वरूप उत्तेजना की जागृत अवस्थाएं हैं।" वुडवर्थ ने इनको "भावना की वह अवस्था जव वह शक्तिमती होती है" कहा है।

मानव-विकास में चालकों और संवेदनों का क्या स्थान है, इस पर वातावरण और व्यक्तित्व के विकास में हम विस्तार से विचार करेंगे । यहां यही कह देना पर्याप्त है कि ये मनुष्य के व्यक्तित्व में महत्वपूर्ण भाग लेते हैं।

वातावरण और आनुवंशिकता से व्यक्तित्व के विकास के एक दो उदाहरण देकर हम इस विवेचना को समाप्त करेंगे । ये दोनों कैसे अपना योग देकर व्यक्तित्व का विकास करते हैं, इसका वहुत अच्छा प्रमाण जौनी और जिम्मी के प्रसिद्ध विवरण से मिलता है। मिर्ये मेग्रा ने यह परीक्षण कोलम्बिया मैडिकल सैन्टर न्यूयार्क में किया था। जौनी और जिम्मी दो जुड़वां वच्चे थे । जौनी जो दुर्वल और हल्के भार का था, अधिक प्यार और परवाह से रखा गया। जव वह केवल वीस दिन का था उसे अपने गुणों को प्रकाशित करने का अवसर दिया गया। दो-दो घंटे के पश्चात् उसको ऐसी क्रियाओं के लिए प्रेरित किया जाता था जो उसके शक्ति क्षेत्र में थीं। वाद में उसे एक जगह से दूसरी जगह रेंग कर जाने और तैरने तक के अवसर दिये जाने लगे। जिम्मी को उसके पालने में ही रखा जाता रहा और कभी-कभी परीक्षण के लिए हिलाया-डुलाया जाता। आरम्भ के कुछ मास तक उसे उतना ही रोका गया जितना साधारण वच्चे को, परन्तु वाद में शायद उसके सचेष्ट व्यवहार साधारण वच्चों से कम थे। दोनों को एक जैसा भोजन दिये जाने पर भी अपनी क्रियाओं के कारण जौनी अधिक खाता था। इसके अतिरिक्त उसे भोजन करने को स्वयं प्रोत्साहित किया जाता था, जव कि जिम्मी को धाया भोजन कराती थी। सातवें मास से,

जब उसने तैरना सीखा, तो जौनी की ऊंचाई और भार तेजी से बढ़ने लगे, और परीक्षण के अन्त तक वह अपने भाई से लम्बा भी था और भारी भी। परन्तु बाद में जिम्मी भी जौनी जितना ही विकास कर गया।

स्पष्ट है कि हालांकि विकास का आधार परिपक्वता थी, फिर भी उस पर वातावरण का प्रभाव पड़ा। जैसे पहले कहा जा चुका है, स्राव व्यक्तित्व के विकास को प्रभावित करते हैं और वातावरण भी, दोनों अन्तःसम्बन्धित हैं। वातावरण चालकों की तृप्ति, संवेदनों की तृप्ति और परिपक्वता पर अपने प्रभाव—सभी में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इसी कारण हम व्यक्तित्व को इन दोनों तत्वों का संधिस्थल और समागम मानते हैं।

पांचवां अध्याय

ग्रामीण और नागरिक जीवन

मानव सभ्यता का विकास

सभ्यता के विकास के साथ-ही-साथ मानव के सामाजिक सम्बन्धों का विकास हुआ। जब जीवन की रक्षा करना कठिन था, लोग पशुओं के भय और खाद्य पदार्थों की न्यूनता के कारण छोटे-छोटे समूहों में रहते थे और जहां भोजन सामग्री की प्राप्ति असम्भव हो जाती थी, वहां से विदा ले लेते थे। कंद-मूल खाकर पेट भरने में भी, और तत्पश्चात् पशुओं का वध कर सकने की सामर्थ्य प्राप्त कर उनका मांस प्राप्त होने पर भी, वह कंद-मूल और मांस की खोज में अपने कंधों पर ही घर उठाये चले जाते थे। जब उन्होंने अग्निदेव की भक्ति आरम्भ की, तो कुछ सुविधा हुई कि पका हुआ भोजन मिलने लगा। न जाने हमारे किस आदिम पुरखे ने कब पत्थर-से-पत्थर को टकराते देखा होगा, और कब उसने अग्नि के इस महान् गुण को समझा होगा।

पशु-पालन जब सभ्यता के विकास की शृंखला में पिरोया गया, और भक्षण के लिए दूध इत्यादि के लिए पशु पाले जाने लगे, तो मानव को घर बनाने की सुविधा मिली। एक विशेष जगह पांच छः महीने के लिए रह सकें, यही क्या कम था? परन्तु घास समाप्त हुई कि गृहत्याग अनिवार्य हो गया।

ग्राम का उदय. इसी प्रकार मानवता का यह कारवां चेष्टा करके, विपत्तियां झेल कर, उस पड़ाव पर पहुंचा जहां कृषि, खेती-बाड़ी सम्भव हुई। खेती के लिए निश्चय ही एक जगह रहना अनिवार्य था और जब एक ही स्थान से मनुष्य की आवश्यकताएं पूरी होने लगीं, तो उसे दूर-दूर भागने की बड़ी मुसीबत क्या थी? परिणामस्वरूप मनुष्यों के समूह खेती-बाड़ी के लिए गांवों में रहने लगे और इस प्रकार ग्राम्य जीवन ने सभ्यता की गोद में जन्म लिया।

कृषि ग्राम्य जीवन का आधार. इससे यह स्पष्ट ही है कि ग्राम्य जीवन का आरम्भ मनुष्य की इस सुविधा से हुआ कि उसे एक ही स्थान पर अपनी उदरपूर्त्ति के साधनों की उपलब्धि हुई। ग्राम्य जीवन के लिए एक ही शर्त का

पूरा होना ज़रूरी है और वह है : मनुष्यों के ऐसे समूह का होना जो इतनी मात्रा में एक ही स्थान पर भोजन सामग्री की उत्पत्ति कर सकें कि उसे खाना-बदोश या फिरंदर जीवन की आवश्यकता न रहे ।

कुटुम्ब से ग्रामों का उदय. ग्राम्य जीवन के आधार—उदरपूर्ति के साधनों के एक ही जगह होने के कारण मनुष्यों का सामूहिक और स्थायी विकास होना—से ही स्पष्ट है कि चूंकि पहली बार ही मानव समूह को जीवन को सामूहिक तौर पर बिताने और चिरकाल तक शान्ति से एक स्थान पर रहने का अवसर प्राप्त हुआ, इसलिए न केवल उनका सामूहिक जीवन अधिक स्थिर और स्थायी हुआ, न केवल सामाजिक सम्बन्धों और अन्तःप्रेरणाओं का विकास हुआ, बल्कि एक ही आवश्यकता की—अनिवार्यतः बुनियादी आवश्यकता की—पूर्ति के लिए एक ही आयोजन में रत होने के कारण समष्टि जीवन का मूल्य बहुत बढ़ा । साथ-ही-साथ इन्हीं कारणों से निर्विघ्न शान्तिपूर्ण जीवन का अवकाश मिला, कौटुम्बिक जीवन की महत्ता अधिक हुई । ग्राम्य जीवन के विकास के पहले बहुत जगह मानव केवल कुटुम्बों में रहते थे । अर्थात् एक ही नस्ल कुल या गोत्र—ही सामाजिक जीवन का आधार था । जब इन लोगों ने ग्राम बसाए, तो एक ओर तो कुटुम्ब की ही तरह समष्टि जीवन और सामूहिक सम्पत्ति को माना, और दूसरी ओर कुटुम्ब महत्ता बढ़ी ।

ग्रामों का उदय और सामाजिक विषमता. परन्तु सामूहिक सम्पत्ति के होते हुए भी, दूसरी बिरादरी या उनके छोटे-छोटे कुटुम्बों को धरती पर अधिकार न देकर धरती के किरायेदार बनाया गया । इसी प्रकार जब एक ग्राम के पास की धरती बढ़ती हुई जन संख्या के लिए अपर्याप्त हुई, तो दूसरे ग्राम बसाए गए और विषमता बढ़ी । बिरादरी के बाहर विषमता मान लेने पर बिरादरी के अन्दर भी वह बढ़ी और बिरादरी के मुखियाओं के अधिकार अधिक हुए । तत्पश्चात् आक्रमणों, युद्धों, राज्य व्यवस्थाओं और दूसरे ऐसे ही कारणों से यह विषमता और अधिक बढ़ी और ग्राम में भूस्वामी और भूमिहीन इन वर्गों का उदय हुआ ।

ग्राम इस दृष्टि से बसाए गए कि पशुओं और दूसरे समूहों के आक्रमणों से बचा जा सके और इस लिये रक्षित स्थानों में ग्राम बसाए गए । अधिक उपजाऊ धरती और रक्षित स्थान—ग्रामों को बसाने के लिए यही दो तत्व परखे गए ।

ग्रामीण जीवन के अंग. चूंकि ग्राम ही समाज व्यवस्था का विकसित

रूप थे और मनुष्यों का स्थायी आवास बन गए थे, इसलिए मनुष्यों की सभी प्रकार के काम धंधे करने वाली श्रेणियां ग्रामों में रहने लगीं। ग्रामवासियों ने आवश्यकता के अनुसार अपने काम धंधों को उन्नत किया। उदाहरण के लिए, प्रत्येक ग्राम में लकड़ी और मिट्टी का काम करने वालों, कपास का धंधा करने वालों ने ग्राम की आवश्यकताओं को पूरा किया। इस प्रकार ग्राम में कृषकों और छोटे-छोटे दस्तकारों ने मिलकर आबादी बनाई।

ग्राम्य जीवन का आधार आत्मनिर्भरता. ग्राम के उदय के समय मनुष्य के समूह अपनी प्रत्येक आवश्यकता को अपने से ही पूरा करें, इसके सिवाय चारा भी क्या था? प्रत्येक सेवा के लिए आपस में काम बांटें, और इस प्रकार जीवन की रक्षा करें, यह अनिवार्य था। ग्रामों का आधार इसी कारण आत्म निर्भरता बनी और इस आत्मनिर्भरता के कारण ग्रामीण समूह एकता की ओर और भी अग्रसर हुआ।

ग्रामीण जीवन की विशेषताएं

१. ग्राम एक समुदाय और प्राथमिक समूह. ग्राम की उत्पत्ति और विकास से यह तो स्पष्ट है ही कि ग्राम ग्रामवासियों की सभी आवश्यकताएं पूरी करने की चेष्टा करता है, उनमें एकता की भावना को बढ़ाता है और चूंकि ग्राम में रहने वाले लोग सदा एक दूसरे के समक्ष रहते हैं, एक दूसरे को प्रेरित करते हैं, इसलिए वे आपस में जितनी आत्मीयता महसूस करते हैं, वह और समुदायों में कठिन है। इन अर्थों में ग्राम एक समुदाय है, और ऐसा समुदाय या समूह है जो न केवल सभी हितों की रक्षा करता है बल्कि सदा के साहचर्य के कारण वह अपने वासियों पर जो प्रभाव डालता है, वे उनके विकास की आधारशिला बन जाते हैं। इसीलिए इसे प्राथमिक समूह (Primary Group) कहना उचित होगा।

२. ग्राम्य जीवन की पृथक्ता के कारण ग्राम से प्यार. पहला बड़ा तत्व जो ग्राम्य जीवन की घनिष्ठता और उसके प्राथमिक प्रभाव के महत्त्व का आधार है, ग्रामों का अलग-अलग दूर-दूर बसे होना है इससे ग्रामवासी केवल ग्राम-समुदाय में ही सामाजिक जीवन की सीमा छू सकते हैं, इस कारण, आवश्यकता-पूर्ति के कारण, घनिष्ठता के कारण वह ग्राम से अधिक प्यार करते हैं, उसके आदर्शों को मानते हैं, और पृथक् सामाजिक इकाइयों को जन्म देते हैं।

३. खेती के पेशे के कारण धर्म और लोकोत्तर शक्ति में विश्वास. यूं

तो ग्रामवासियों के अनेक धंधे—लकड़ी काटना, मिट्टी के वर्तन बनाना इत्यादि हो सकते हैं, पर प्रमुख व्यवसाय केवल एक ही है और वह है कृषि। वह अपने खेत वोते हैं और पशुओं का पालन ही उनका मुख्य कार्यक्रम है। यदि अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण वह पक्षियों को मारने, दूध देने वाले पशु पालने, मछलियां पकड़ने इत्यादि का काम भी करते हैं, तो भी एक वात उन सवमें समान है। सभी ग्रामवासी चाहे वे शिकारी हैं या मछुये या किसान, प्रकृति के चिर-सम्वन्ध में ही जीवन व्यतीत करते हैं। वल्कि प्रकृति के साथ सहयोग करके ही अपने भरण-पोषण की समस्या को हल करते हैं। प्रकृति के ही 'रोप' या दुर्दम्यता का मुकाविला भी उनको करना पड़ता है। अकाल, अनावृष्टि, अतिवृष्टि, नदियों में वाढ़ आना, हिंसक पशुओं का भय, टिड्डी दल का प्रकोप, रोग और महामारी—यही उनके जीवन की वड़ी खेदपूर्ण कटु घटनाएं होती हैं।

ग्रामीण प्रकृति के सौंदर्य को अपनी पूजा या जीवन का आधार नहीं वनाता। जहां तक पूजा को आधार वनाने का सम्वन्ध है, अपने देश में ही उषा और संध्या की अरुणिमा, गुलाव की पंखुड़ियों का लावण्य और कोमलता, वसंत की सुषमा को न किसी ने देवी माना न ही देव; अपितु इंद्र देवता, सूर्य देवता, वरुण देवता, अश्विनी कुमार, इत्यादि ही हमारे पूज्य देवता और गंगा, शक्ति इत्यादि ही हमारी पूज्या देवियां हैं। ग्रामवासी तो प्रकृति को अपने भोजन और जीवन के लिए प्रयुक्त करता है, उससे संघर्ष करता है, सहयोग करता है। उसके प्यार और घृणा को अनुभव करता है। क्योंकि प्राकृतिक उपादान उसके जीवन और कार्यक्रम के महत्वपूर्ण अंग हैं, वह उनको प्राणवान्, सजीव और चेतन तक मान लेता है। हमारे साहित्य में, दंतकथाओं में और प्रार्थनाओं में प्रकृति एक प्रभावी सत्ता, एक प्राणवान् शक्ति की तरह पुकारी गई है।

अपने को कितनी ही वातों में असहाय पाकर और ऐसी शक्तियों से घिर कर जिनका प्रतिरोध करना तो क्या, समझना भी उसकी सामर्थ्य से वाहर है, वह उन शक्तियों के दैविक और रहस्यमय होने को स्वीकार करके उनमें आस्था रखने लगता है। आस्तिकता, धर्म में विश्वास, अमानवी शक्तियों में विश्वास, ग्रामीण समाज का एक विशेष गुण है।

यही नहीं, इन्हीं कारणों से वह जादू, अपशकुन, वहम और ऐसी ही मूर्खतापूर्ण वातों पर विश्वास करता है, मनुष्य की वुद्धि और शक्ति से वड़ी शक्तियों को मान कर अलौकिक, अमानुषिक 'करिश्मेवाजी' के चक्कर में पड़ता है। इसी कारण वह पुरातन का प्रेमी हो जाता है।

४. बहुमुखी कार्यक्षमता तीव्र साधारण ज्ञान का कारण. खेती-बाड़ी का पेशा ही ऐसा है कि इसमें मनुष्य को कई प्रकार के काम करने पड़ते हैं, जानने होते हैं। स्वयं ही बीज बोना, फ़सल काटना, पानी देना, पशुओं के लिए चारा लाना, स्वयं ही फ़सल को बेचना, गोबर के उपले बनाना, लकड़ी काटना होता है। उसका हित और ध्यान सभी ओर होता है। इसीलिए वह कितने ही काम सीखता है। किसी काम में दक्षता या विशेष गुण ग्रहण करने का प्रश्न उठता ही नहीं। इसी प्रकार गृहिणी का कार्यक्रम दूध दुहना, मक्खन निकालना, कताई, बुनाई, इत्यादि कई तरह के छोटे-छोटे धंधों में उलझा रहता है। इस व्यस्तता और बहुमुखी कार्यक्षमता के कारण एक तो किसान की सहजबुद्धि और साधारण प्रज्ञा तीव्र रहती है, दूसरे वह किसी एक काम को लेकर उसे व्यवसाय नहीं बना पाता।

५. ग्राम्य जीवन चिर साहचर्य के कारण प्रभावशाली. चूंकि ग्रामवासी एक ही स्थान पर रहते हैं, अपने भरण-पोषण के लिए, रक्षा के लिए और सामाजिक जीवन के लिए एक-दूसरे पर निर्भर करते हैं, इसलिए वे एक-दूसरे से घनिष्ठ होते हैं। उनके जीवन की करीब सभी बड़ी घटनाएं, उनके अनुभव एक दूसरे के सम्मुख ही होते हैं। इस साक्षात् सम्बन्ध का परिणाम यह होता है कि वे एक दूसरे के जीवन से परिचित ही नहीं होते, उसमें हस्ताक्षेप करने की क्षमता भी रखते हैं। उनका यह साथ-साथ का जीवन प्रत्येक के विकास को अपने प्रभाव में रंग देता है।

६. लोकापवाद का भय घनिष्ठता का परिणाम. इसी घनिष्ठता और सामूहिक जीवन के अत्यधिक प्रभाव के कारण प्रत्येक ग्रामवासी दूसरे के जीवन के सभी अंगों को जानता है, और यदि किसी के विरुद्ध कोई आक्षेप हो तो वह जंगल की आग की तरह सारे गांव में फैल जाता है। अपवाद से बचने का उपाय पाना कठिन है। चूंकि सारा जीवन, सारे सामाजिक सम्बन्ध गांव तक ही प्रायः सीमित रहते हैं इसलिए इस अपवाद से दूर नहीं जाया जा सकता, न ही ग्राम्य जीवन के घनिष्ठ अन्तःसम्बन्ध के कारण उसकी अवहेलना ही की जा सकती है। ग्राम में लोकापवाद या लोक-निन्दा मनुष्यों के चरित्र को बदल देने में बड़ा हाथ रखती है। जो लोग अपवाद से बचना चाहें वे केवल गांव से किनारा करके ही बच सकते हैं और इसी कारण कितने ही युवती-युवक नगरों को निष्क्रमण कर जाते हैं।

७. लोकापवाद का भय चरित्र नियंत्रण का साधन. लोक-निन्दा की

इस महती शक्ति के कारण लोगों का चरित्र खास परिधि में ही रहता है, और वे कोई ऐसा व्यवहार नहीं कर सकते, जिससे उनका गांव में रहना दूभर हो जाए। यही कारण है कि गांव में परिपाटियों का मान है, और जो चरित्र-धाराएं बन गई हैं, वह उसी तरह चली आ रही हैं।

८. आदर्शों और परम्पराओं की एकता. घनिष्ठता, लोकापवाद का डर और चरित्र-नियंत्रण के साथ-साथ ग्राम में कुछ ऐसे आदर्श स्थापित हो गए हैं, जो सभी के द्वारा स्वीकृत होते हैं। पुरखों के समय से चला आ रहा निर्विघ्न जीवन, प्रत्येक नई पीढ़ी को प्राप्त आदर्शों, नियमों और व्यवहार का पूंजीभूत कोष जो पहली पीढ़ी देती है, उसका अविच्छिन्न शृङ्खलाबद्ध दान, एक ही प्रकार के ऐतिहासिक, आर्थिक और सामाजिक वातावरण में पोषण और व्यक्ति का समूह पर अवलम्ब और घनिष्ठता—इन सब कारणों ने एक ही प्रकार के नैतिक आधारों, व्यवहारप्रणालियों और सामाजिक आदर्शों को जन्म दिया और विकसित किया। ग्रामय जीवन की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि व्यक्तियों के चरित्र-नियंत्रण और सामूहिक वातावरण के प्रभाव से एक ही प्रकार की विचारधारा, नियम-उपनियम और नैतिक स्तर व्यक्तियों द्वारा अपनाए जाते रहे हैं।

९. पुरातन से प्यार. यह एक स्वीकृत तथ्य है कि ग्राम्य जीवन की घनिष्ठता, एकता और सनातन से प्यार—ये गुण ग्राम की आत्मनिर्भरता से ही, जो कि ग्राम्य जीवन का आधार है, विकसित हुए हैं। अपनी सामाजिक विरासत से वह इसीलिए अधिक प्यार करते हैं कि एक तो वही उन्हें यह सुविधाएं प्रदान करती हैं; दूसरे, पुराने नैतिक आधारों के अनुसार ही उन्हें अपने चरित्र का आदर्श बनाना होता है; तीसरे, ग्राम्य जीवन की सीमित और संकुचित परिधि में न केवल समाज का व्यक्ति पर बहुत अधिकार होता है बल्कि समाज के बड़े-बूढ़े ही, जो स्वभावतः परिवर्तन के विरुद्ध, और शान्तिपूर्ण निर्विघ्न जीवन के हक में होते हैं, समाज के नैतिक आधारों के निर्णायक होते हैं।

१०. ग्राम परिवारों का समूह. ग्राम के व्यक्ति पर अत्यधिक प्रभाव का कारण यह भी है कि ग्राम व्यक्तियों का समुदाय न हो कर कुटुम्बों का समुदाय है, और कुटुम्ब की अपनी थोड़ी शक्ति नहीं होती। ग्राम कुटुम्बों का समूह क्यों है, यह जानने के लिए हमें याद रखना है कि एक तो कृषि के साथ के दूसरे आवश्यक कर्तव्य परिवार भर का सहयोग मांगते हैं, दूसरे एक

ही सम्पत्ति जो भूमि है, सन्तानों के भरण-पोषण के लिए भी आवश्यक है। आर्थिक हितों के पारिवारिक होने के कारण, सारे परिवार के सहयोग के कारण, कुटुम्ब का आपस का प्यार और एकात्मता बढ़ती है। कुटुम्ब का महत्व अधिक होने का एक बहुत महत्वपूर्ण कारण है कृषि की आर्थिक व्यवस्था में पिता का ऊंचा दर्जा। खेत में काम करने के लिए जिस प्रौढ़ता, बल और सामर्थ्य की आवश्यकता है वह माता नहीं दे सकती। पिता चूंकि श्रम और फल का स्वामी है, सम्पत्ति का स्वामी है, वह परिवार का मुखिया भी है। करीब-करीब सभी सामाजिक सम्बन्ध जो कहीं भी कृषि की व्यवस्था के प्रवेश के साथ विकसित हुए, पिता के परिवार का मुखिया होने, पुरुष के समाज में मुख्य होने, और राजा या अधिपति या सामन्त का राजनैतिक महत्व प्राप्त करने के रूप में विकसित हुए।

इस सारी आर्थिक अवस्था का स्वाभाविक और तार्किक परिणाम हुआ परिवारों का अधिक आंतरिक सामीप्य, व्यक्ति के विकास में परिवार का महत्वपूर्ण भाग और परिवारों का इकाइयों में गठन। ग्राम इन इकाइयों के समूह बने, और इसीलिए यह कहा गया है कि ग्राम्य जीवन कुटुम्बों का सामूहिक जीवन है, न कि व्यक्तियों का।

११. व्यक्ति पर परिवार या कुटुम्ब का आश्चर्यजनक सामर्थ्य. उपरोक्त कथन से स्पष्ट ही है कि मानव जीवन के विकास की ग्रामीण अवस्था में पिता का और परिवार के दूसरे सदस्यों का कितना अधिक भाग है। पितृसत्तात्मक समाज में जो कृषि व्यवस्था और सम्पत्ति के विकास के कारण सामाजिक व्यवस्था का आधार बना, और जिसमें पिता के मुख्य स्थान और प्रभुत्व का वर्णन ऊपर किया गया है, परिवार एक सुगठित इकाई बना, और अपने सदस्यों के जीवन को नियंत्रित करने लगा। सापेक्ष दृष्टि से पारिवारिक इकाइयों में स्पर्द्धा और द्वन्द्व के कारण भी यह गठन और प्रभाव तीव्र और प्रबल हुए।

१२. परिवार और समाज में नारी का स्थान. पितृ-सत्ता के कारण और नारी के घर में ही गृहिणी के विविध कर्तव्यों में फंसे रहने के कारण नारी का समाज में स्थान गिर गया और परिणाम स्वरूप पुरुष ने उसे पर्दाप्रथा, दासता और तरह-तरह की पाबन्दियों में जकड़ दिया। पत्नी पति की सम्पत्ति बनी और उन अधिकारों से वंचित हो गई जो पुरुष ने हथिका लिए। यहूदियों में, रोमन सभ्यता के प्रारम्भिक काल में, चीनी सभ्यता में और मिश्र

की सभ्यता में, भारतीय सभ्यता की ही तरह नारी अवला करार दी गई और पुरुष का खिलौना या आभूषण वन गई। इन सभी सभ्यताओं में पुरुष नारी को तलाक दे सकता था, परन्तु नारी इस अधिकार से वंचित थी ? और अपने ही देश में अभी तक विधवा विवाह सरलता से नहीं हो पाता था। चीन में लड़कियों को जन्म से ही लोहे के जूते पहना देना कि उनके पैर सुन्दर वन सकें, मुस्लिम जगत् में नारी की पराधीनता, पुरुषों को चार-चार स्त्रियों से विवाह की अनुमति—ये सभी सामन्तशाही के उस युग के कुछ अवशेष हैं, जो कृषि सभ्यता में विकसे और जो ग्राम के जीवन को अब भी प्रभावित करते आ रहे हैं। ग्राम्य जीवन में पुरातन से प्यार और रूढ़ियों और रिवाजों की गुलामी के कारण यही परिपाटी शताब्दियों से चली आ रही है।

१३. आचार-व्यवहार और रहन-सहन की सरलता. गांव में न तो नागरिक जीवन का सा वह स्पर्द्धा और ईर्ष्या का वातावरण ही है जो अधिक फैशन, तड़क-भड़क और अपने साथियों से ऊंचे रहने की भावना को जन्म देता है, न ही आर्थिक व्यवस्था ही शहर की प्रतियोगिता पर आधारित है। प्रकृति के साहचर्य के कारण, अपने ही गांव में सभी सामाजिक उपादान पाने के कारण और गांव के दूसरे लोगों से आत्मीयता और प्राथमिक सम्बन्धों के कारण एक सहयोग की—इकट्ठे मिल कर काम करने की भावना है, ईर्ष्या की भावना नहीं। सरलता और भोलापन जीवन और व्यवहार के मुख्य अंग हैं। परन्तु इन सबसे अधिक महत्वशाली कारण ग्रामों की आर्थिक दुर्दशा है।

ग्राम्य जीवन के आर्थिक पहलू

भूमिपति और भूमिहीन. हमारे देश में सामन्तशाही का युग दूसरी सभ्यताओं—पाश्चात्य सभ्यताओं से अधिक काल तक कायम रहा है, और अभी तक बहुत वड़ी मात्रा में उसने हमारे ग्राम्य जीवन को विषैला किया है। भारतीय कृषि समाज में भी चीन जैसी दूसरी पिछड़ी हुई जातियों की तरह शोषण का राक्षस ग्रामवासियों के मुख्य भाग को निर्धनता के गर्त में गिराता चला गया है। शताब्दियों की अन्याय और असमता की कठोर व्यवस्था ने समाज को दो-तीन विभिन्न वर्गों में विभाजित कर दिया है। जिनमें एक वर्ग वड़े कस्वों या शहरों में रहता है, धनी और मानी है, प्रवल है, जो कि दूसरे वर्ग के श्रम का फल खाकर, भोग-विलास की सामग्री का उपार्जन करके जीता है, सभ्यता के विकास का दावेदार वनता है, संस्कृति के मूल्यों को आंकता है। परन्तु दूसरा वर्ग जो ग्रामवासी वर्ग है, अधिकतर उन नर-कंकालों का समूह है जो इस असम

और विषम व्यवस्था के रथ के पहिये हैं जिसमें ऊंचा वर्ग सवारी कर रहा है। अधिकांशतः न तो वे भूमि के स्वामी हैं, और न ही वे अपने श्रम का फल पाते हैं क्योंकि भूमि के स्वामी तो ज़मींदार लोग हैं, और फसल का एक तिहाई और आधा तक भाग बटाई की सूरत में उन्हें भूमि के किराये के तौर पर भूमिपतियों को भेंट देना पड़ता है।

इन दो वर्गों के साथ ऐसे वर्ग भी न्यून मात्रा में हैं, जिनके पास थोड़ी बहुत भूमि है। वे स्वयं खेती करते हैं, परन्तु उसकी आय उनके भरण-पोषण के लिये पर्याप्त नहीं होती। फिर उनके धरती के टुकड़े अलग-अलग पड़े रहते हैं जो उनके श्रम के फल को कम कर देते हैं। भूमि के स्वामित्व और खेती के बारे में भारत में मुख्यतः तीन व्यवस्थाएं प्रचलित हैं : (१) ज़मींदारी, (२) रैयत वाड़ी, (३) महलवाड़ी।

ज़मींदारी. इस प्रथा के अंतर्गत सरकार को कुल माल गुज़ारी अदा करने का उत्तरदायित्व ज़मींदार का होता है और उसी को भूमि का स्वामी मान कर किसानों से बटाई वसूल करने का अधिकार दिया जाता है। किसानों को ज़मीन से बेदखल करने तक का अधिकार ज़मींदारों को होता है।

रैयतवाड़ी. किसान अपनी-अपनी ज़मीन पर खेती करके सीधे सरकार को लगान देते हैं। भूमि पर स्वामित्व सरकार का ही होता है।

महलवाड़ी. सरकार को लगान देने का उत्तरदायित्व सारे ग्राम पर होता है और ग्राम ही भूमि का स्वामी होता है। कूवों या पशुओं की संख्या के अनुसार प्रत्येक किसान का भूमि और लगान में भाग नियत कर दिया जाता है :

भारत में कृषि भूमि पर इन तीनों प्रथाओं का विस्तार इस प्रकार है :

भूमिव्यवस्था का स्वरूप	क्षेत्रफल दस लाख एकड़ में	कुलक्षेत्र का प्रतिशत	जिन प्रमुख प्रान्तों में प्रचलित हैं
रैयतवाड़ी	१८३	३६	मद्रास, बम्बई, आसाम
ज़मींदारी (स्थायी बंदोबस्त)	१३०	२५	बंगाल, बिहार, मद्रास, उड़ीसा
ज़मींदारी और महलवाड़ी (अस्थायी बंदोबस्त)	१९९	३९	मध्यप्रदेश, पंजाब, उत्तरप्रदेश

रूढ़िवाद, निराशा और संतोष. किसानों की बेदखली, किसान और

960

सरकार के बीच में मध्यस्थ जमींदार का शोषण, किसान और ग्राहक के बीच में साहूकारों की लूट, इन समस्याओं के कारण गांव में ग़रीबी और निराशा का घर हो गया है। बिहार के गांवों में ग्रामीणों की आय का अंदाज़ लगाने पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि वे ४४४ रु० साल से लेकर ६८८ रु० साल तक पैदा करते हैं। भारत की आर्थिक और सामाजिक दुर्दशा के कारण अशिक्षा, मूढ़ता और रूढ़िवाद गांव के जीवन का अभिन्न अंग बन गए हैं। न तो उद्योग-धंधे हैं, न भूमि का न्यायपूर्ण बटवारा। किसानों की इतनी बड़ी संख्या के भूमि पर ही निर्भर होने से निर्धनता और भूख बढ़ रही है। संतोष, भगवान् पर भरोसा, भाग्यवाद और परिवर्तन से चिढ़, रूढ़ियों और अन्यायों से प्यार, अपनी दुर्दशा के प्रति सहनशीलता आज ग्रामीणों की विचारधारा को जकड़े हुए हैं।

गांवों का श्रेणी विभाजन

गांवों को चार श्रेणियों में बांटा जा सकता है:

१. बिल्कुल छोटे गांव. इनको मजरुआ, पट्टी या पल्ली भी कहते हैं, यह ग़रीब कमियों, खेतिहर मज़दूरों या मजारों के होते हैं। इनमें दस से लेकर चालीस परिवार तक रहते हैं। धरती के स्वामी तो क़स्बों या शहरों में रहते हैं। निर्धनता और अज्ञान का ही साम्राज्य इन गांवों में है।

२. कुछ बड़े गांव. इनकी आबादी दो सौ से पांच सौ तक लगाई जा सकती है। इनमें अच्छी ज़मीन रखने वाले मजारे, कुछ छोटे किसान, बढ़ई और ग्वाले रहते हैं। आर्थिक अवस्था कुछ अच्छी होती है।

३. मुख्य गांव. इनमें आबादी हज़ार बारह सौ तक होती है और जो ज़ैल या परगने का केन्द्र समझे जाते हैं। पटवारी, डाकखाना, छोटा स्कूल वैद्य, पुरोहित, कुछ एक बनियों की दुकानें, बढ़ई, लुहार, नाई इत्यादि की आबादी रहती है। ज़मींदार लोग और बड़े-बड़े किसान पक्के मकानों में रहते हैं। पेंठ भी सप्ताह में एक बार लगती है।

४. कस्बे. इनकी आबादी एक हज़ार से पांच हज़ार तक समझी जा सकती है। बाज़ार, डाक्टर, मिडल या कहीं-कहीं हाई स्कूल, आटे की चक्की और ऐसे ही छोटे-छोटे उद्योग धंधे होते हैं।

ग्रामों पर आधुनिक प्रगति का प्रभाव

असंतोष, नगर की ओर अभियान. बड़े-बड़े नगरों के उदय के कारण,

यातायात और आवागमन के साधनों की सुलभता के कारण और नए विचारों की लोकप्रियता के कारण ग्राम वदल रहे हैं। शहरों ने युवकों को श्रम के लिए अपनी ओर आकर्षित किया है। ग्रामों के सम्पन्न युवक सम्माननीय जीवन के लोभ में शहरों को जा रहे हैं। इसी कारण आज ग्राम को शिक्षित युवक नेता नहीं मिलते, जो अत्यन्त खेद का विषय है।

आने-जाने के साधन सुलभ हो जाने से शहर और समीप और दूर के गांवों में सम्पर्क वढ़ा है। नए ज्ञान और विचारों ने नई जागृति और अन्याय के प्रति विद्रोह को जन्म दिया है। राजनैतिक आंदोलनों के कारण ग्राम जो आज अंगड़ाई ले रहे हैं, वह प्रतिदिन के भूमि-आंदोलनों और प्रदर्शनों में स्पष्ट झलकती है। परन्तु फिर भी पर्दा, अन्धविश्वास, परिवार की एकता इत्यादि रूढ़ियां अभी अक्षुण्ण वनी हुई है। हो सकता है गांवों में वढ़ते हुए उद्योग-धंधे, नई विचारधाराएं, इस जड़ता व इस रूढ़िवाद का ह्रास कर देंगी, जो शताब्दियों से गांव के जीवन का अंग रही हैं। थुरो ने सिद्ध किया है कि ग्राम परिवार में पिता का नियंत्रण सभी सभ्यताओं का मुख्य अंग रहा है।

ग्रामीण जीवन कितना पारिवारिक रहा है, इसका अंदाज़ा इससे हो सकता है कि अमेरिका में ८२% परिवारों ने इकट्ठे ही वंधुजनों का आतिथ्य स्वीकार किया। नए साधनों के प्रयोग में भी ६९% परिवारों ने इकट्ठे ही मोटर का सफ़र किया, ऐसा लगता है कि नवीन साधन, आविष्कार और धाराएं भी गांव की वुनियादी व्यवस्था में व्यवस्थित हो जायेंगी, और वह वुनियाद अक्षुण्ण रहेगी, परन्तु कितने ही ऐसे भी रिवाज होंगे, जो इस नए आक्रमण के सामने न ठहर पायेंगे। निर्धनता और अशिक्षा यदि दूर हो सके तो निराशा नष्ट होगी, रूढ़िवाद और अत्यधिक संतोषभावना व धार्मिकभावना भी कमज़ोर पड़ जायेगी। परन्तु अभी तो पुरातन का प्रभाव नवीनता का हौव्वा दिखाकर शोषण के कारण नागरिकों के प्रति अविश्वास और घृणा ही भर रहा है।

नागरिक जीवन

नगरों का उदय. संक्षेप में कहा जाए तो जव मनुष्य की उत्पादन शक्ति इतनी वढ़ गई कि वह सामान्य आवश्यकता से अधिक पैदा करने लगा, और जव आर्थिक व्यवस्था ने फालतू श्रम को कुछ व्यक्तियों के लाभ के लिए प्रयुक्त करना सम्भव वना दिया, तो नगरों का उदय हुआ।

नगरों के उदय के दो बड़े महत्वपूर्ण काल रहे हैं जिन्हें हम व्यापारिक क्रान्ति और औद्योगिक क्रान्ति के काल कहा करते हैं। ग्राम के विकास के साथ-साथ जब आत्मनिर्भरता की जगह अधिक उत्पादन, और 'बाज़ार' या मंडी के लिए उत्पादन का आदर्श लोकप्रिय हुआ, और आयात और निर्यात के साधनों ने विकास करके वस्तुओं का एक जगह से दूसरी जगह जाना सम्भव बनाया तो नगरों का उन केन्द्रीय मंडियों के रूप में विकास हुआ जिनमें आसपास के गांवों के लोग क्रय-विक्रय के लिए अपना सामान लाने लगे। एक ऐसा वर्ग जिसका काम ही व्यापार हो गया, नगरों को बसाने लगा।

यह व्यापार तभी सम्भव हुआ जब अपनी आवश्यकता से अधिक उत्पादन और उत्तम यातायात के साधनों का विकास संभव हुआ। परन्तु यह कहना कि केवल व्यापार के कारण ही नगरों का जन्म और विकास हुआ, अक्षरशः सत्य नहीं है। कारण, कि उन्नत सामंतशाही ने अपने धन और अपने दासों या कृषकों के फालतू श्रम से व्यापार के अधिक विकास से पहले भी नगरों को जन्म दिया था। बहुत पुरानी सभ्यता में भी नगरों का अस्तित्व विद्यमान था।

व्यापारिक क्रान्ति ने हाथ के छोटे-छोटे उद्योग-धंधों को भी उन्नत किया। नगरों में ऐसे समूह भी बसे जो किन्हीं विशेष धंधों में विशेष दक्षता रखते थे। इस प्रकार उद्योगों के विकास का अवसर भी आ गया। तेरहवीं शताब्दी में धन, व्यापार की प्रगति के कारण भौगोलिक भ्रमण, भ्रमण द्वारा ज्ञान का संवर्द्धन, व्यापारी वर्ग का धन और ज्ञान का स्वामी हो जाना—इन तत्वों ने राजा, सामंत और पुरोहित-सामंतों के विरुद्ध आंदोलन उठाया। खेतिहर मजदूर ने व्यापारी का साथ दिया और इस विद्रोह से यूरोप में प्रोटैस्टैंटिज़्म, लोकतंत्र, स्वतंत्रता इत्यादि के विचारों का विकास हुआ। चूंकि व्यापारी वर्ग किसानों का माल खरीदने और बेचने की स्वतंत्रता चाहता था जिससे कि वह व्यापार बढ़ा सके, वह इस बात के विरुद्ध था कि सामंतशाही की सरकार व्यापार में हस्ताक्षेप करे, इसलिए व्यापार की स्वतंत्रता या अल्पतम हस्ताक्षेप (Laissez Faire) और लोकराज्य की बात चली।

व्यापार की प्रगति के साथ-साथ उद्योग-धंधों की उन्नति हुई और इसमें नगरों की उद्योग-धंधों को एकत्र करने और उन्नति के लिए ज़रूरी शृङ्खलाबद्ध अभ्यास और अनुभव की सामग्री ने, बहुत बड़ा भाग लिया। उद्योगों की उन्नति—भाप, करघे, रेल, जहाज़, तार, बेतार के तार, इन सभी कारणों से

बहुत बढ़ी। बड़ी-बड़ी मैशीनों का निर्माण हुआ और उनके लिए जितने श्रम की आवश्यकता थी उसके लिए गांव से श्रमिकों को लाया गया। औद्योगिक केन्द्रों ने बड़ी उन्नति की। कितने ही पुराने व्यापार-केन्द्रों का ह्रास हो गया।

स्पष्ट है कि एक ऐसी सभ्यता ने ही, जिसमें दूसरों के श्रम का फल बटोरा जा सकता था, उसे भोग विलास और प्रगति का साधन बनाया जा सकता था, पूंजी के तौर पर प्रयुक्त किया जा सकता था, नगरों की आधारशिला रखी। व्यापार, उद्योग, श्रमिक, बीच के लोग और पूंजी, व्यापार और धन के स्वामी—यही नगरवासी बने। सभ्यता के तीव्र विकास ने शिक्षा, राजकीय प्रणाली, राष्ट्रों का एकीकरण और विकास; एवं विज्ञान की प्रगति ने चिकित्सालय आदि संस्थाओं को जन्म दिया और विकासित किया, और इस प्रकार नगरों में ही आधुनिक सभ्यता और उसकी संतान ने अपना आसन जमाया।

नागरिक जीवन की विशेषताएं

नागरिक जीवन, जो गांव की खाद्य-सामग्री के उत्पादन और दूसरे कच्चे माल के उत्पादन पर आधारित है, न तो प्रकृति का सहवासी है, न ही अलग-थलग और आत्मनिर्भर है। सम्बन्धों की भिन्नता, बहुमुखता इसका आधार है। कितने ही लोग, किस-किस प्रकार के लोग, कितने ही अलग-अलग प्रकार के धंधों में रत, न जाने कहां-कहां से आकर इसके वासी बने—यह है नगर की विशेषता।

१. समुदायों का समुदाय. नागरिक समूह ऐसे लोगों का ढीला-ढाला समूह है जो एक सीमित क्षेत्र में बहुत घने हो कर रहते हैं और उनमें अन्तः-प्रेरणा के अवसर अत्यधिक होते हैं। व्यापार और उद्योग ही जीवन-निर्वाह के बड़े साधन होने के कारण लोग प्राकृतिक वातावरण से दूर रहते हैं। नगर छोटे-छोटे प्रभाव-केन्द्रों का समूह होता है और मैकेंजी के शब्दों में एक नगर केवल एक समुदाय ही नहीं, अपितु समुदायों का समुदाय, अर्थात् सर्वोपरि समुदाय (Super Community) है।

२. पारिवारिक एकता का ह्रास. चूंकि एक ही व्यक्ति को अपने आर्थिक धंधे के लिए एक समुदाय या समूह का सदस्य बनना पड़ता है, और अपनी सामाजिक आवश्यकता-पूर्ति के लिए दूसरे समूहों का, और चूंकि परिवार के अलग-अलग सदस्य अलग-अलग समूहों के अंग बनते हैं, इसलिए न तो उनकी परिवार पर वह निर्भरता रहती है और न ही वह सहयोग रहता है, जो कि

ग्राम में है। प्रत्येक व्यक्ति अपने तौर पर आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र हो जाता है।

३. सामुदायिक घनिष्ठता का अभाव. एक ही या किसी खास समूह के अंग न होने के कारण न तो वह घनिष्ठता आ पाती है और न ही लोक-निंदा का भय होता है। चूंकि अपने चरित्र के लिये एक खास समाज के प्रति ज़िम्मेवारी नहीं होती, इसलिए समाज का भय नहीं रहता।

४. चरित्र-शैथिल्य. किसी ज़िम्मेवारी के अभाव के कारण, सामाजिक आवश्यकताओं की अपूर्ति के कारण, घनिष्ठता और आदर्शों की एकता के अभाव के कारण और पारिवारिक एकता के छिन्न-भिन्न हो जाने से जो गैर ज़िम्मेवारी की भावना उदित होती है, उसके कारण चरित्र-निर्माण की ओर कम ध्यान दिया जाता है। गांव की तरह न तो पारिवारिक मूल्य और नैतिक आधार ही अनिवार्यतः अनुसरणीय होते हैं, न ही लोकनिंदा या ग्रामपंचायत के आक्षेप के भय से चरित्र को उन मूल्यों पर परखते रहना जरूरी होता है। परिणाम यह होता है कि न आर्थिक उपादानों इत्यादि में परिवार और एक खास समुदाय का सहारा लेना होता है, न ही चरित्रगठन, निर्माण और जीवन के चलन में।

५. बाह्य प्रभावों की प्रधानता. व्यक्ति अपने परिवार में नहीं, बल्कि अपने साथियों में अपना मंडल और अनुकूल वातावरण प्राप्त कर लेता है। उनके—अनेक स्थानों के, अनेक आदर्शों को मानने वाले व्यक्तियों के—संसर्ग में वह नए आधार और आदर्श बनाता है। इन्हीं धारणाओं से वह अपने परिवार के लोगों या समीप के लोगों के चालचलन का मूल्यांकन करता है, और इस प्रकार उनके वातावरण और प्रभाव से दूर होता चला जाता है।

६. व्यक्तिवाद का उदय पारिवारिक जीवन का विघटन. इन सभी प्रभावों का परिणाम यह होता है कि व्यक्ति अपने और अपने परिवार और समाज के आदर्शों में अन्तर देखता है, उन पर टिप्पणी करता है और एक स्वतन्त्र दृष्टिकोण से सारे समाज की आलोचना करता है। आर्थिक स्वतन्त्रता, भिन्न आदर्श और मूल्य, परिवार के प्रभाव का ह्रास यह सभी एक व्यक्ति को जो ऐसे वातावरणों से घिरा काम करता है जो न तो गांव की तरह स्नेहपूर्ण होते हैं न सुहृद्, बल्कि यान्त्रिक ढंग के, असहिष्णु, और कभी-कभी ईर्ष्यालु और स्पर्द्धाशील होते हैं, तीव्र व्यक्तिवादी बना देते हैं। वह बार-बार अपने पर ही भरोसा करना सीखता है, बार-बार अपने को सन्तुलित करता है, और एक

विचारधारा, एक मापदण्ड बना लेता है। इसी प्रकार सारे वातावरण के कारण व्यक्तिवाद, आत्मतुष्टि और स्वार्थ की भावना का प्राबल्य हो जाता है।

७. अधिक काम के कारण असन्तोष और अशान्ति. असन्तोष और अशान्ति नागरिक जीवन के विशिष्ट लक्षण हैं। इस के दो कारण हैं :

(क) नागरिक जीवन में ग्रामीण जीवन की तरह हितों की एकता और प्रवृत्तियों की तृप्ति वाला वातावरण नहीं मिलता। इससे अतृप्ति और अशान्ति का होना स्वाभाविक है।

(ख) नगर में काम की ज़्यादती, अलग-अलग लोगों से मिलना, वातावरणों की अनेकता, सन्तुलन की बराबर अनोखी और अपूर्ण चेष्टा।

८. असन्तुलित व्यक्तित्व. न केवल इसलिए कि व्यक्तिवादी और अकेला-सा होने की वजह से, बल्कि इसलिए भी कि व्यक्ति समाज में बहुत बड़ी विषमता देखता है, प्रलोभन देखता है और उन प्रलोभनों की तृप्ति उसे असम्भव लगती है, उसकी लालसाओं का दमन होता है, असन्तोष होता है, व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का सम्यक् विकास नहीं कर पाता। अतृप्ति और दमन के कारण निराशा का जो बीज उसके मानस में बोया जाता है, वह इस विकास में बाधक होता है।

९. अपराध की ओर. असन्तुलित व्यक्तित्व, ईर्ष्या और स्पर्द्धा—ये व्यक्ति को अपराध की ओर धकेलते हैं और वे अस्त्र जिनसे ग्रामीण समाज अपराध की ओर अग्रसर होने की सम्भावना को रोक पाता है—लोकापवाद से चरित्र-नियंत्रण करने का अस्त्र, पारिवारिक स्नेह का आकर्षक वृत्त—वे अनुपस्थित होते हैं। न ही वह आदर्शों की प्रेरणा होती है। आदर्श तो टूट-से गए होते हैं। नए मूल्य और मान्यताएं बनने की अवस्था में होती हैं। अपराध की ओर धकेलने में निर्धनता, कठोरता, निःस्नेह वातावरण और घनिष्ठ सम्बन्धों की अनुपस्थिति, सभी का हाथ होता है।

घनिष्ठ सम्बन्धों की अनुपस्थिति ही नहीं, यहां तक कि एक दूसरे को जानना भी घनी आबादी ने कठिन बना दिया है। बड़े नगर के एक ही मकान में रहने वाले कुटुम्ब भी कभी-कभी एक दूसरे को नहीं जानते। जब कि एक ऐसे ग्राम में जहां १५०० व्यक्ति रहते हैं प्रत्येक व्यक्ति चतुर्थ भाग के नाम और चेहरे से परिचित होता है। नगर के इस प्रभाव के कारण अपराध करना और छिप सकना सुगम हो गया है। चोरी जो नागरिक अपराधों का ९०-९५ प्रतिशत भाग

है, नगर में आसानी से छिपाई जा सकती है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के नगरों के विवरण ने निम्नलिखित आंकड़ों पर प्रकाश डाला है। ये आंकड़े प्रति एक लाख मनुष्यों में से पुलिस को मालूम अलग-अलग अपराधों के कर्ताओं का व्योरा देते हैं।

अपराध	ढाई लाख से अधिक आवादी वाले नगर	एक लाख से ढाई लाख तक आवादी वाले नगर	पचास हज़ार से एक लाख तक आवादी वाले नगर	पच्चीस से पचास हज़ार तक आवादी वाले नगर	दस से पच्चीस हज़ार तक आवादी वाले नगर	दस हज़ार से कम आवादी वाले नगर
हत्या	५·६	७·२	५·८	३·६	३·७	४·३
वलि (लिचिङ्)	६·३	४·६	३·४	२·६	१·७	२·९
वलात्कार	१०·०	६·५	६·६	६·६	६·६	७·९
डकैती	८०·५	५५·०	५२·४	३४·०	३०·०	२७·०
आक्रमण	४८·५	५४·६	५७·२	३३·७	३१·०	२४·९
सेंध लगाना	३७४·१	४१५·५	३५६·०	३२६·८	२५४·८	२२४·२
सामान्य चोरी	९२७·९	९८०·०	९३२·२	८६५·६	६६६·९	४८०·१
मोटर-कार की चोरी	२३३·७	२१३·२	१८३·८	१६८·८	१२१·८	८७·३

१०. सामुदायिक विकेन्द्रीकरण के कारण सामाजिक विघटन. व्यक्ति के विकास में अवरोध, दमन, स्पर्द्धा, असन्तोष, घनिष्ठता की कमी और नागरिक जीवन के उलझाव में, जीवन की वेगपूर्ण रफ़्तार में उलझे व्यक्तित्व के कारण व्यक्ति न केवल अशांत हो जाता है, वरन् कम उत्तरदायित्वपूर्ण भी। एक नए वातावरण की आशा, एक ऐसी भावना कि वह अपने जीवन से भाग जाए; मनुष्य में ऐसी अतृप्त भावनाएं छोड़ देते हैं कि कोई भी सुझाव (Suggestion) होने पर, उपद्रव होने पर, भीड़ होने पर वह अपने को भूल कर ऐसे कार्य करने लगता है, जो वह सामान्यतः करना नहीं चाहता। अमेरिका के नगरों में नीग्रो लोगों को जलाने के लिए भीड़, भारत में नगरों में

साम्प्रदायिक दंगे—यह सभी ऐसे ही उपादानों का प्रमाण हैं। क्रान्तियों के बीज इसी विघटन के कारण बोए जा रहे हैं।

११. पुरुषों की अधिकता, उच्चतर विवाहावस्था, अल्प सन्तान. चूंकि गांव की अपेक्षा नगर अधिक पारिवारिक स्वातन्त्र्य प्रदान करता है और लोग आर्थिक हितों के लिए शहर में आते हैं, इसलिए यहां स्त्रियों की संख्या कम होती है।

नगरों में बीस से पचपन साल तक के लोग अधिक होते हैं। कारण यही है कि ग्रामों से कामधंधे के लिए ही लोग नगर में अधिक आते हैं। इससे छोटी अवस्था के लोग यदि गांव और शहर की जनसंख्या में अलग-अलग गिने जायं, तो १६६ और १०० का अनुपात निकलेगा। इसका एक कारण यह भी है कि निःसंतान परिवार नगर में अधिक हैं। कार्टल और बर्गेस के अन्वेषण के अनुसार अमेरिका में छोटे गांव में १६ प्रतिशत, कस्बे में २४ प्रतिशत, नगर में ३२ प्रतिशत और बहुत बड़े नगर में ४८ प्रतिशत निःसंतान परिवार हैं।

पारिवारिक सुरक्षा के अभाव में युवकों के लिए सर्वप्रथम आत्मनिर्भर होना आवश्यक है; तभी वे विवाह कर सकते हैं। इसलिए वे विवाह अधिक अवस्था में करते हैं। इससे कहीं-कहीं विवाहपूर्व यौन-सम्बन्धों का विकास भी होता है। नगर में अविवाहित अधिक होते हैं, तो निःसंतान परिवारों और दूसरे असन्तोष को उभारने वाले तत्वों के कारण घरेलू कलह और विवाह विच्छेद भी अधिक होते हैं। विधुर, विवाहविच्छेद प्राप्त पुरुष, व अविवाहित—यह अपनी अतृप्त यौन और पारिवारिक कामनाओं को तृप्त करने के लिये दूसरे प्रकार के सम्बन्ध स्थापित करते हैं। जिनसे वेश्या, सोसाइटी गर्ल, और इसी प्रकार की अन्य संस्थाओं का जन्म होता है।

नगरों के प्रकार

नगरों को तीन भागों में बांटा जा सकता है, छोटे नगर : मध्यम कोटि के नगर और केन्द्रीय नगर।

छोटे नगर. ऐसे नगर जो पहले कस्बे थे, लेकिन व्यापारिक विकास के कारण या छोटे उद्योग-धन्धों के कारण बड़े बन रहे हैं, पहल कोटि में आते हैं। ऐसे नगरों की जनसंख्या पांच हज़ार से पच्चीस हज़ार तक कूती जा सकती है। इन नगरों में डाकखाना, अच्छा बड़ा बाज़ार, छोटों

उद्योग-धंधे, हस्पताल, हाईस्कूल, तहसीलों के दफ्तर, म्युनिसिपैलिटी इत्यादि होते हैं। आबादी अधिकतर व्यापारी वर्ग की होती है या ऐसे कामकाजी लोगों की जिन सबको मिलाकर मध्यम-वर्ग कह सकते हैं। गांवों की जो लूट साहूकारों ने गत शताब्दियों में की है, उसके कारण कतिपय धनाढय साहूकार व ज़मींदार भी यहीं बसते हैं।

मध्यम कोटि के नगर. ये अच्छे उद्योगों और बड़ी मण्डियों पर आधारित होते हैं। इनकी जनसंख्या पच्चीस हज़ार से एक लाख तक आंकी जा सकती है। यहां जीवन की प्रायः सभी सुविधाएं प्राप्त हो सकती हैं और धनी और निर्धन की विषमता और भयानक हो जाती है। सड़कें और सवारी के साधन भी अधिक अच्छे व उन्नत होते हैं।

बड़े नगर. ये एक लाख से चार लाख तक की आबादी के समझे जा सकते हैं। विषमता का आधिक्य, पारिवारिक सम्बन्धों और घनिष्ठता का पूरा अभाव, विशेष वर्गों का आधिक्य, सम्पन्नता, बड़े-बड़े कारोबार, ऊंचे-ऊंचे प्रासाद और दूसरी ओर शहर के केन्द्र से दूर निम्न कोटि के लोगों में किशोर-अपराध-प्रवृत्ति (Juvenile Delinquency), ऊपर के लोगों में चारसौ बीस, ठग और शरीफ़ वेशभूषा के लुटेरों की प्रबलता होती है।

जो केन्द्रीय नगर राष्ट्रीय महत्व के उद्योगों को अपनेमें लिए होते हैं, ऐसे हितों को अपने में समाए होते हैं जो राष्ट्रीय सत्ता का नियन्त्रण करते हैं, व्यापारिक, राजनैतिक सभी दृष्टियों से—जहां देश-देशान्तरीय सभ्यताओं का सम्मिश्रण होता है, फैशनों का चलन होता है; ऐसे नगर प्रायः चार लाख से अधिक आबादी के होते हैं। दिल्ली, बम्बई, कलकत्ता आदि ऐसे ही नगर हैं।

नागरिक और ग्रामीण जीवन में अन्तर

१. ग्राम समुदाय है, और वह ग्रामवासियों की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है : इसी कारण व्यक्तित्व पर, आदर्शों इत्यादि पर प्रभाव डालता है। नगर में ऐसा नहीं हो पाता।

२. घनिष्ठ सम्बन्धों का आधिक्य ग्राम में है, नगर में नहीं; लोकापवाद का भय और चरित्र-नियन्त्रण, दोनों का नगर में अभाव है।

३. प्रकृति से मेल—ग्राम जीवन में प्रकृति से निकटता और सरलता होती

है परन्तु नगर में उससे दूरी विषमता का कारण बनती है। जीवन की तीव्र गति और जटिलता के कारण छल कपट भी अधिक होता है।

४. पारिवारिक जीवन की शिथिलता नगर की विशेषता है। ग्राम के अधिक गुंथे और गंठे परिवार में अधिक कलह और विच्छेद सम्भव नहीं है परिवार ग्राम में एक आर्थिक, सामाजिक और प्राणिक इकाई है, पर नगर में प्रायः एक प्रीति और कामतृप्ति पर आधारित संस्था है।

५. सामाजिक सम्बन्धों की घनिष्ठता और पूर्ति की दृष्टि से ग्राम आत्म-निर्भर (Self-contained) है, पर नगर इन को कम करके दूसरे सम्बन्धों —राजनीतिक, धार्मिक इत्यादि की गति तीव्रतर करता है और समुदाय की जगह समितियों और फिर अधिक विकसित अवस्था में संस्थाओं को जन्म देता है; और सामाजिक सम्बन्धों की बहुमुखता से संस्कृति को समृद्ध करता है।

६. आवागमन के साधनों के विकास ने नगर में ऐसे सामाजिक संबंधों को जन्म दिया है जो अपने मुहल्ले या कारोबार की जगह तक ही नहीं बल्कि जहां भी मनुष्य आसानी से जा सकता है, वहां तक पहुंचें। मनुष्य एकमात्र अपने स्थानीय वातावरण के प्रभाव की ही रचना नहीं रहा है। इस बात ने भी संस्कृति के विकास को तेज किया है। पुरातन पर नवीनता हावी हुई है।

७. अपराध नगर में अधिक होते हैं क्योंकि घनिष्ठता का जो तत्व ग्राम में है, नगर में नहीं है। व्यक्ति के विकास के दमन, अवरोध, अतृप्ति, और असंतोष ने अपराध और समाजिक विघटन को भी जन्म दिया है। जटिलता, घनी आबादी, विशेषीकरण और अतृप्ति के कारण वेश्यायें और सभ्य डाकू अधिक हो गये हैं।

८. भीड़, स्थान की कमी, देर में विवाह, चिंता—इन कारणों से ग्राम की अपेक्षा कम सन्तानवान् परिवार नगर में अधिक मिलते हैं।

९. शहर और गांव में मृत्यु और शिशुओं की मृत्यु के आंकड़े नीचे दिए जा रहे हैं। ये आंकड़े श्री पेट्स की 'पश्चिमी यूरोप में खाद्य उत्पादन' से लिए गये हैं।

देश का नाम	साधारणतः मृत्यु का दर प्रति एक हजार मनुष्यों में		शिशु-मृत्यु संख्या प्रति एक हजार जन्म जीवित शिशुओं में	
	नगर	ग्राम	नगर	ग्राम
नीदरलैण्ड्स	८·४	९·४	३८	४४
स्विट्ज़रलैण्ड	१०·८	१२·२	४०	४९
डैन्मार्क	११.४	१०·४	६५	७४
इंग्लैण्ड	१२·०	११·६	६०	५३
जर्मनी	१२·०	११.५	६४	६८
फ्रांस	१३·६	१७.२	७२	६६

छठा अध्याय

परिस्थिति-शास्त्र

व्यक्ति का परिस्थिति से सम्बन्ध

मनुष्य चूंकि अपनी बुनियादी आवश्यकताओं—टामस के शब्दों में, सुरक्षा, नए अनुभवों की जिज्ञासा या शारीरिक आवश्यकताओं—भूख, मलत्याग, निद्रा, थकान, काम वासना आदि को पूरा करने के लिए अपने वाह्य वातावरण पर निर्भर रहता है, और चूंकि वह अपने वातावरण से प्रेरित होकर प्रतिक्रिया करता है इसलिए मनुष्य पर वातावरण का बहुत प्रभाव पड़ता है। यहां तक कि व्यक्तित्व को व्यक्ति की वातावरण के प्रति प्रतिक्रिया तक कह दिया गया है।

यह वातावरण वाह्य भी है और आन्तरिक भी। ऐसा भी है कि जो मनुष्य की प्रतिक्रिया से प्रभावित हो और ऐसा भी जो मनुष्य को प्रभावित कर सके। हमारी भौगोलिक परिस्थिति, प्राकृतिक परिस्थिति और सीमाएं, हमारी आनुवंशिकता, हमारी सामाजिक विरासत—यह वातावरण के मुख्य अंग हैं। व्यक्तित्व के विकास पर आनुवंशिकता का कितना प्रभाव है और वातावरण का कितना, इसका विवेचन पीछे किया जा चुका है। हमारी सामाजिक विरासत मानवों के सामाजिक सम्बन्धों, उन सामाजिक सम्बन्धों, जिनसे संस्कृति और सभ्यता का जन्म हुआ है, हमारे मानव समूह, समुदाय इत्यादि से सम्बन्धित है। व्यक्तित्व के विकास पर इसका इतना अधिक प्रभाव है कि अल्प व्यक्तिगत अन्तर को छोड़ कर एक ही संस्कृति की संतानों में बहुत समानता होती है। पर हमारी भौगोलिक परिस्थिति व प्राकृतिक वातावरण का भी हम पर बहुत अधिक प्रभाव होता है। इस प्रभाव को तीन भागों में बांटा जा सकता है: भौगोलिक परिस्थिति, प्रादेशिक परिस्थिति और जनसंख्या। तीनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध भी है।

स्टीनर ने अमेरिकन समुदाय के बारे में लिखते हुए परिस्थिति-शास्त्र के महत्व पर इस प्रकार प्रकाश डाला है: "समुदायों के उदय और विकास में परिस्थिति का महत्व स्पष्ट है। किसी भी स्थान के भूमितल की बनावट, परिवहन

के साधन, उद्योग-धन्धों के प्रकार और समूची आर्थिक व्यवस्था समुदाय की सामाजिक व्यवस्था को प्रभावित करते हैं, और उसके भविष्य के विकास की सीमा निर्धारित कर देते हैं।"

सेमुअल स्मिथ ने परिस्थितिशास्त्र के बारे में लिखा है : "परिस्थितिशास्त्र मनुष्य को, उसके सांस्कृतिक और संस्थात्मक वातावरण से भिन्न, प्राकृतिक वातावरण में अध्ययन करता है। एक ही स्थान के निवासी, इकट्ठे रहने वाले मनुष्यों में जो प्रतियोगिता या सहयोग की भावनाएं अनिवार्यतः जन्म लेती और विकास पाती हैं उनके परिणाम स्वरूप परिस्थितिशास्त्र का भी विकास होता है।

परिस्थिति के प्रभाव को हम पांच भागों में बांट सकते हैं :

१. भूतल की बनावट के कारण होने वाले प्रभाव।
२. जलवायु का प्रभाव ।
३. प्राकृतिक पदार्थों के कारण प्रभाव।
४. प्रादेशिक प्रभाव।
५. जनसंख्या के कारण प्रभाव।

भूगोल और सभ्यता का एक दूसरे पर प्रभाव

भूतल, जलवायु और प्राकृतिक पदार्थ—यह तीनों भूगोल के अध्ययन के अन्तर्गत आते हैं। परन्तु थोड़े ही समय से यह समाज-शास्त्रियों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने लगे हैं। अरिस्टोटल, मौंटेस्क्यू इत्यादि कितने ही पुराने लेखकों ने भौगोलिक परिस्थिति के प्रभाव को बहुत महत्वपूर्ण बताया है। परन्तु हाल ही में ला प्ले और डिमोलिज और बकल इत्यादि ने भी इस ओर ध्यान दिया है। ला प्ले और उनके अनुयायियों ने प्राकृतिक निवासस्थान और भूतल के सामाजिक सम्बन्धों से रिश्ते पर जोर दिया है। जर्मनी में रेट्ज़ल इंग्लैंड में बकल और अमेरिका में सैम्पल, डैक्स्टर और हंटिंगटन प्रभृति विद्वानों ने इन्हीं, धारणाओं पर सामाजिक इतिहास लिखे हैं। परन्तु किसी भी एक तत्त्व—आनुवंशिक-भौगोलिक या प्राणिक को लेकर समाज-विकास की कहानी लिखना भ्रान्ति की ओर ले जाएगा। भूगोल का प्रभाव है ही, इसमें सन्देह नहीं है। पर कितना ? बकल का कहना है कि भूमि और जलवायु के कारण ही सम्पत्ति का विकास होता है। परन्तु, जैसा कि मैकाइवर ने कहा है, पहाड़ी और पठार वाले न्यू इङ्गलैंड के समृद्ध इतिहास के बारे में क्या कहा जाए ?

हंटिंगटन के अनुसार अच्छी जलवायु सभ्यता का विकास करती है; फिर भी अच्छी जलवायु वाले जापान को पश्चिम से सभ्यता उधार क्यों लेनी पड़ी ?

सभ्यता भूगोल को उसी प्रकार प्रभावित करती है जिस प्रकार भूगोल सभ्यता को प्रभावित करता है । भूगोलशास्त्री जे० रसल स्मिथ, डी० व्हिटलसे, और हार्टशोर्न भी इसी दृष्टिकोण को मानते हैं । बोमैन के शब्दों में;

"आधुनिक भौगोलिक अध्ययन और विचारधारा ने पुराने यांत्रिक निश्चयवाद (Mechanistic determinism) का त्याग कर दिया है । भूतल के तत्व मानव-समाज के विकास का रूप और प्रकार निर्धारित नहीं करते, उसे प्रभावित करते हैं । भूतल के बारे में नए तथ्यों का अनुसंधान होता जा रहा है और ज्यों-ज्यों मानवीय ज्ञान, विचार और सामाजिक चेष्टा का विकास हो रहा है, भूमितल के बारे में पुराने तथ्यों को नया महत्व मिल रहा है ।"

लॉस एंजल्स का नगर. आदिम काल में चूंकि मनुष्य के पास वे सब साधन नहीं थे जो आज सभ्यता कहलाते हैं, इसलिए वह प्रकृति, भूगोल, इत्यादि के प्रभाव में ही रहता था । ज्यों-ज्यों सभ्यता––मनुष्य के प्राकृतिक साधनों का उपयोग करने के उपकरणों का विकास होता गया, मानव-विकास पर इन तत्वों का प्रभाव न्यून होता गया लॉस एंजल्स का नगर इस बात का अद्भुत प्रमाण है कि कैसे प्राकृतिक परिस्थिति को झुठला कर, उससे दूर भाग कर, उसकी सीमाओं का उल्लंघन करके नगरों का विकास हो सकता है । पानी की कमी, वर्षा का अभाव, जैसे मुख्य प्रभावों को भी मानव-चेष्टा ने पानी इकट्ठा करने के साधन प्रयोग में ला कर विजय कर लिया है । परन्तु क्या इसी उदाहरण से यह भी सिद्ध नहीं होता कि भौगोलिक परिस्थिति––जलवायु ने ही मानव को इतने बड़े साधन विकसित और प्रयुक्त करने पर बाध्य किया है ? इस प्रकार हम देखते हैं कि जहां सभ्यता के विकास ने परिस्थिति के प्रतिबन्धों से मानव को स्वतन्त्र कर दिया है वहां हम यह भी देखते हैं कि उन्हीं प्रतिबन्धों ने सभ्यता के विकास को प्रभावित किया है ।

भूतल यदि पर्वतीय है तो घास और जंगलों के कारण, मनुष्य अपना भरण पोषण अधिकतर पशु पाल कर, लकड़ी काट कर, ऊन, मांस व दूध बेच कर करेंगे । यदि मरुस्थल है तो वहां जनसंख्या अधिक नहीं होगी । जहां आर्द्र जलवायु हो, अच्छी मिट्टी हो, थोड़ा श्रम करके भी अच्छा उत्पादन हो सके, वहां आलस्य अधिक होगा, अवकाश अधिक होगा । अधिक उत्पादन और अधिक

अवकाश के कारण सभ्यता का विकास भी अधिक होगा। चीन, भारत और जापान में अधिक जनसंख्या का एक बड़ा कारण उनकी परिस्थिति है। अमरीका की घाटी मिसिसिपी में बहुत उपजाऊ भूमि और वर्षा की अधिकता होने पर भी आबादी बहुत कम है।

भूगोल का सभ्यता को प्रेरणा-प्रदान

माया सभ्यता मध्य अमेरिका के मध्य में ही क्यों फली-फूली अमेरिका के तट पर क्यों नहीं; गंगा और ब्रह्मपुत्र के उपजाऊ क्षेत्रों में जब सभ्यता का विकास नहीं था, तब मोहेंजोदाड़ो और हड़प्पा में एक समृद्ध, समुत्कृष्ट सभ्यता क्यों फैली; ऐसे कितने ही उदाहरणों ने आर्नल्ड टॉयनवी को यह कहने पर बाध्य किया कि यह लोकप्रिय धारणा कि असाधारणतः सहज और सहयोगी वातावरण सभ्यता को जन्म देते हैं, भ्रान्तिपूर्ण है। वे तो बल्कि कठोर और विरोधी वातावरण के गुणों की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं, जिन्होंने मानव को अधिक परिश्रम के लिए प्रेरित किया। टॉयनवी के ही एक निष्कर्ष को देकर हम यह विवाद समाप्त करते हैं।

यह स्पष्ट है कि अमानवीय और मानवीय दोनों तत्वों का समन्वय एक स्थान पर एक सभ्यता को जन्म देता है, परन्तु यह भी संभव है कि वैसा ही समन्वय किसी दूसरे स्थान पर, दोनों स्थानों की परिस्थिति प्रत्येक रूप में समान होने पर भी वैसी सभ्यता को जन्म न दे पाए। इसके विपरीत यह भी स्पष्ट है कि सभ्यता बिल्कुल विभिन्न वातावरणों में भी जन्म ले सकती है और लेती है। अमानवीय वातावरण नदी का डेल्टा हो सकता है जिसने कि मिश्र और सुमेरिया की सभ्यताओं को उदित किया और अलग से सिन्धुतट की सभ्यता का विकास किया या यह पठार हो सकता है जिसने मैक्सिको और ऐन्डियन सभ्यता को विकसित कर दिया। अमानवीय वातावरण द्वीप समूह का हो सकता है जिसने मिनयन और यूनानी सभ्यता को उदित किया और सुदूरपूर्व में जापान की सभ्यता को विकसाया। महाद्वीप के वातावरण ने और पुरानी ईसाई सभ्यता के रूस ने आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता को जन्म दिया है।

जलवायु

कई समाजशास्त्री धर्म को एक अर्ध-मरुस्थलीय जलवायु का प्रभाव बताते हैं। जिन स्थानों में दो या तीन अलग-अलग कालों में जलवायु बिल्कुल अलग-अलग होता है, उन स्थानों को बड़े साम्राज्यों की राजधानियां मानने का

भी रिवाज़ रहा है। परन्तु यह धारणाएं जलवायु के प्रभाव की ओर ध्यान आकर्पित करने से अधिक कोई महत्व नहीं रखतीं। हंटिंगटन की राय में ६५ दर्जे फार्नहाइट का तापमान मनुष्य के लिए अच्छा है। जन्म लेने का सबसे अच्छा समय फरवरी और मार्च के महीने हैं। इसी प्रकार डा० मिल्स तूफ़ानी मौसम और स्थान को महान् पुरुषों के जन्म और महान् सभ्यताओं के विकास के लिए उचित बताते हैं। इससे भी अधिक चौंका देने वाला अनुसंधान डा० काडले ने किया है। उनके विचार में पुरुष का वीर्य शरीर के ताप की डिग्री पर भी नष्ट हो जाता है। शरीर के अन्दर एक ऐसी शीत व्यवस्था जो वीर्य के ताप को शरीर के ताप से २ दर्जे से १५ दर्जे तक नीचे रखती है उसे बचाये रखती है। परन्तु डा० पिंचर ने इन अनुमानों को भ्रान्तिपूर्ण सिद्ध किया है।

इन सब धारणाओं में वही भ्रान्ति है जो किसी भी एक तत्त्व से मानव-विकास या मानव-सभ्यता की गुत्थी सुलझाने में है। फिर भी जलवायु के प्रभाव को मानना ही होगा। कितने ही विद्वान् यह भी कहते हैं कि मनुष्य के जीवन और विकास की सम्भावना एक ऐसे जलवायु के परिवर्तन से ही हो सकी जिसमें बहुत शीतल जलवायु बदल कर कम शीतल हो गया और जिसने संसार के अनेक भागों पर अधिकार कर लिया।

जलवायु का मनुष्य के खाद्य-सामग्री के चुनाव पर भी प्रभाव पड़ता है और कृमि (बैक्टीरिया) पर भी। किसी जलवायु में कुछ रोग अधिक प्रबल हो उठते हैं। मनुष्य कुछ ऐसे साधन बनाता है जिनसे वे रुक जाएं। यहां तक कहा गया है कि यूनानी सभ्यता के पराभव का कारण काला रोग था।

प्राकृतिक पदार्थ

जहां जैसे खनिज पदार्थ होते हैं वहां वैसे ही उद्योग-धंधों का विकास होता है। उद्यग-धंधों का विकास मानव के सामाजिक सम्बन्धों को प्रभावित करता है। इसी प्रकार आर्थिक व्यवस्था और सामाजिक व्यवस्थाएं भी इसी तथ्य के कारण प्रभावित होती हैं। लोहा, तेल, कपास, गन्ना, रबड़—आदि कौन सी वस्तु कहां होती है इससे मनुष्यों के जीवन-निर्वाह के साधन निर्धारित होते हैं। फिर भी यह स्मरण रखना चाहिए कि सभ्यता के विकास की अवस्था पर इस प्रभाव का आधार रहेगा। लोहा और तेल अधिक होने पर प्रगति हो, या दूसरे औद्योगिक प्रगतिशील राष्ट्रों का शोपण और दासत्व—इसका निश्चय तो और ही परिस्थितियों पर निर्भर होगा। मनुष्य की चेष्टा पर ही तो पदार्थ का

उपयोग निर्धारित होगा। जैसे एक फ्रांसीसी लेखक ब्रूने ने कहा है : "मनुष्य भी हैं और पत्थर भी, पर पत्थर से आग तो मनुष्य ही निकालेगा।"

लोहा खान से निकाला जाए, उसके लिए न केवल ज्ञान बल्कि एक अलग तरीका, एक विशेष प्रणाली, सभ्यता की आवश्यकता होगी। यूराल के लोहे ने प्रगति की वह प्रेरणा लंकाशयर के लोहे के कितने साल पश्चात् दी? रानी गंज का कोयला भारत के कब काम आया? इन पदार्थों का प्रयोग ज्ञान, विज्ञान, औद्योगिक विकास इत्यादि सभी पर निर्भर करता है।

प्रादेशिक प्रभाव

एक नगर का जलवायु, उसके उद्योग-धंधे, उसके प्रादेशिक स्थान—सभी उसके सामाजिक जीवन को प्रभावित करते हैं। नगर और ग्राम अपने उद्योग-धंधे बहुत कुछ इस आधार पर भी बनाते हैं कि उनके चारों ओर किस प्रकार का उत्पादन होता है। इन उद्योग-धंधों का प्रभाव सामाजिक सम्बन्धों पर होना अनिवार्य है। इसी प्रकार कोई स्थान दूसरे नगरों से कितनी दूर और किन साधनों से सम्बन्धित है, आयात-निर्यात के साधन कैसे हैं,—यह तथ्य भी अपना प्रभाव डालते हैं।

मान लीजिए एक स्थान अधिकतर ग्रामों और छोटे कस्बों से घिरा हुआ है। वह स्थान अपनी महत्वाकांक्षा में, सामाजिक संस्थाओं के विस्तार में, सामाजिक अन्तःक्रियाओं के वेग की दृष्टि से उस स्थान की अपेक्षा हीन रहेगा जो एक बड़े नगर के समीप है, या दो तीन बड़े नगरों के मध्य में है, और उनसे प्रभावित होता है। वह स्थान जहां साधनों की सुगमता के कारण अधिक लोग आते-जाते रहते हैं, सांस्कृतिक और सामाजिक प्राक्रियाओं में अधिक प्रगतिशील होगा।

ऐसे, नगर जो औद्योगिक और व्यापारिक दृष्टि से हीन अवस्था में होने पर भी नदियों के किनारे होने से, या प्राकृतिक सौंदर्य के कारण, या तीर्थ-स्थान होने के कारण महत्वपूर्ण हो जाते हैं, एक नई प्रकार की सामाजिक व्यवस्था को रच लेते हैं। नगर का केन्द्रीय व्यापार क्या है, वह तीर्थ है या धर्मस्थान, व्यापर का केन्द्र है या उद्योग केन्द्र, जहाजों या रेलों का विश्राम स्थल है या सेना की छावनी—या इस प्रकार के नगरों में से किसी के पास है, यह तथ्य नगर के सामाजिक जीवन और जनता के जीवन-यापन के भिन्न-भिन्न रूपों को निर्धारित कर देते हैं।

एक नगर या ग्राम के भीतर के अलग-अलग अंगों और भागों का विभाजन किस तरह पर है, नगर का केन्द्रीय स्थल क्या है, वह व्यापार का भी केन्द्र है या सामाजिक जीवन का केन्द्र भी है, ग़रीब मुहल्ले केन्द्र से कितनी दूर हैं, यह अन्य तथ्य हैं जो अलग-अलग भागों में रहने वालों के जीवन पर प्रभाव डालते हैं।

हम देखते हैं कि निम्नलिखित तथ्य अलग-अलग रूप में प्रभावकारी होते हैं।

१. प्रदेश में नगर या ग्राम का स्थान, सापेक्ष भौगोलिक अवस्था।
२. ग्राम या नगर और समीप के प्रदेशों के यात्रा सम्बन्ध।
३. ग्राम या नगर के जीवन की केन्द्रीय क्रिया।
४. अलग-अलग भागों का अन्तःसम्बन्ध।

जनता के स्वरूप पर पड़ोस और पेशे का प्रभाव

पहले यह चर्चा की जा चुकी है कि किसी स्थान का प्रादेशिक महत्व कितना प्रभावशाली है। आसनसोल का नगर इसीलिए इतना बढ़ सका है क्योंकि वह खानों से भरपूर क्षेत्र के केन्द्र में है और रेलों का केन्द्र स्थान है; हरद्वार चूंकि वह तीर्थ स्थान है और कालका इसलिए, क्योंकि वह शिमला जाने का एक ही मार्ग है। आसनसोल में बड़े व्यापारी, एजण्ट, दलाल, रेलकर्मचारियों आदि का ही प्रभुत्व है। वहां इतनी कठिन सर्वहारा गरीबी नहीं, जितनी कानपुर में है। लखनऊ शिक्षा और शासन का केन्द्र है, इसलिए वहां औद्योगिक नगरों के से चाल और गन्दी बस्तियां नहीं हैं। हरद्वार में तीर्थ स्थान होने के कारण पुजारी लोग, पण्डा और भिखारियों का निवास है। एक केन्द्रीय नगर कहां और किस पड़ोस में बसा है, इससे उसके पेशे इत्यादि पर और इसी कारण उसकी जनता के प्रकार पर प्रभाव पड़ता है।

हम पहले यह चर्चा कर आए हैं कि भौगोलिक अवस्था, पदार्थों का सामीप्य और उपलब्धि और पड़ोस से सम्बन्ध, केन्द्रीय क्रिया व्यापार इत्यादि को कितने बड़े रूप में निर्धारित करते हैं। यह केन्द्रीय क्रिया कितनी ही प्रकार की हो सकती है। जैसे, १. बड़े उद्योग, २. बड़ा व्यापार या मंडी, ३. छोटे उद्योग-धंधे, ४. केवल पड़ोस के गांवों पर आधारित मंडी, ५. केवल शासन प्रबन्ध का केन्द्र या पुलिस, सेना इत्यादि का स्थान, ६. कृषि पर आधारित गांव, ७. पशु-पालन करने वाले गांव।

वड़े औद्योगिक नगर में वहुत अधिक सम्पन्न परिवार अधिकतर नगर के वाहर अलग मुहल्लों में ऊंचे प्रासादों में रहेंगे, और श्रमिक वर्ग के लोग भाड़े की कोठरियों में—ऐसे घरों में जो मरम्मत की कमी, गंदगी और स्थान की कमी से पहचाने जा सकते हैं—शहर के कोने के मुहल्लों या चालों में रहेंगे। मध्य में उच्च मध्यम वर्ग के व्यापारी व मध्यम वर्ग के नौकरी-पेशा लोग रहेंगे। वड़ा नगर और सम्पन्नता का केन्द्र होने के कारण वहां जन-सेवा के साधन, अच्छे स्कूल-कॉलेज, चिकित्सालय, पार्क, पुस्तकालय होंगे, पर साथ ही सिनेमा, वेश्या-गृह और ताड़ी की दुकानें भी वहुतायत से होंगी। दिनभर के श्रम से थके हुए गरीव निरादृत लोग अपनी वासना को तृप्त व गमगल्त करने के लिए इन साधनों का उपयोग करेंगे।

वड़ी व्यापारी मंडी में गरीवों की वह दयनीय अवस्था और इतनी वड़ी संख्या नहीं होगी, और नगर दूर तक फैलने के वजाय व्यापार केन्द्र को केन्द्र मान कर तंग वसा होगा। मध्यम वर्ग के लोगों की अधिकता के कारण वातावरण कुछ अधिक गम्भीर होगा। परन्तु हम अनेक वड़े नगरों में व्यापार और उद्योग-धंधे इकट्ठे पाते हैं, वहां अधिकतर औद्योगिक नगर की ही विशेषताएं उपलव्ध होंगी। छोटे उद्योग-धंधे वाले नगर में समीप के ग्रामों के श्रमिक होंगे, परन्तु उनके वड़े मुहल्ले न होंगे, और वे अधिकतर पास के गांवों में ही रात को जा कर विश्राम किया करेंगे, न ही उसमें गगनचुम्वी प्रासाद होंगे, न ही अधिक सिनेमाघर, या वेश्याघर होंगे। वहुत छोटे धंधे करने वाले कारीगर पूरे परिवारों में रहेंगे और एक-एक परिवार एक-एक आर्थिक इकाई के रूप में रहेगा। न तो ऐसे नगर में सामाजिक सम्वन्धों की अतृप्ति, परिवार की छिन्नता और नैतिक आचारों की कमी होगी न ही इनसे सम्वन्धित सव समस्याएं जन्म लेंगी।

छोटे व्यापार केन्द्रों में निम्न मध्यम वर्ग रहेगा, वड़े व्यापारी और काश्तकार के वीच का दुकानदार, वड़े कारखानेदार और खुदरा ग्राहक के वीच का दुकानदार। यह वर्ग न केवल कम प्रगतिशील होगा, अपितु अपने विचार और दृष्टिकोण में नगर की अपेक्षा ग्राम की ओर अधिक झुकाव रखेगा, चूंकि अपने व्यापार के कारण ग्रामवासियों के सीधे सम्पर्क में रहेगा। यह छोटे व्यापारिक केन्द्र छोटे औद्योगिक नगर से नैतिक स्तर में अधिक उन्नत होंगे। इनमें सामाजिक नियन्त्रण की दृढ़ता होगी, सामाजिक एकता की ओर झुकाव होगा और सिनेमा आदि प्रलोभनों का अभाव होगा।

जिन नगरों में सरकारी कार्यालय होंगे, या सेना का निवासस्थान होगा, उनका सारा जीवन इसी के चारों ओर बुना रहेगा । सरकारी कर्मचारियों को छोड़कर छोटे बड़े दुकानदार या ठेकेदार ही अधिक रहेंगे । बड़े कर्मचारियों के क्लब, छोटे कर्मचारियों व क्लर्कों के लिए शायद सस्ते होटल, स्कूल इत्यादि का प्रबन्ध रहेगा ।

तात्पर्य यह है कि नगर का सारा जीवन एक केन्द्रीय व्यापार के चारों ओर बुना जायगा । उसी व्यापार में लगे हुए या उसी के ,सहकारी और सहयोगी काम-धंधों के लोगों की अधिकता, उसी से प्रभावित जीवन परिपाटी, नैतिक आधार, सामाजिक संस्थाएं, महत्वपूर्ण सामाजिक सेवा, उस स्थान की विशेषता होगी ।

बड़े औद्योगिक नगर में नैतिक स्वतन्त्रता, पतन, अपराधवृत्ति; बड़े व्यापारिक नगर में अधिक सांस्कृतिक सामाजिक आधार, मूल्य, मान्यताएं; छोटे औद्योगिक नगर में अल्प रूप में नागरिक अवस्था (यदि वह बड़े नगर का ही छोटा रूप है) या ग्राम के साथ की अवस्था (यदि वहां हाथ से या बहुत छोटी मशीनों से काम होता है) होगी ।छोटे व्यापारिक नगर में सुगठित सामाजिक नियंत्रण व पारिवारिक नियंत्रण होंगे । छोटे नगरों में बच्चों की अपराध की ओर वह प्रवृत्ति जो औद्योगिक नगर में होती है न होगी; न ही अवरुद्ध, असन्तुष्ट भावों के सामूहिक प्रस्फुटन और सहज अभिव्यक्ति के कारण झगड़े और प्रदर्शन होंगे; न ही वेश्या-गृह, ताड़ीघर और सिनेमाओं की बहुतायत, न ही भीड़भाड़ के कारण जीवन में अशान्ति, और न ही सामाजिक सम्बन्धों की तृप्ति के लिए राजनैतिक और सांस्कृतिक कार्यक्रमों की भरमार होगी जो कि एक बड़े औद्योगिक और व्यापारिक नगर के लक्षण हैं जो किसी केन्द्रीय व्यापार पर निर्भर है ।

नगर का परिस्थितिशास्त्र

किसी नगर का नमूना उसके उद्योगों, संस्थाओं और सामाजिक श्रेणियों में श्रेष्ठ स्थिति की प्राप्ति के लिए हुई प्रतियोगिता का परिणाम होता है । विभिन्न प्रकार के व्यवसाय उत्तम स्थानों के लिये आपस में प्रतियोगिता करते हैं । किसी व्यवसाय की स्थिति इस बात से निर्धारित होती है कि वह कितना किराया दे सकता है । जमीन की कीमतें किसी नगर के परिस्थितिशास्त्र की कुंजी हैं । किसी भी वृहत् नगर में जमीन की अधिकतम कीमत के दो क्षेत्र होते हैं : केन्द्रीय व्यापार क्षेत्र और केन्द्रीय बैंकिंग क्षेत्र । इन क्षेत्रों को प्रभुत्व के केन्द्र

कहा जाता है, क्योंकि यह अन्य क्षेत्रों की स्थिति को प्रभावित करते हैं। नगर के केन्द्रीय व्यापार में किसी भी प्रकार का परिवर्तन उसके इर्द-गिर्द के क्षेत्र में हेरफेर उत्पन्न करता है। नगरीय परिस्थितिशास्त्र को हम भारतवर्ष के एक मुख्य शहर का उदाहरण देकर समझा सकते हैं।

कलकत्ता. हम सुविधा के लिए कलकत्ते के परिस्थितिशास्त्र को चार समकेन्द्रक वृत्तों द्वारा जो कि किसी पेड़ की उम्र के वृत्तों से मिलते-जुलते हैं, दर्शा सकते हैं।

(१) नगर के मध्य में व्यापार का केन्द्र है जो कि सबसे पहले छोटे वृत्त से दर्शाया जा सकता है। इस क्षेत्र में बड़े-बड़े व्यापारिक-प्रतिष्ठान हैं जो बहुत ऊंचे किराये दे सकते हैं। इसी क्षेत्र में बड़े-बड़े बैंकों और राज्य सरकार के केन्द्रीय दफ्तर हैं। केन्द्रीय क्षेत्र के निकट अथवा उसके अन्दर ही विभिन्न प्रकार के छोटे उद्योग, उदाहरण के लिए चीनियों का जूता और खिलौना उद्योग भी, इसी क्षेत्र में अवस्थित हैं। इसी क्षेत्र में और इसके आसपास छोटे-बड़े होटल और भोजनालय हैं। यहीं थोक व्यापार का केन्द्र है। किराये अधिक होने के कारण कारखाने वाले इस क्षेत्र में नहीं आते। अखबारों के दफ्तर और मनोरंजन के स्थान इस क्षेत्र में अथवा इस क्षेत्र से लगे होते हैं। इस क्षेत्र में ऐसे निवासों का भी समावेश है जिनमें धनी लोग रहते हैं क्योंकि वह कई पुश्तों से यहीं पर रहते चले आ रहे हैं, पर जैसे-जैसे नगर का व्यापारिक भाग बढ़ता है, इन घरों पर बड़ा दबाव पड़ता है और वह आहिस्ता-आहिस्ता इन्हें दूसरों को किराये पर चढ़ा कर बाहरी कोठी-बंगलों में चले जाते हैं।

(२) मध्य वृत्त के बाहर का दूसरा वृत्त धनी मारवाड़ी, बंगाली, चीनी, ऐंग्लो इंडियन इत्यादि विभिन्न समुदायों की बस्तियों और खुदरा बाजारों से घिरा हुआ है जो कि बड़ी गन्दी और खराब अवस्था में हैं। एक समय यह क्षेत्र मुख्यतः रिहाइश के ही काम में आता था पर अब यहां अनेक छोटे-छोटे वर्कशाप और उद्योग-धन्धे स्थापित हो गये हैं। और ऐसी प्रवृत्ति है कि यह क्षेत्र एक समय बाद व्यापारिक वृत्त द्वारा ग्रस लिया जायेगा। यह अब न तो पूर्णतः निवास क्षेत्र ही है और न पूर्णतः व्यापार क्षेत्र ही रहा है अतः इसे मध्य-सीमा-क्षेत्र कह सकते हैं। आने वाले परिवर्तनों की प्रतीक्षा में इमारतें बहुत कुछ उपेक्षित अवस्था में पड़ी हुई हैं। यहीं पर गन्दी बस्तियां या चाल भी हैं जो कि निर्धनता, अपराध, व्यभिचार और रोगों की पोषण भूमि हैं। इन गन्दी बस्तियों में ही या उनको ढकते हुए विभिन्न साम्प्रदायिक या सांस्कृतिक समूहों की पृथक्-पृथक् बस्तियां

हैं। इसी क्षेत्र में अधिकतर बाहरी विद्यार्थियों और अविवाहित कर्मचारियों के, जो कि प्रायः अपने मित्रों और सम्बन्धियों से दूर रहते हैं; बोर्डिङ्ग हाउस हैं। दूसरे वृत्त का पश्चिमी-दक्षिणी भाग विशिष्ट सरकारी नीति के कारण वृहत् मैदान के रूप में ग़ैर आबाद और खाली रह गया है, वरना यदि ऐसी रोक न होती तो यह भी उसी तरह भर गया होता जैसे कि वृत्त की और सारी दिशायें भर गई हैं।

(३) इस संक्रमण क्षेत्र के बाहर तीसरे वृत्त का क्षेत्र ऐसा क्षेत्र है जो छोटे पैमाने पर केन्द्रीय क्षेत्र और उसके अंगों की भांति लगता है। इसमें एक ओर कुशल श्रमिकों की बस्तियां हैं और उनकी आवश्यकतायें पूरी करने के लिए स्थानीय छोटे बाज़ार हैं और यहीं पर अधिकांश मध्यवित्त लोग भी बसे हुए हैं।

(४) इसके बाद चौथा वृत्त जहां पर अन्तःक्षेत्र बाहरी गांवों से मिलता है, वहां इसका रूप बहुत विचित्र है। यह स्थान अंशतः खेती व उद्यानों के लिये और अंशतः खुले विकास के लिए होता है। एक बड़े भाग में अधिक धनी लोग अपनी कोठियां और बंगले बना कर रहते हैं। इनमें से बहुत से लोग ऐसे हैं जो कि पहले नगर के केन्द्र में रहते थे, पर अब यहां आ बसे हैं। जिनमें से अधिकांश निवासियों के पास अपनी कारें हैं। इस बाहरी निवासक्षेत्र में एकपरिवारीय छोटे निवास भी हैं। यहां यातायात के साधनों की सुविधाएं पहुंच गई हैं। विस्तृत खुला क्षेत्र होने के कारण बगीचों, हवाई अड्डों और श्मशानों के लिए भी यह प्रदेश उपयुक्त है।

यह बाहरी वृत्त कम किराया होने के कारण बड़े-बड़े कारखानों की स्थापना के अनुकूल है। इन्हीं कारखानों के पास मज़दूरों की गन्दी बस्तियां खड़ी हो गई हैं। मज़दूरों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए खुदरा बाज़ार, मनोरंजन के स्थान और खाने-पीने की दुकानें भी यहां पर खुल गई हैं।

ग्राम का परिस्थितिशास्त्र

इसी रूप में गांव भी कई प्रकार के हैं। वह शिकारियों के हैं, गडरियों के हैं, कृषकों के हैं, या ऐसे श्रमिकों के हैं जो नगर या खानोंमें दिन भर काम करते हैं, यह सभी तत्त्व ग्रामीण जीवन को प्रभावित करते हैं। शिकारी गांवों को जल्दी-जल्दी जगह बदलनी पड़ती है, इसलिए उनमें सामुदायिक नियंत्रण की

अपेक्षा पारिवारिक नियंत्रण अधिक होगा, व्यक्ति सामान अति न्यून रखेंगे, उनके सामाजिक सम्बन्ध विस्तृत और घनिष्ठ नहीं हो पाएंगे। श्रमिकों के गांवों में सामाजिक जीवन की डोर और प्रभुत्व स्त्रियों के हाथ में होगा। अधिक नारी स्वतंत्रता इसका सीधा परिणाम होगा। पारिवारिक जीवन में नारी की प्रमुखता बढ़ेगी। कृषि-ग्राम में पारिवारिक व सामुदायिक घनिष्ठता, चौपालों का सामाजिक महत्व, अधिक मानसिक स्थिरता और शांति, झगड़े की कम सम्भावना इत्यादि गुण होंगे। गावों में नगरों की अपेक्षा लोग सहयोग और सहकारिता को अधिक मानेंगे, जबकि नगर में जीवन की प्रमुख विशेषता प्रतियोगिता होगी। यहां अपराध की ओर कम प्रवृत्ति होगी।

मानसिक स्थिरता और चारित्रिक दृढ़ता कृषि-ग्राम में सबसे अधिक होगी, छोटे व्यापारिक ग्राम में उससे कम, और इस प्रकार बड़े औद्योगिक नगर में सबसे कम होगी। पागलों और अनाथों की संख्या नगर में अधिक होगी। शिकागो नगर में हर एक सौ व्यक्तियों में दो व्यक्ति पागल पाए गए हैं। फ़ैशन की लोकप्रियता की मात्रा भी नगरों में बढ़ेगी और लोकनिंदा का प्रभाव कम होगा।

जनसंख्या का प्रभाव

जनसंख्या के अधिक होने का एक बड़ा प्रभाव सामाजिक सम्बन्धों की अनपेक्षित वृद्धि, प्रगति की चाल का तेज़ हो ज़ाना, अधिक सुचारु श्रम विभाजन, अधिक सुविधाएं, सेवाओं का समुचित प्रबंध, नियन्त्रण और आविष्य होता है। यह सब परिवर्तन मानव-समाज के जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं। सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक जीवन की घनिष्ठता, बहुलता, बहुमुखता न केवल मनुष्य की बुद्धि को प्रखर और ज्ञान को समृद्ध करती है. बल्कि एक सुविकसित परम्परा का विकास करती है। यह सर्वविदित है कि नगरों ने सांस्कृतिक प्रगति की गति को तीव्र कर दिया है।

मानव-समाज के कौन से अंग अधिक प्रगतिशील, विकसित और सम्पन्न होंगे, इसे समझने के लिए स्वभावतः यह जानना होगा कि मानव-समाज के किन भागों में जनसंख्या अधिक है और उसका कारण क्या है। ऐसे कितने ही क्षेत्र और देश हैं जहां जनसंख्या बहुत कम है। ऐसे भी कितने ही प्रदेश हैं जहां यह बहुत अधिक है। दक्षिणी और दक्षिण-पूर्वी एशिया, पश्चिमी योरोप, मध्य और दक्षिणी योरोप मुख्यतया बहुजनसंख्यक प्रदेश हैं। संसार की आधी

से भी अधिक आबादी भारत, चीन, जापान, हिन्देशिया, हिन्दचीन, पाकिस्तान और वर्मा में वसी हुई है।

वैज्ञानिक आविष्कारों का प्रभाव

यह तो स्पष्ट ही है कि लोग वहीं वस जाते हैं जहाँ जलवायु अच्छा हो, भूमि उपजाऊ हो व जीवनोपयोगी दूसरे साधन सुलभ व समीप हों, पानी पृथ्वी के समीप मिल सकें, और दूसरे समुदायों से मिल सकने के साधन पर्याप्त हों। आधुनिक समाज में बिजली, उद्योग और सभ्यता के दूसरे उपकरणों का विचार भी अधिक होता है, क्योंकि इन्हीं को लेकर मनुष्य प्रकृति को अपनी प्रगति में सहयोगिनी बना सकता है। पाल लैंडिस का कहना है कि दक्षिणी डाकोटा समुदायों में व्यापार केन्द्रों का विकास अधिक वर्षा, रेल मार्गों के विस्तार और आर्थिक सम्पन्नता के समय में हुआ। जब अवनति आई तो उसके कारण भूमि के मूल्य का गिरना आरम्भ हुआ, अनावृष्टि के कारण अकाल पड़ने की सम्भावना हो गई और मोटर गाड़ी के प्रचलन के कारण बहुत छोटे व्यापार केन्द्र नष्ट हो गए।

नए आविष्कारों की प्रगति ने अमेरिका के नगरों की जनसंख्या बढ़ा दी है, और हमारे देश में चूंकि वह प्रगति मन्द है इसलिए यहाँ यह नगरों की जनसंख्या वृद्धि की प्रगति भी पर्याप्त मन्द है।

इस विषय में कोल्व और ब्रूनर ने नगरों के विकास पर लिखते हुए यह विचार प्रकट किया है कि :

"नगरों की सामाजिक और आर्थिक सुविधाओं, औद्योगिक विकास और कृषि के लिए मशीनों के प्रयोग ने, दस साल में डेढ़ करोड़ कृषकों को नगरों में ला फेंका है; और यह संख्या १९२० की कृषक जनसंख्या का २/५ है। यह धारा १९२९ तक केवल थोड़ी ही बदली जब कि करीब एक करोड़ लोग नगरों से फिर ग्राम की ओर चले गए।"

परिस्थिति न केवल वाह्य रूप में एक स्थान की जनसंख्या, उसके आचरण और व्यवहार, जीवन-यापन की विधि, उसके प्रकार और विकास-केन्द्र इत्यादि का निर्धारण करती है, वल्कि क्षेत्र-सीमाओं में भी समुदायों को अलग-अलग करती है। एक नई वस्ती की जनसंख्या में युवकों और वृद्धों, स्त्रियों और पुरुषों की संख्या का परिमाण एक पुरानी वस्ती से भिन्न होगा। और इसी प्रकार एक व्यापारी वस्ती मे मजदूर वस्ती से अलग होगा। एक नगर के इस प्रकार के अलग-अलग भागों की ऐसी व्यवस्था का पता लगाने के लिए जनसंख्या

पिरेमिड बनाए जाते हैं। इनमें यह दिखाया जाता है कि अलग-अलग अवस्थाओं के व्यक्ति कितनी प्रतिशत संख्या में अलग-अलग क्षेत्रों में रहते हैं।

नगर-विकास के सिद्धान्त

किसी नगर के किसी ख़ास भाग में ही व्यापारी क्यों रहते हैं और दूसरे में मज़दूर क्यों रहते हैं और क्यों उनमें इतने अन्तर हैं, इन विवादों ने दो-तीन मतों को जन्म दिया है।

पहला मत जिसे वृद्धि का केन्द्राभिमुखी सिद्धान्त कहा जाता है इस प्रकार है :

वृद्धि का केन्द्राभिमुखी सिद्धान्त (Concentric theory of city growth). नगर के उस भाग में जहाँ सबसे अधिक चहल-पहल, चलना-फिरना है, अर्थात् जहाँ सबसे अधिक सड़कें और गलियां मिलती हैं, और स्वभावतः अधिकतम संख्या में ग्राहक आते हैं, व्यापार केन्द्रित होता है। वहाँ दुकानों में अपनी चमक दिखाती हुई नाना सामग्रियां ग्राहकों को लुभाने की चेष्टा करती हैं। थोड़ी ही दूरी पर थिएटर, बैंक, होटल आदि होते हैं। कारखाने वग़ैरह सड़क, रेल मार्ग या नदी के तट के साथ-साथ होते हैं।

ज्यों-ज्यों व्यापारिक भाग फैलता है, निवासस्थान और मुहल्ले केन्द्र से दूर होते जाते हैं। परन्तु यह क्रिया कितने ही वर्षों में पूर्ण होती है, इसलिए कारखाने, स्टोर और घर एक ही जगह रहने दिए जाते हैं। ऐसे क्षेत्र में स्वभावतः वातावरण अधिक घबरा देने वाला व कोलाहलपूर्ण हो जाता है, और मकान गिरी हालत में इस प्रतीक्षा में रहने दिए जाते हैं कि व्यापार-गृहों के काम आएं। अधिक सम्पन्न परिवार नगर के दूर के भागों में बस जाते हैं, परन्तु जो रुपये की कमी या किसी दूसरे सामाजिक कारण से स्थान परिवर्तन नहीं कर सकते, वहीं रह जाते हैं। इन लोगों के मुहल्ले जिन्हें संक्रमण प्रदेश (Zones in transition) कहा जाता है और जो व्यापारिक बाज़ारों और रहने के मुहल्लों को एक दूसरे से अलग करते हैं, अपने कोई विशिष्ट गुण नहीं रखते, और कभी-कभी अपनी सामाजिक एकता के कारण गन्दी बस्तियां चाल (Slum) कहलाने लगते हैं। शिशु [की अपराध-प्रवृत्ति, पाप, निर्धनता और व्यक्तिगत असंतुलन और विघटन इन टूटे गिरने वाले घरों में पलते हैं। नगर के केन्द्र से कुछ बहुत दूर न होने पर भी यह एक खास दिशा में फैलते जाते हैं और औद्योगिक क्षेत्रों के समीप तक चले जाते हैं।

नगर समुदायों का अध्ययन करते हुए वर्गेस ने देखा कि भिन्न-भिन्न सामाजिक क्षेत्र एक ही केन्द्र वाले अलग-अलग वृत्तों का रूप धारण करते हैं। सबसे छोटा वृत्त व्यापारिक क्षेत्र होता है जिसको संक्रमण प्रदेश जो व्यापारिक, रहने वाले मुहल्लों इत्यादि का मिश्रण होता है, घेरे रहता है। इसके परे रहने के मुहल्ले होते हैं। पहले सस्ते मकान और फिर अधिक किराये और कीमत वाले। सबसे बाहर वाला वृत्त नई बस्तियों का समूह होता है।

मारिस डेनी का सिद्धान्त. मारिस डेनी के मतानुसार नागरिक विकास और ह्रास के बारे में भविष्यवाणी करना असम्भव है और इसलिए उसकी किसी एक खास प्रणाली या ढंग से व्याख्या कर देना उचित नहीं है। साधारणतया, एक केन्द्रीय व्यापारिक क्षेत्र, बनावट में वृत्त से अधिक आयताकार या वर्गरूप में, और व्यापारिक भूमि का प्रयोग अर्ध-व्यासाकार सड़कों से बाहर फैलता हुआ कुछ विशिष्ट स्थानों पर एकत्रित हो निम्न प्रकार के उपकेन्द्रों का निर्माण करता है। (१) जल या रेल यातायात साधनों के समीप स्थित उद्योग, (२) औद्योगिक और परिवहन क्षेत्रों के समीप निम्न स्तर के घर। (३) अलग जगह पर द्वितीय या प्रथम दर्जे के मकान।

विलियम बेली का सिद्धान्त. विलियम बेली के मत से एक नगर एक गांव के रूप में आरम्भ होता है जो मोटे तौर पर वर्गाकार होता है, फिर बाहर की ओर फैलता है और एक अमीबा की तरह विस्तृत हो कर चौकोर कस्बा बनता है, तिकोने राज नगर (Metropolis) के रूप में विकसित होता है और अन्त में अपने लम्बे हाथ बाहर फेंकता है जिनको गन्दी बस्तियां (Slums) कहते हैं।

यह विभिन्न मत कम-से-कम यह तो स्वीकार करते ही हैं कि नगर के विकास में प्राकृतिक और कृत्रिम सभी साधन पूरा-पूरा भाग लेते हैं, और जनसमूह के केन्द्रीकरण इत्यादि की क्रियाओं को प्रभावित करते हैं। इसी अर्थ में मनुष्य के रहने-सहने के ढंग पर भी अपना प्रभाव डालते हैं। दूर की गन्दी बस्तियों में रहने वाले लोगों में अपराध-प्रवृत्ति अधिक होगी, केन्द्र में बैठे लोग अधिक सम्पन्न होंगे, यह सब तो आख़िर इसी से निर्धारित होता है।

प्रश्न उठता है कि वे कौन-सी प्रक्रियाएं हैं जो नगरों, प्रदेशों इत्यादि में जनसमूह की संख्या के कम या अधिक करती हैं, जो परिस्थिति के यंत्रों का काम करती हैं। उनका अध्ययन ही हमें परिस्थिति और मानव समाज के सम्बन्ध के समीप ले जायेगा।

पारिस्थितिक प्रक्रियाएं

चाहे प्राकृतिक साधनों या पदार्थों की उपलब्धि के कारण हो, चाहे आने-जाने की सुगमता के कारण या और किसी कारण को लेकर, जनसंख्या कितने ही स्थानों पर अधिक हो जाती है, कितने ही स्थानों पर कम। किन-किन प्रक्रियाओं से यह कमी या अधिकता होती है, उनकी ओर एक बार दृष्टिपात कर लेना उचित ही होगा।

जनसंख्या की चर्चा करते समय हम व्यापार के कारण जन समूह के एक केन्द्र की ओर आकर्षित होने के क्रम को देख चुके हैं। जब एक ही केन्द्र पर आबादी का दबाव अधिक हो जाता है तो उसकी विपरीत दिशा की प्रक्रिया प्रारम्भ होने लगती है जिसे हम विकेन्द्रीकरण कह सकते हैं अर्थात् केन्द्र से कुछ दूरी पर छोटी-छोटी आबादियां बना ली जाती हैं। इसी प्रकार पृथक्करण, आक्रमण जैसी कितनी ही दूसरी प्रक्रियाएं भी होती हैं। इन प्रक्रियाओं का निम्न ब्योरा श्री होलिंगशीड के विवरण के अनुसार है :

१. एकत्रीकरण (Concentration). जिन स्थानों में प्रकृति या मानव चेष्टा ने मनुष्य के निवासोचित अवस्थाओं का प्रबन्ध कर दिया हो, और मानव के लिए आवश्यक सेवाओं को जुटा दिया हो, उन स्थानों में मनुष्य समूहों का एकत्र हो जाना स्वाभाविक ही है।

२. केन्द्रीकरण. ऐसे केन्द्रीय स्थानों पर जहां सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक अन्तःक्रियाओं का वेग अधिक हो, मनुष्य केन्द्रित हो जाते हैं।

३. विकेन्द्रीकरण. केन्द्र स्थान में स्थानाभाव के कारण, भीड़ और तंगी के कारण, केन्द्र की बाहरी सीमाओं पर जहां भूमि की दर कम हो और स्थान पर्याप्त और खुला हो, मनुष्य छोटी-छोटी बस्तियां बना लेते हैं।

४. पृथक्करण. एक ही प्रकार के आर्थिक और सामाजिक हितों और प्रकारों वाले जन समूह अलग-अलग विशिष्ट प्रदेशों में बस जाते हैं जहां प्रत्येक सामूहिक इकाई अपना एक ही आर्थिक कार्य और स्पर्द्धात्मक क्षमता रखती है। परन्तु यह पृथक्करण तभी हो सकता है जब ऐसे समूहों को व्यापारिक और औद्योगिक सुविधाएं हों।

५. आक्रमण. एक पृथक् जन समूह के निवास स्थान में अन्य प्रकार की सामाजिक संस्थाओंवाले समूह का पैर जमाते जाना आक्रमण प्रक्रिया है।

इस प्रक्रिया में भूमि के उपयोग में अन्तर आ जाता है या जनसमूह का प्रकार बदल जाता है।

६. संक्रमण (Succession). एक जनसमूह के दूसरे जनसमूह के स्थान पर आक्रमण के परिणाम स्वरूप जब जनसमूह का प्रकार बदल जाता है, तो नया समूह पुराने समूह की जगह उसके उत्तराधिकारी के रूप में ले लेता है। भूमि के उपयोग की प्रणाली के परिवर्तन के परिणाम को भी यही नाम दिया लाता है। इस दृष्टि से यह आक्रमण की पूर्ति का परिणाम मात्र है।

७. दैनीकरण (Routinization). इन छः क्रियाओं के साथ एक सातवीं क्रिया भी जोड़ी जाती है। जिसका अर्थ है : नगर की जनता का काम-धंधे के स्थान से प्रतिदिन रहने की जगह आना-जाना, या छोटे व्यापार के प्रदेश या मनोरंजन के स्थान पर आना-जाना, या सामान को नगर के एक भाग से दूसरे भाग, कारखाने से दुकान आदि पर ले जाना इत्यादि।

यह सब प्रक्रियाएं क्रमश: परिस्थिति के साधन बन कर नगरों के विकास और विनाशका कारण बनती हैं, और मानव समाज को प्रभावित करती हैं। संस्कृति और सभ्यता के विकास में इसीलिए इनका महत्व है और यह परिस्थिति और संस्कृति में एक सम्बन्ध स्थापित करती हैं। यह प्रक्रियाएं केवल बाह्य परिस्थिति का ही प्रभाव नहीं हैं, सभ्यता के उपादान भी इनको प्रबल करते हैं और प्रभावित करते हैं। यह नहीं भूलना चाहिए कि अन्त में मनुष्य के अपने कर्म इन प्रक्रियाओं को न केवल प्रभावित करते हैं बल्कि कई बार नियन्त्रित भी करते हैं। नए आविष्कारों ने जहां इन की गति तेज़ कर दी है, वहां इन्हें मानव-प्रज्ञा और चेष्टा का दास भी बना दिया है।

सातवां अध्याय

संस्कृति

संस्कृति का जन्म और विकास

संस्कृति को समझने के लिए पहले यह आवश्यक है कि हम यह जानें कि वह कैसे प्रारंभ हुई और उसका कैसे विकास हुआ। यह पृथ्वी जिस पर हम रहते हैं कैसे बनी, इसे ठीक-ठीक कोई भी नहीं जानता। प्रारम्भ में इस पर सर्वत्र जड़ पदार्थ थे। एक दीर्घ समय के बाद इस पर जीवों का प्रादुर्भाव हुआ। जीवन ने कीड़े-मकोड़ों सांपों, चिड़ियों और स्तनन्वयों के नाना रूप धारण किए।

सीखने की शुरुआत

इस प्रारम्भ काल में 'सीखने' का कोई स्थान नहीं था। एक पशु अन्य पशु से कुछ भी नहीं सीखता था। जिस भांति एक फूल दूसरे फूल से खिलना नहीं सीखता। एक बेल सूरज की किरणों के प्रभाव से स्वतः ही किसी पेड़ पर चढ़ने लगती है। पशुओं के सरल प्रत्युत्तरों को जो कि उनके सीखने का परिणाम नहीं होते, सहज (Instinctive) व्यवहार कहते हैं जो कि आनुवंशिकता द्वारा नियन्त्रित होता है।

चींटियों का उदाहरण. चींटियों के व्यवहार का प्रकार बड़ा जटिल है और वह श्रम-विभाजन, पद-विभाजन और विभिन्न प्रकार के श्रमकार्यों पर आधारित है, किन्तु यह सब प्रकार चींटियों में जन्मजात हैं। यह प्रकार तबतक नहीं बदलते जब तक चींटी ही स्वयं न बदल जाय। प्रो० ह्वीलर ने आदि-नूतन (Oligocene) युग की ५ से ७ करोड़ वर्ष पहले की बाल्टिक में संरक्षित चींटियों में वही जाति-भेद पाया जो कि उनमें आज पाया जाता है। इससे स्पष्ट है कि ५ करोड़ सालों में चींटियों ने कुछ नहीं सीखा और यह भी कहा जा सकता है कि चींटियों को अधिक सीखने की जरूरत ही क्या थी। उन्होंने अपने सूक्ष्म संगठन को आनुवंशिकता द्वारा, न कि व्यक्तिगत शिक्षा के आनुकूल्य द्वारा प्राप्त किया था।

पशुओं में सीखना. पशुओं में धीरे-धीरे सीखने की सामर्थ्य का

विकास होने लगा। केवल आकस्मिक अनुभव से ही नहीं, किन्तु अपने साथियों के अनुकरण और संवाद-संवहन से कुछ साथ रहनेवाले पशु निरन्तर समूह जीवन द्वारा अपने बच्चों को शिकार, सुरक्षा अथवा काम-व्यवहार इत्यादि की शिक्षा देते हैं, जिसे कि उनके बच्चे अनुकरण द्वारा सीख जाते हैं। उदाहरण के लिए हम सभी जानते हैं कि बिल्ली किस तरह अपने बच्चे को चूहे मारना सिखाती है। चूहे मारना बिल्ली के बच्चे के लिए सहज व्यवहार नहीं है। इसका प्रमाण यह है कि कुछ बिल्ली के बच्चों को शुरू से चूहों के साथ रखा गया, पर वे चूहे मारने वाले नहीं निकले।

इसी तरह चिड़ियां अपने बच्चों को उड़ना और गाना सिखाती हैं। जब अंग्रेजी अबाबील के कुछ बच्चों को कनारी चिड़ियों के साथ रखा गया तो उनके गाने का स्वर और तान बदल गई। इस तरह हम देखते हैं कि बिल्लियों के चूहे मारने या अबाबील के गाने में केवल आनुवंशिक कारण ही काम नहीं कर रहे हैं, उनमें सीखने का भी बड़ा हाथ है।

सीखना शारीरिक रचना प्रणाली का कार्य. सीखने की सामर्थ्य शारीरिक रचना से प्रत्यक्ष प्रभावित होती है। यही कारण है कि पृष्ठवंशी प्राणी (Verteberates), जो कि विकसित नाड़ीसंस्थान और रीढ़ की हड्डी से युक्त हैं, इस दिशा में बहुत उन्नत हैं। बन्दरों और लंगूरों में सीखने की खूब सामर्थ्य है, यद्यपि हाथी, घोड़े और कुत्ते भी सीखने में पर्याप्त कुशलता का परिचय देते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि सीखने का प्रारम्भ हमारे प्राणिक विकास पर अवलम्बित है। किसी प्राणी में जितना ही सूक्ष्म नाड़ी-संस्थान होगा, उसमें उतनी ही अधिक सीखने की सामर्थ्य होगी।

सीखने का संस्कृति से सम्बन्ध. 'सीखने' द्वारा, व्यवहार के संक्रमण द्वारा एक अद्भुत वस्तु का जन्म हुआ जिसे हम अधिभौतिक (super-organic) कहते हैं। इसी अधिभौतिक के सरल प्रारम्भ से आज उस विशाल प्रासाद का निर्माण हो सका है जिसे हम सभ्यता कहते हैं। उदाहरण के लिए एक चिड़िया के दूसरी चिड़िया को तान के संक्रमण से आजके रेडियो की नींव पड़ी है जिससे करोड़ों आदमियों को एक साथ आवाज़ पहुंचाई जा सकती है। एक बिल्ली के बच्चे द्वारा अपनी मां के चूहे पकड़ने की हरकत को देखकर आज के टेलीविज़न के विचार का उदय हुआ है। एक मनुष्य किस भांति एक शेर के पंजे से बच सकता है, इसे लिखकर इन पुस्तकों से हम यह याद कर सकते हैं कि आज से २००० साल पहले चीन में क्या हुआ।

हम यह जान सकते हैं कि सूर्य और चांद कैसे बने, मोटर कैसे बनाई जाती है, सुन्दर गाना कैसे सीखा जा सकता है; सूर्य और चांद की दूरी कितनी है। अस्तु। यह सब बातें केवल सीखने के संक्रमण से ही संभव हुई।

संस्कृति की परिभाषा

समाजशास्त्र में संस्कृति शब्द का साधारण बोलचाल की भाषा से कुछ भिन्न अर्थ है। हम सामान्यतः सुन्दर, परिष्कृत, रुचिकर अथवा कल्याण कारक व्यक्तिगत या सामाजिक व्यवहार या गुणों को संस्कृति समझते हैं। परन्तु समाजशास्त्र में संस्कृति का ऐसा कोई अर्थ नहीं है। इसमें किसी भी समाज की अच्छी-बुरी सभी चीज़ों, सभी रीति-रिवाजों, पारिवारिक, आर्थिक, राजनैतिक, संगठनों इत्यादि अन्यान्य कार्य-कलापों का समावेश है। संस्कृति के सम्बन्ध में एक बात और स्मरणीय है कि संस्कृति मानव की ही विशेषता है। प्राणिजगत् के निम्न पशुओं में इसका विकास नहीं है।

विभिन्न विद्वानों ने संस्कृति की विभिन्न परिभाषाएं दी है। इनमें से टेलर की परिभाषा बहुत प्रसिद्ध है। उनके शब्दों में "संस्कृति एक वह जटिल सम्पूर्ण है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिकता, कानून, तथा मानव जाति के सदस्य की हैसियत से सीखी किसी भी अन्य सामर्थ्य का समावेश है।"

रेडफील्ड ने संस्कृति को "परम्परागत स्वीकृतियों का एक संगठित स्वरूप जो कि कला, उपकरणों और परम्परा द्वारा संरक्षित रहते हैं और मानव समूह की विशेषता है," कहा है।

बोगार्डस के शब्दों में "एक समूह की कार्य करने और सोचने की समस्त रीतियां संस्कृति हैं। यह वह पृष्ठभूमि है जिस पर प्रत्येक बच्चा जन्म लेता है और जो तत्काल उसे एक विशेष प्रकार से कार्य करने और सोचने के लिए नियन्त्रित करने लगती है।"

चार्ल्स एलवुड के अनुसार "उन व्यवहारों के लिए जो कि सामाजिक रूप से संक्रमित किये जा सकते हैं, संस्कृति एक सामूहिक नाम है।" सामान्यतः समाजशास्त्री किसी समूहविशेष की समस्त बौद्धिक, नैतिक, यान्त्रिक और भौतिक प्रगति को संस्कृति में ही सम्मिलित करते हैं। पर प्रो० मैकाइवर और मैक्सवैबर का मत इस सम्बन्ध में कुछ भिन्न है। मानवशास्त्री के लिए संस्कृति वह सार्वभौम शब्द है जिसमें सामाजिक जीवन के प्रत्येक पहलू, नावें और आदमखोरी तक का—समावेश है। स्थापत्यशास्त्री विभिन्न पत्थर के औज़ारों के

लिए इस शब्द का प्रयोग करता है। प्रो० टायनबी ने बिना किसी राजनैतिक इकाई के भेद के किसी भी प्रादेशिक क्षेत्र में विद्यमान जीवन रीति को 'सभ्यता' का नाम दिया है।

सभ्यता और संस्कृति में भेद करने वाले, सभ्यता में जीवन के साधनों तथा संस्कृति में कला, धर्म, नैतिक प्रेरणा और ज्ञान का समावेश करते हैं। इससे स्पष्ट है कि मानव कर्मों की एक दिशा में प्रगति दूसरी दिशा में प्रगति से बहुत भिन्न है।

क्लारेंक्स केस ने इस बात पर विशेष बल दिया है कि संस्कृति मानव जाति का ही एक विशिष्ट गुण है तथा निम्न पशुओं के किसी भी प्रकार के व्यवहार को संस्कृति नाम देना उचित नहीं है। उसके अनुसार उनमें चिड़िया के गाने और उसकी उड़ने की योग्यता की भांति केवल मानसिक अवस्था का अभिक्षेप (Projection) है। मनुष्य द्वारा वस्तुएं तैयार की जाती हैं, जो कि मनुष्य से पृथक् होती हैं। उसके अनुसार संस्कृति की बुनियाद औज़ारों के आविष्कार और उपयोग में, अर्थात्, कृत्रिम भौतिक साधनों में है। टेलर की परिभाषा के अनुसार, संस्कृति भौतिक संस्कृति के अतिरिक्त भी कुछ चीज है। यद्यपि मनुष्य के सम्बन्ध में संस्कृति के भौतिक पहलू पर ज़ोर दिया जाता है, पर इसका यह अर्थ नहीं कि निम्न पशुओं में इसका कोई स्थान ही नहीं है। कोहलर ने बताया कि किस भांति पिंजड़े के बाहर लटके केले को लेने के लिए बन्दर ने एक लकड़ी में दूसरी लकड़ी जोड़ कर उसे लेने का प्रयत्न किया। क्या यह दो लकड़ियों का मिलाना आविष्कार नहीं है?

भाषा का महत्व

भाषा का बोलना और समझना एक प्रमुख तत्व है जिसने निम्न पशुओं की तुलना में मनुष्य की संस्कृति को इतना उन्नत बनाया है। भाषा जिसके द्वारा विचारों को, जैसे 'आग लग गई और सब भस्म हो गये,' को, प्रकट किया जा सके, पशुओं की कुछ चीखों की तुलना में एक महत्वपूर्ण घटना है। एक विकसित भाषा नाना वस्तुओं के सम्बन्ध में नाना प्रकार के विचारों को प्रकट करने की सामर्थ्य प्रदान करती है। इसके अतिरिक्त भाषा में ज्ञान को पीढ़ियों तक सुरक्षित रखने की शक्ति है। हिन्दी भाषा में कई लाख शब्द हैं। प्रागक्षर संस्कृतियों की भाषा की शब्दावलि केवल हज़ारों तक पहुंचती है। सरल से सरल भाषाओं का भी व्याकरण होता है और उनमें से कई तो हमारी

भाषा से भी जटिल हैं। उदाहरण के लिए ऐस्किमो भाषा में एक ही संज्ञा सैंकड़ों रूपों में विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त की जा सकती है।

वन्दरों में यद्यपि भाषा जैसी कोई चीज़ नज़र नहीं आती, फिर भी उनके इशारों, हावभावों, चीख-पुकारों में एक प्रतीकात्मक अनुभव का आभास मिलता है। लरनेड ने वानरों में अन्य पशु और व्यक्तियों से सम्बद्ध संवहन के भोजन, पानी आदि वत्तीस तत्व पाये। चूंकि एक वानर वच्चा सिखाये जाने पर भी भाषा नहीं सीख पाता, इससे हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि भाषा सीखने की सामर्थ्य प्राणिक विकास पर निर्भर है। किन्तु इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि मनुष्य में हठात् और अकस्मात् ही भाषा का विकास हो गया। भाषा वास्तव में कोई एक आकस्मिक करिश्मा न था। इसके विकसित होने में उसी प्रकार वहुत समय लगा होगा, जैसे कि एक गोरिल्ला के ६०० घन सेन्टी-मीटर मस्तिष्क को मनुष्य के मस्तिष्क के वरावर १,५०० घन सेन्टीमीटर का वनने में लगा है।

यह तथ्य कि निम्न पशुओं में भाषा नहीं है, मनुष्य और पशुओं की अधिजैविक-संस्कृति के अन्तर को स्पष्ट करता है। यह अन्तर इतना अधिक है कि मनुष्य की तुलना में पशुओं की संस्कृति अति तुच्छ और नगण्य दीखती है। अतः यह कहना भूल नहीं कि मनुष्य के साथ ही संस्कृति का प्रारम्भ है।

संस्कृतियों की तुलना

अधिजैविक के जन्म और विकास का अध्ययन हमें संस्कृतियों की तुलना करने में वहुत सावधान कर देगा। उदाहरण के लिए क्या एस्किमो की संस्कृति एक सरल संस्कृति है ? वीसवीं सदी के संयुक्त राज्य अमरीका की संस्कृति की तुलना में अवश्य यह वहुत पिछड़ी हुई है। परन्तु निम्न पशुओं की संस्कृति की तुलना में वह असाधारण रूप से विकसित है। ऐस्किमो की संस्कृति उन मानवसम प्राणियों की संस्कृति की तुलना में कहीं अधिक उन्नत है जो कि ५-१० लाख साल पहले एक भोंडी भाषा का निर्माण कर रहे थे। उस प्राणी से हिमयुग तक का फासला हिमयुग से वीसवीं शताब्दी के फासले से कई गुणा अधिक था। पहला फासला लाखों सालों का था, जब कि दूसरा केवल २५ हज़ार साल का है।

प्रारम्भिक मानव-संस्कृतियां

मूस्तरियन संस्कृति. प्राचीनतम मानव संस्कृति, जिसके कि अवशेष हमें प्राप्त हैं, मूस्तरियन संस्कृति है, जिसमें नीनडरथल मानव का निवास था।

इस नीनडरथल मानव की संस्कृति के सम्वन्ध में, जो कि पुरा-पाषाणयुग में विकसित हुई, कुछ जानना वहुत ज़रूरी है। किन्तु इस सम्वन्ध में कठिनाई यह है कि कोई भी रिवाज़ इतने अधिक समय तक शेष नहीं रह सकते और २५०० हज़ार साल तक सीली ज़मीन पर भौतिक संस्कृति के चिह्नों का बाकी रहना भी बहुत कठिन है। मूस्तरियन संस्कृति के जो अवशेष मिले हैं वे दो प्रकार के हैं : बादाम की शक्ल के पत्थर के पत्तर जो कि बीच की घुंडी को तोड़ कर बनाये गये हैं, इस घुंडी को ऐसी शक्ल दी गई है जैसी कि दो हथेलियों को मिला कर बनती है, इस औज़ार को कू दे पों कहते हैं। कू दे पों मूस्तरियन काल से पहले की संस्कृतियों में भी पाया जाता है। पत्थरों के पत्तरों का उपयोग मूस्तरियन संस्कृति में पर्याप्त विकसित था, क्योंकि हमें एक तरफ से तेज़ किये हुए पत्तर भी मिलते हैं। औद्योगिक कामों के लिए पत्थर छीलने, रंदने, छेदने, आदि के लिए विभिन्न औज़ार तथा चाकू की तरह के विभिन्न प्रकार के फलक, मुड़े हुए फलक, आरी की तरह कटे फलक, दोहरे फलक, चोंच की शक्ल के फलक, तथा कई फलक वाले फलक पाये जाते हैं। वहाँ पत्थर के घन और हथौड़े थे। युद्ध और शिकार के लिए इनके पास पत्थर के भाले, फेंकने के पत्थर और चाकू थे। उस समय के कुछ हड्डी के औज़ार भी प्राप्त हैं उनमें एक हड्डी की निहानी भी है। आग का ज्ञान मूस्तरियन संस्कृति से पहले प्राप्त था।

नीनडरथल मानव की खोपड़ी के माप से, जो कि आज के मानव के बराबर ही है, हम यह अनुमान लगाते हैं कि उसकी कोई भाषा भी रही होगी, किन्तु उसने क्या परम्परा छोड़ी या उसकी विश्व के सम्वन्ध में क्या कल्पना थी, इस सम्वन्ध में हम कुछ नहीं जानते। किन्तु जिस भांति कब्रों में उसके कंकाल पड़े मिले हैं उससे ज्ञात होता है कि नीनडरथल मनुष्य का कोई धर्म भी था और वह परिवारों में रहता था। इसका अनुमान हम उसकी लाश के साथ दाबी हुई वस्तुओं से लगाते हैं, जिससे यह प्रकट होता है कि शायद वह पुनर्जन्म में विश्वास रखते थे और यह काम उनके परिजन करते थे। वह एकपत्नी-व्रती थे अथवा वहुपत्नीव्रती, उनके यहां स्त्रियों की क्या स्थिति थी, क्या अनुशासन था, इस सम्वन्ध में कुछ जानने का साधन नहीं है। स्वभावतः उनके यहां स्त्री-पुरुषों में श्रमविभाजन था। वह स्वभावतः गुफाओं में रहते थे। उनके कपड़ों के कोई अवशेष नहीं मिलते। पर वह जलवायु, जिसमें वह रहता था, आज के ग्रीनलैण्ड जैसी रही होगी, इससे अनुमान किया जा सकता है कि वह कपड़े भी पहनते होंगे। सारी ही आदिम संस्कृतियों में, जिनके अवशेष आज प्राप्त हैं,

हमें किसी-न-किसी प्रकार के ग्राम या विरादरी संगठन, संगीत, वाद्य, चित्रकला के दर्शन होते हैं, परन्तु मूस्तरियन संस्कृति में यह सब कुछ थे या नहीं, या कैसे थे, इस वारे में हम कुछ नहीं जानते।

नीनडरथल मानव के वाद सामाजिक विरासत में तेजी से वृद्धि हुई और क्रोमैंयोंग मानव की मैडलिनियन संस्कृति जो कि आज से लगभग १०-१५ हज़ार साल पहले विकसित हुई, उस स्तर तक पहुंच गई जहां कि आजकल के ऐस्किमो हैं। अतः आज से १०-१५ हज़ार साल पहली मानव संस्कृति का परिचय प्राप्त करने के लिए ऐस्किमो संस्कृति का अध्ययन उपयोगी होगा।

ऐस्किमो संस्कृति

हम यह निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि हिम-युग के क्रोमैंनोन मानव की सभ्यता ऐस्किमो के ही समान थी, पर इतना अवश्य जानते हैं कि दोनों की भौतिक संस्कृतियां, जलवायु और भौगोलिक वातावरण वहुत कुछ समान हैं। यह वहुत संभव है कि क्रोमैंनोन मानव की संस्कृति ऐस्किमो संस्कृति से वहुत कुछ मिलती-जुलती हो। चाहे कुछ भी हो, उस समय के अवशिष्ट पत्थर और हड्डी के औज़ारों के आधार पर इतना तो कहा जा सकता है कि वह वहुत उन्नत और जटिल थी।

सुविधा के लिए ऐस्किमो संस्कृति को भौतिक और अभौतिक दो भागों में अध्ययन करना वेहतर होगा।

भौतिक संस्कृति

निवास. ऐस्किमो वर्फ के घरों में रहते हैं जिन्हें कि एक कुशल ऐस्किमो कुछ ही घंटों में तैयार कर सकता है। घरों की शक्ल आधी गेंद की तरह होती है। यह वर्फ का घर एक दिये से ही इतना गर्म हो जाता है कि इसके अन्दर ऐस्किमो कमर तक नंगे रहते हैं, फिर भी वर्फ नहीं पिघलती। वर्फ की छत से खालों को लटकाकर वह हवा से सुरक्षा प्राप्त करते हैं, क्योंकि खाल और वर्फ की दीवार के वीच पर्याप्त हवा रह जाती है।

यातायात. यातायात के लिए जब वर्फ़ सख्त होता है, ऐस्किमो स्लेड का प्रयोग करते हैं। यदि कोई वहती लकड़ी या हड्डी नहीं मिलती तो वह जमी हुई साल्मन मछली और वालरस की खाल से स्लेड वना लेते हैं। एक छोर से दूसरे छोर तक साल्मन विछा दी जाती है और उसे एक खाल में लपेट कर जमने छोड़ दिया जाता है, और वाद में उसे स्लेड से वांव दिया

जाता है। रगड़ को कम करने के लिए कुछ पानी छिड़क दिया जाता है, जो जम जाता है। और इस तरह चमड़े को घिसने से बचाता है। सधे हुए रेंडियरों की सहायता से एक ऐस्किमो अपनी स्लेड द्वारा बर्फ़ पर एक घोड़ा-गाड़ी से अधिक तेज़ी से यात्रा कर सकता है।

जल-यातायात के लिए ऐस्किमो के पास एक हल्की खाल की नाव होती है जिसमें पीपे के ढक्कन के बराबर एक छेद होता है। जब ऐस्किमो अपने खाल के कोट को उसके हुक जैसे छेद में बांध उसमें बैठता है, तो लहरों के थपेड़ों अथवा वालरस की चोट से उलट-पलट जाने के बावजूद भी, उसमें पानी नहीं भरता और न ही बैठने वाला गिरता है।

विस्तृत प्रदेश में बिखरे हुए ऐस्किमो के लिए यात्रा के यह साधन बहुत ही उपयुक्त हैं। इनकी जनसंख्या बहुत कम है, संसार के समस्त ऐस्किमो एक शहर में बसाये जा सकते हैं। एस्किमो बड़ा घुमक्कड़ जीव है। उसे भोजन-प्राप्ति के लिए बहुत भटकना पड़ता है। इसके अतिरिक्त, उसे घूमने का भी बेहद शौक है।

विशेषज्ञों की राय में ऐस्किमो के पास सर्वोत्तम और निर्दोष जूते हैं जिनमें हर उंगली के लिए अलग-अलग जगह होती है और पैर बड़े आराम में रहता है।

इसके अतिरिक्त शिकार में ऐस्किमो अपने चातुर्य का विशेष परिचय देता है। उसके शत्रु भेड़िये को पकड़ना आसान नहीं है। उसको मारने का एक तरीका ह्वेल मछली की हड्डी को मोड़ उस पर चरबी लपेट कर उसे जमा देना है। भेड़िया उसे एक सटाके में निगल जाता है। पेट में जाने पर चरबी पिघल जाती है और हड्डी से उसका पेट फट जाता है। या एक चाकू पर खून लगा कर रख दिया जाता है। भेड़िया खून देख आकर्षित होता है और चाकू को चाट अपनी जीभ काट लेता है और जैसे ही चाकू पर अधिकाधिक खून आने लगता है वह उसे और ज्यादा चाटता है और अन्ततोगत्वा कमज़ोरी से गिरकर मर जाता है। ऐस्किमो का ज़ख्मी जलचर का पीछे करने का तरीका भी बहुत कुशलतापूर्ण है। हारपून हथियार के जो कि जानवर के भीतर होता है, बाहर कुछ फूले ब्लैडर बंधे रहते और बाहर तैरते रहते हैं, ऐसी स्थिति में जब वालरस या अन्य जलचर दौड़ने का प्रयास करता है, उसकी गति कम हो जाती है, और वह जल्दी ही थक कर गिर जाता है।

उपर्युक्त आविष्कार हिम युग के हैं जिसमें कि मानव को केवल पत्थर

और हड्डी के ही औजार प्राप्त हैं, परन्तु इनमें तथा इनके प्रयोग में भी उसकी कुशलता का पर्याप्त परिचय मिलता है।

अभौतिक संस्कृति

धर्म. ऐस्किमो का धर्म भी है यद्यपि हम नहीं जानते कि क्रोमैनोन मानव का भी कोई धर्म था कि नहीं। ऐस्किमो की प्रमुख देवी सेडना है जो समुद्र की सतह पर अपने पिता के साथ रहती है। सेडना समस्त समुद्री जन्तुओं, जो कि खाद्य-सामग्री के प्रमुख साधन हैं, तथा ऋतुओं पर नियन्त्रण करती है। ऐस्किमो के धार्मिक नेता या पुरोहित अंगकूट कहलाते हैं। वह वहुत शक्तिशाली समझे जाते हैं क्योंकि वह सेडना से खाद्य-सामग्री और तूफान जैसे महत्वपूर्ण प्रश्नों पर परामर्श करते हैं। वह अलौकिक शक्ति द्वारा इनुआ नामक शक्ति से विभूषित होते हैं। इस तरह अंगकूट रोगियों तथा आहतों को ठीक करने अथवा अकाल को समाप्त करने के चमत्कार सम्पन्न कर सकते हैं। ऐस्किमो शिकारी का अपना विश्व-विज्ञान और धार्मिक नेता हैं। इस प्रकार के धर्म का विकास एक उच्च श्रेणी के वौद्धिक स्तर को सूचित करता है। उनके यहां धार्मिक पूजा के लिए वर्फ़ के वने विशेष पूजा-स्थान भी हैं। इनमें विधि अनुसार जाड़े की लम्बी रातों में नाच-गान होता है।

उनके विभिन्न प्रकार के धार्मिक नियम हैं। ऐसा माना जाता है कि सील मछली का जन्म सेडना की उंगलियों से हुआ, अतः प्रत्येक मारी गई मछली के लिए प्रायश्चित करना आवश्यक है। सील काटते समय सव काम वन्द कर देना अनिवार्य है। वालरस मारने के वाद तीन दिन आराम करने का विधान है। इसी तरह, विशेष कालों में स्त्रियों के लिए विशिष्ट विधान हैं। वह कच्चा मांस नहीं खा सकती; उन्हें विशेष प्रकार के वर्तनों में भोजन रांधना होता है; वह उत्सवों में भाग नहीं ले सकतीं। इन टैवुओं—वर्जित वातों का उल्लंघन करने का परिणाम अपराधी पर उस काली वस्तु का आक्रमण होता है जो शिकार के जानवर को दिखाई देती है और जिसे देख कर वह भाग जाते हैं, और इस तरह भोजन की पूर्ति के लिए संकट खड़ा हो जाता है। अकाल के निवारण के लिए सार्वजनिक प्रायश्चित्त करना पड़ता है। इस तरह उनकी संस्कृति में दण्ड के भी सूक्ष्म विधि-विधान हैं।

नैतिकता. इसी तरह ऐस्किमो में नैतिकता के विभिन्न नियम हैं, यद्यपि वह हमारे नियमों से वहुत भिन्न हैं। यात्री के आतिथ्य में भोजन और आश्रय के अतिरिक्त कभी-कभी सोने के साथी का भी समावेश होता है। पर

इसके लिए पति-पत्नी दोनों की सहमति आवश्यक है। ऐसे आतिथ्य की अस्वीकृति आतिथेय और स्त्री के लिए बड़े अपमान की बात समझी जाती है। पुरुष परिवार का मुखिया माना जाता है और बिना उसकी अनुमति के किसी प्रकार की कामुक उच्छृङ्खलता बहुत दण्डनीय है। अतः काम-सम्बन्ध में उनके व्यवहार को किसी भी तरह कामचार नहीं कह सकते। बूढ़ा ऐस्किमो जो कि शिकार करने के योग्य नहीं रहता या तो वह समूह को छोड़ स्वयं अकेला चला जाता है, या समूह को अपने को छोड़कर जाने के लिए कह देता है, या समूह द्वारा भोजन बचाने की चिन्ता में स्वयं मरने को छोड़ दिया जाता है।

युद्ध. ऐस्किमो शायद ही कभी लड़ते हैं, यद्यपि अन्य आदिम जातियों की भांति खानदानी या स्थानीय वर्गों के झगड़े उनमें भी पाये जाते हैं। युद्ध के बजाय ऐक्सिमो व्यंग और कटाक्ष द्वारा अपने झगड़ों का निपटारा करते हैं। लोगों के सामने एक भंडवा या हास्य गान प्रतियोगिता के रूप में झगड़े का संचालन होता है। प्रत्येक दल गाने की कड़ी जाड़ कर जवाब देता है और कुछ ही समय में श्रोतागण इस परिणाम पर पहुंच जाते हैं कि युक्ति और हाजिरजवाबी में कौन विजयी रहा।

स्वास्थ्य. ऐस्किमो लोगों का स्वास्थ्य अच्छा होता है। यद्यपि वह बहुत गन्दे रहते हैं, जिसके लिए उनका वातावरण बहुत कुछ उत्तरदायी है। उनमें बीमारी विरल है। अन्वेषकों का मत है कि ऐस्किमो बहुत प्रसन्न रहते हैं। वे चिड़चिड़े और तुनुकमिजाज नहीं होते।

सामाजिक संगठन. ऐस्किमो-सामाजिकसंगठन परिवार और ग्राम-समुदाय पर आधारित है। परिवार के पुरुष भोजन जुटाते और घर बनाते हैं, स्त्रियां भोजन पकाती और कपड़े बनाती हैं। एक वर्ग के परिवार भोजन और वस्तुओं का सम्मिलित उपभोग करते हैं। चूंकि ग्राम बहुत छोटे-छोटे होते हैं अतः उसके सदस्यों में बहुत निकटता और घनिष्ठता होती है। विभिन्न परिवारों के पुरुषों से मिलकर शिकारी दल का निर्माण होता है। ऐस्किमो में बहुत कम संगठित सरकार है। शक्ति दो प्रकार के नेताओं—अंगकूट और सर्वोत्तम शिकारियों में निहित है। नेतृत्व आनुवंशिक और निश्चित रूप से संगठित नहीं है। तब भी यह क्षमतावान् को प्राप्त होता है। ऐस्किमो में एक बड़े आदमी में आविष्कर्त्ता, उद्योगी नेता आदि के अनेक गुणों का सम्मिलन होता है।

कला. क्रोमैयोंग लोग अद्भुत कलाकार थे। उनकी कला की तुलना आज़ की कला से की जा सकती है। ऐस्किमो-कला अधिक उन्नत नहीं है, फिर भी उनका हाथी दांत और कपड़े का काम दर्शनीय है। उनके फ़र आधुनिक औरतों के फ़रों से अधिक सुन्दर होते हैं। एक ही हाथी दांत के टुकड़े को विना काटे उसमें सुन्दर डिजाइन एवं चित्र तराश कर हार तैयार कर देना उनकी विशेषता है।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण से हमें ऐस्किमो संस्कृति की एक झलक मिल जाती है। यद्यपि जैसा कि लिखा गया है, उनकी संस्कृति इससे कहीं अधिक जटिल और सूक्ष्म है। परवर्त्ती हिमयुग का क्रोमैनोन मानव प्राणिक दृष्टि से आधुनिक मानव की भांति अतिविकसित था और उसमें संस्कृति के सभी तत्व विद्यमान थे।

सभ्यता का उद्गम

यदि हम भौतिक अवशेषों से अनुमान करें तो हमें ज्ञात होगा कि हिम-युग की तुलना में इतिहास के शुरू में संस्कृति वहुत तेज़ी से आगे वढ़ रही थी। पुराने पाषाणयुग की तुलना में दजला-फरात और सिन्धु नदी के काठे के लोग अति विकसित संस्कृति का निर्माण कर चुके थे। इतिहास के शुरू में लम्वे प्रयत्नों के वाद लिपि पूर्णता को प्राप्त कर सकी। मोहन्जोदाड़ो हड़प्पा में तथा अमरीका में माया जाति में इसने चित्रलिपि का रूप धारण किया। संस्कृति के विकास में लिपि का महत्वपूर्ण हाथ रहा। चूंकि संस्कृति का आधार संक्रमण है अतः इसमें लिपि का उतना ही महत्त्व है जितना कि वाली या भाषा का।

इतिहास और सभ्यता लिपि के साथ प्रारम्भ होती है। आगवर्न निमकौफ के शब्दों में सभ्यता को अधिजैविक का परवर्त्ती चरण कहा जा सकता है। वास्तव में सभ्यता शब्द सामाजिक संगठन के एक स्वरूप को सूचित करता है। सभ्यता से पहले पश्चिमी एशिया और यूरोप में समाज समरक्तता और विरादरी के आधार पर संगठित था। ग्रामों और समुदायों के विकास के साथ समरक्तता सामाजिक संगठन में पीछे धकेल दी गई और केवल परिवार तक सीमित रह गई, जैसाकि आजकल हमारे यहां पर है। समूह नागरिक आधार पर संगठित किये जाने लगे और सभ्यता का सूत्रपात हुआ। भूमध्यसागरीय प्रदेश में नागरिक समाज अतिविकास को प्राप्त हुए; उन्होंने लिपि को सुधारा और भौतिक उन्नत्ति की। इस तरह लिपि और धातुओं के आगमन से प्रायः

सभ्यता का प्रारम्भ समझा जाता है, पर जैसे-जैसे प्रागैतिहासिक संस्कृतियों की जटिलता और सूक्ष्मता सामने आ रही है, वैसे-वैसे सभ्यता और आदिम समाज का अन्तर काफ़ी अस्पष्ट होता जा रहा है।

लिखित इतिहास के काल में धातुओं का पर्याप्त विकास हुआ है। १९वीं शती में पक्के लोहे का निर्माण तथा २०वीं शती में मिश्रित धातुओं का प्रयोग इसमें विशेष महत्त्व रखता है। शक्ति परिचालित मैशीनों ने उसे एक नई दिशा दी। आदिम सभ्यता के पास ढोने के पशु, लीवर और पाल थे। सभ्यता के प्रारम्भ में हवाई चक्की का आगमन हुआ। किन्तु इन सबसे महत्वपूर्ण भाप के ऐंजिन का आविष्कार था। बाद में इन्टरनल कम्बशन, पेट्रोल ऐंजिन और बिजली की मोटर आई।

भौतिक और अभौतिक संस्कृति

अभौतिक संस्कृति (उदाहरण के लिए धर्म और रीति रिवाजों) की तुलना में भौतिक संस्कृति (उदाहरण के लिए औज़ार और इमारतों) में सांस्कृतिक विकास की संचयात्मक प्रवृत्ति विशेषरूप से परिलक्षित होती है ? पुरानी परिभाषाएं संस्कृति में भौतिक वस्तुओं का समावेश नहीं करती थीं। उनके अनुसार संस्कृति उपकरणों का समूह न होकर सीखा व्यवहार था। इस परिभाषा के अन्तर्गत भौतिक वस्तुओं के निर्माण में मानसिक अथवा अभौतिक तथ्यों का कोई स्थान नहीं था। फिर भी, भौतिक संस्कृति शब्द का प्रयोग चल पड़ा है। इसमें उन भौतिक वस्तुओं का समावेश है जो हमारी सामाजिक विरासत का अभिन्न अंग बन चुकी हैं। वास्तव में प्रकृति के अतिरिक्त नूतन मानव निर्मित वस्तुएं भी हमारे वातावरण में जुड़ जाती हैं। उदाहरण के लिए, घर हमारी वर्षा, हवा, सर्दी और गर्मी से सुरक्षा करते हैं। इस तरह भौतिक संस्कृति एक नया वातावरण बन जाती है, अधिजैविक के विभिन्न अंग—परिवार, शिक्षा, मनोरंजन—जिसके अनुकूल अपने को ढालने का प्रयत्न करते हैं। अभौतिक संस्कृति बहुत कुछ अपने को नये औज़ारों, आविष्कारों और यन्त्रों के अनुकूल बनाने का ही परिणाम होती है।

सामाजिक संगठन. विशेष उद्देश्य के विश्लेषण के लिए भौतिक और अभौतिक संस्कृति में विभेद करना आवश्यक है पर हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि यह एक बड़ी सांस्कृतिक इकाई, सामाजिक संगठन का अंग हैं। उदाहरण के लिए, घर, भोजन, फर्नीचर, बर्तन पारिवारिक संस्था की भौतिक संस्कृति के

अंग हैं, जबकि विवाह, एकभार्यता अथवा पितृसत्ता उसकी अभौतिक संस्कृति के प्रतिनिधि हैं। भौतिक और अभौतिक संस्कृतियां बुनियादी मानवीय क्रियाओं के चारों ओर विकसित होती हैं और इस तरह सामाजिक संस्थाओं का विकास होता है। काम, क्रिया, स्तुति, क्रीड़ा मनुष्य के मुख्य कार्य हैं। इन्हीं पर परिवार, आर्थिक, धार्मिक और मनोरंजन संस्थाओं की बुनियाद खड़ी हुई है। पुस्तक के एक पृथक् खण्ड में इन सब का विस्तार से वर्णन है। सामाजिक संस्थाएं संस्कृति का मूल तत्व और सार हैं।

सार्वभौम संस्कृति प्रतिमान (Pattern)

आज लगभग ५०० प्रागक्षर संस्कृतियां विद्यमान हैं। विभिन्न संस्कृति के अंगों के सम्बन्ध में एक बात विचारणीय है कि क्या समस्त आदिवासी संस्कृतियों में यह सब अंग उपलब्ध हैं। क्लार्क विज़लर, जिन्होंने इस विषय का गंभीर अध्ययन किया है, उनके अनुसार निम्न अंश सभी प्रागक्षर संस्कृतियों में पाये जाते हैं: (१) बोली; (२) भौतिक गुण, उनसे सम्बद्ध वस्तुएं और कुशलता; (३) कला; (४) पुराण और विज्ञान; (५) धार्मिक कृत्य; (६) परिवार और सामाजिक प्रणाली; (७) सम्पत्ति; (८) सरकार; और (९) युद्ध। उपर्युक्त नौ विभाजन संस्कृति के अल्पतम विभाग हैं, जिन्हें विज़लर ने संस्कृति के 'सार्वभौम प्रतिमान' कहा है। किन्तु यह सब बातें तभी पूरी हो सकती हैं, जबकि उपर्युक्त विभागों का हमारा अर्थ पर्याप्त विस्तृत हो, क्योंकि जैसाकि हम देखेंगे, उदाहरण के लिए, प्रागक्षर संस्कृतियों में हमें सरकार का प्रारम्भ ही दिखाई देता है।

संस्कृति के विभिन्न अंगों का अन्तःसम्बन्ध

संस्कृति के विभिन्न अंग एक दूसरे से सम्बद्ध हैं और वह पृथक् कार्य नहीं करते। उदाहरण के लिए, परिवार, शिक्षा संस्था से सम्बद्ध है; प्रागक्षर संस्कृतियों में धर्म और चिकित्सा एक दूसरे से बंधी हुई थीं। संस्कृति के विभिन्न अंग अत्यधिक अनुपात में एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। कला का धर्म से पर्याप्त सांनिध्य है। सरकार और उद्योग एक दूसरे से घनिष्ठतया जुड़े हुए हैं। आचार और धर्म आज साथ हैं, जैसेकि पुराने समय में परिवार और उत्पादन था। इस तरह हम देखते हैं कि संस्कृति एक शरीर या मैशीन की भांति है जिसके समस्त अंग या पुर्जे एक दूसरे से सम्बन्धित हैं।

संस्कृति संकुल (Complex)

संस्कृति का प्रत्येक उप-भाग कुछ चीजों से मिलकर बना होता है । जब यह अन्तःसम्बन्ध किसी प्रबल सांस्कृतिक गुण के चारों ओर केन्द्रित होते हैं, उन्हें संकुल या सम्मिश्रण कहते हैं । इस तरह खाने-पीने, सोने, मिलने, उठने-बैठने, आने-जाने, खेती करने, व्यापार करने, मोटर चलाने आदि प्रत्येक का एक संकुल है । उदाहरण के लिए रसोई, पकाने वाला, थाली, कटोरी, गिलास, दाल, सब्जी, रोटी, चावल, आसन, हाथ धोना, उंगलियों से खाना, इत्यादि हमारा भोजन संकुल है । संस्कृति संकुल में संस्कृति-गुणों के परस्पर सम्बन्ध बहुत निकट-तया दिखाई देते हैं, और इससे भी अधिक संस्कृति के विभिन्न अंगों का परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट होता है ।

संस्कृति प्रतिमान (Pattern)

संस्कृति के विभिन्न अंगों से जो व्यवस्था स्थापित होती है उसे संस्कृति प्रतिमान कहते हैं । प्रत्येक संस्कृति की व्यवस्था में कुछ अन्तर होता है । चीन की संस्कृति अमरीका की संस्कृति से बहुत भिन्न है । उदाहरण के लिए, चीन का पारिवारिक संगठन बहुत बड़ा है, जिसमें प्रायः २० या इससे भी अधिक सदस्य मिलकर रहते हैं । चीनी परिवार धार्मिक और आर्थिक संगठन से घनिष्ठतया सम्बद्ध है । पूर्वजों की पूजा उसकी मुख्य विशेषता है । चीन में अभी भी परिवार उत्पादन की प्रमुख इकाई है । अमरीका की भांति वहां वृहत् कारखानों के उत्पादन का विकास नहीं हुआ है, और अभी भी चीन एक कृषि प्रधान देश है । इसके अतिरिक्त, चीनी कृषि का आर्थिक संकुल अमरीका से बहुत भिन्न है । चीन में हल-भैंस, कुदाल, और हाथ से खेती होती है, जब कि अमरीका में ट्रैक्टर, थ्रैशर और मोअर का बोलबाला है । इस तरह हम कह सकते हैं कि चीनी संस्कृति अमरीकन संस्कृति से भिन्न है ।

संस्कृति-वैशिष्ट्य (Ethos). अनेक संस्कृतिशास्त्रियों ने विभिन्न संस्कृतियों की प्रमुख विशेषताओं को बताने का प्रयास किया है । इन प्रयत्नों की बड़ी कमी सदैव परिवर्तनशील और विभिन्नतत्वीय जटिल संस्कृति को अति सरल शब्दों में रखने का प्रयास है । हम प्रायः सुनते हैं कि जर्मनी की संस्कृति तानाशाही, भारत की आध्यात्मिक, इंग्लैण्ड की प्रजातान्त्रिक, स्पार्टा की सामरिक, एथन्स की व्यापारिक और पुनर्जागरणकालीन इटली की संस्कृति कलात्मक है । एक संस्कृति से किसी एक प्रबल विशेषता को चुन लेने की यह प्रवृत्ति एक व्यक्तिगत प्रतिक्रिया मात्र है । वैज्ञानिक विवेचन के लिए यह आवश्यक है

कि समस्त या वहुत से संकुलों को, जो कि एक संस्कृति को एक विशिष्ट व्यक्तित्व या स्वरूप प्रदान करते हैं, एक साथ प्रस्तुत किया जाय । उदाहरण के लिए, जापान की संस्कृति के लक्षणों को हम पूर्वजपूजा, राजा की दिव्यता, युद्धप्रियता, ज्ञान के प्रति सम्मान तथा विनय और भद्रता में व्यक्त कर सकते हैं । अमरीका की संस्कृति विशाल मैशीनों, धनलिप्सा, भोगवाद, प्रतियोगिता, रहन-सहन का उच्चस्तर तथा प्रजातन्त्र में विश्वास के रूप में प्रकट होती है । सोवियत रूस की संस्कृति मार्क्सवाद, और महान् रूसी जाति की श्रेष्ठता में अटूट विश्वास, सामूहिक कल्याण, मैशीनों, प्रत्येक कार्य में कम्युनिस्ट पार्टी की सार्वभौमता और स्तालिन पूजा में परिलक्षित होती है । इसमें कोई शक नहीं कि प्रत्येक संस्कृति की कुछ अपनी विशेषताएं होती हैं, पर उन्हें सरल भाषा में व्यक्त करना वहुत कठिन कार्य है ।

सांस्कृतिक क्षेत्र. सांस्कृतिक प्रतिमानों और विशेषताओं के आधार पर विभिन्न प्रदेशों को पृथक् सांस्कृतिक क्षेत्रों में विभक्त किया जा सकता है । वास्तव में इस तरह जो सीमाएं बनती हैं, वह वर्तमान राजनैतिक सीमाओं से प्रायः मेल नहीं खातीं । एक देश में कई संस्कृतियों और कई देशों में समान संस्कृति के दर्शन होते हैं । और फिर किसी प्रदेश विशेष में भी संस्कृति का प्रतिमान निरन्तर अल्पाधिक गति से परिवर्तित होता रहता है । अमरीका, रूस आदि देशों में वहां विभिन्न सांस्कृतिक क्षेत्रों को खोजने के प्रयास हुए हैं । भारतवर्ष में अभी तक इस दिशा में कुछ कार्य नहीं हुआ है । डा० डी० एन० मजूमदार ने अवश्य उत्तर प्रदेश के सांस्कृतिक क्षेत्रों को परिसीमित करने का प्रयास किया है । उनके अनुसार उत्तर प्रदेश को निम्न सांस्कृतिक क्षेत्रों में बांटा जा सकता है ।

(क) प्रांत का निचला हिमालय प्रदेश जो कि खास, राजपूत ब्राह्मणों की संस्कृति को, जो कि डोमों पर लादी गई है, प्रकट करता है । गढ़वाल इसका केन्द्र वन सकता है ।

(ख) ऊपर से मिलती-जुलती संस्कृति की एक प्रशाखा कुमाऊं प्रदेश में है ।

(ग) तीसरा क्षेत्र लगभग तराई के प्रदेश को ढकता है, लखीमपुर-खीरी इसका केन्द्र कहा जा सकता है । इसमें तीन-चार क्रमिक सांस्कृतिक तहों का समावेश है जो कि वौद्ध धर्म के ताने-वाने में संयुक्त हो गई हैं ।

(घ) चौथा सांस्कृतिक क्षेत्र मिर्जापुर का आदिवासी इलाका है। इसमें मुख्यतः मुण्डा या द्रविड़ भाषा से सम्बद्ध भाषा-भाषी आदिवासी रहते हैं। यह क्षेत्र एक ओर विहार की और दूसरी ओर मध्य भारत की आदिवासी संस्कृतियों से सम्बद्ध है।

(ङ) बनारस एक पृथक् सांस्कृतिक क्षेत्र है जिसमें हिन्दू संस्कृति की विशेषताएं संरक्षित हैं।

(च) पश्चिमी उत्तर प्रदेश को दो सांस्कृतिक क्षेत्रों में बांटा जा सकता है (१) बुन्देलखण्ड (२) मथुरा और आगरा। यह साँस्कृतिक क्षेत्र मध्यकाल की अनेक वीरता और भक्ति की परम्पराओं को संरक्षित किये हुए हैं।

(छ) लखनऊ, कानपुर और इलाहाबाद को पृथक् संस्कृति क्षेत्रों में नहीं बांटा जा सकता, क्योंकि इन प्रदेशों की जनश्रुति में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

व्यक्ति और संस्कृति

क्या संस्कृति आनुवंशिकता से निर्धारित होती है ?

मनुष्य के प्राणिक स्वभाव और संस्कृति में परस्पर क्या सम्बन्ध है, यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। क्या मनुष्य का प्राप्त स्वभाव उसके अधिजैविक के स्वरूप को निर्धारित नहीं करता ? क्या काम-प्रवृत्ति, परिवार, क्रीड़ा-प्रवृत्ति, मनोरंजन और क्षुधा प्रवृत्ति मनुष्य के आर्थिक संगठन को निश्चित नहीं करती। इसमें संदेह नहीं कि मनुष्य का प्राप्त स्वभाव अधिजैविक का एक सामान्य मार्ग प्रदर्शन करता है। परन्तु वह उसके ब्यौरे को निश्चित नहीं करता। यह ठीक है कि मनुष्य की काम-प्रवृत्ति या जातिसंक्षरण की आवश्यकता एक परिवार की आवश्यकता को सिद्ध करती है, किन्तु उस परिवार के छोटे-बड़े, एक विवाही, बहुभार्यक, बहुभर्तृक, तलाक और बेतलाक या रखेलियों के साथ विभिन्न स्वरूप हो सकते हैं। हम किसी अन्तर्राष्ट्रीय हस्पताल में एक हजार बच्चे देखकर यह नहीं बता सकते कि वह कैसे परिवारों का निर्माण करेंगे, किन्तु यदि हमें यह मालूम हो कि किन समुदायों में उनका पालन-पोषण होगा तो हम भलीभाँति बता सकते हैं कि वह कैसे परिवारों, रीति-रिवाजों, व्यवहारों का पालन करेंगे, और कौन सी भाषा का प्रयोग करेंगे। इसमें संदेह नहीं कि मनुष्य का प्राप्त स्वभाव उसके अधिजैविक की सीमा को निर्धारित करता है और स्वभावतः सामान्य प्रवृत्तियों की ओर संकेत करता है। फिर भी यह प्रश्न

रह ही जाता है कि मनुष्य का प्राणिक स्वभाव उसके कितने अधिजैविक ब्यौरे को निश्चित करता है।

इस सम्बन्ध में सार्वभौम संस्कृति-प्रतिमान पर नज़र डालना भी ज़रूरी है। क्या विज़लर के प्रतिमान—भाषा, परिवार, युद्ध औजार आदि मनुष्य के प्राणिक स्वभाव से निर्धारित होते हैं ? हम एक ऐसी स्थिति की कल्पना कर सकते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति के पास मोटरकार हो और वह सब कोट-पतलून पहरना शुरू कर दें और लिखना-पढ़ना जान जायें तो क्या इससे यह सिद्ध होता है कि यह उनकी प्राणिक प्रकृति का परिणाम है ? यही बात युद्ध के सम्बन्ध में जो कि सार्वभौम संस्कृति प्रतिमान का एक अंग है, लागू होती है। हम यह नहीं कह सकते कि युद्ध मानव की जन्मजात प्रवृत्ति है।

अधिजैविक जैविक के लिए हानिकर हो सकता है. यदि अधिजैविक मनुष्य की प्राप्त प्रवृत्ति की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति हो, तो संस्कृति और मनुष्य की प्राणिक आवश्यकताओं में कोई विरोध ही पैदा न हो। पर सदैव ऐसा नहीं होता। कुछ सांस्कृतिक विशेषताएं निश्चयात्मक रूप से मनुष्य के प्राणिक जीवन के लिए हानिकर होती हैं। उदाहरण के लिए चीन में स्त्रियों के पैर छोटे करने के लिए उन्हें लोहे के जूते पहराने का रिवाज, भारत में बालविवाह या पर्दा प्रथा अथवा योरोप में बहुत देर से विवाह, प्राणिक दृष्टि से हानिकर हैं। इस तरह संस्कृति में निरोध और नियन्त्रण है। जितनी ही शिक्षा बढ़ती है उतना ही यह बढ़ता जाता है। मनुष्य में अन्य प्राणियों की तुलना में शिक्षा-अवधि सबसे लम्बी है। इस तरह संस्कृति को उसकी जन्मजात प्रवृत्ति को परिवर्तित करने या मोड़ने का पर्याप्त अवसर मिलता है।

एक शारीरिक क्रिया--क्रोध के लिए विभिन्न रिवाज. हमारी प्राणिक प्रकृति की प्रवृत्तियों को विभिन्न प्रकार से ढाला जा सकता है। एक शारीरिक प्रक्रिया—क्रोध के उदाहरण से इसे स्पष्ट किया जा सकता है। आसाम के खासी बड़े लड़ाकू लोग हैं; ग्रीनलैण्ड के ऐस्किमो बहुत शांतिप्रिय हैं। द्वितीय महायुद्ध में अंग्रेज राष्ट्रीयता से प्रेरित होकर लड़े जबकि उनकी ओर से भारतीय सैनिक केवल पेट और पद के लिए लड़े। व्यक्तियों के बीच लड़ाई तैश में हठात् शुरू हो सकती है। अनेक बार यह नियमबद्ध होती है। फ्रांस के द्वन्द्वयुद्ध (duel) का रिवाज ऐसा ही है। डयूएल एक ही वर्ग के लोगों के बीच हो सकता है, उसके लड़ने के निश्चित नियम होते हैं, लड़ने वाले जिनका पालन करते हैं। अमरीका के गुंडों में ऐसा कोई नियम नहीं है।

वह शत्रु को किसी बहाने मोटर में बैठा; शहर के बाहर ले जा कर उसे किसी प्रकार के प्रतिकार का अवसर दिए बिना गोली मारकर जमीन में गाड़ देते हैं।

कई जातियों में लड़ना, जहां नारी के सम्मान का प्रश्न हो, बड़ा भारी गुण माना जाता है। बहुत से माता-पिता बच्चों को लड़ने की शिक्षा देने में पूरा जोर लगाते हैं। इसके विपरीत, अन्य माता-पिता बच्चों को लड़ाई-झगड़े से दूर रहने का उपदेश देते हैं। भारत में महात्मा गांधी ने निष्क्रिय प्रतिरोध पर बहुत बल दिया। बहुत से वर्ग आपसी झगड़े निपटाने के लिए अदालत में जाना अपनी हतक समझते हैं और स्वयं ही अपने झगड़े निपटाने में गौरव बोध करते हैं। उनकी शत्रुता एक समय में समाप्त नहीं होती, बहुत बार तो पीढ़ियों तक चलती है। सामान्यतः स्त्रियों में तथा स्त्री-पुरुष में आपस में हाथापाई अच्छी नहीं मानी जाती, पर अमरीका के कुछ नीग्रो वर्गों में इसे अनुचित नहीं समझा जाता। वास्तव में स्त्री-पुरुष के बीच क्रोध की शारीरिक प्रक्रिया में कुछ विशेष अन्तर नहीं है।

इस तरह हम देखते हैं कि लड़ाई से सम्बद्ध सांस्कृतिक व्यवहार में विभिन्न जातियों तथा एक ही जाति में विभिन्न समयों में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। मनुष्य की मूल प्रवृत्ति इस सम्बन्ध में किसी एक प्रकार के व्यवहार को निर्धारित नहीं करती, न ही यह बताती है कि कितने-कितने अन्तर बाद या कभी भी लड़ाई होगी भी या नहीं। स्पष्ट ही विभिन्न संस्कृतियां इस सम्बन्ध में मनुष्य के व्यवहार को संचालित करती हैं।

जनरीति (Folk ways)

व्यवहार जब संगठित होते हैं और दोहराये जाते हैं उन्हें रिवाज कहते हैं। रिवाज भी दो प्रकार के होते हैं। शिष्टाचार और नियम। प्रसिद्ध लेखक सुमनर ने इन्हें जनरीति नाम दिया है और तभी से यह नाम बहुत प्रचलित हो गया है। सुमनर ने रिवाजों की विभिन्नता और मूल्यों या मान्यताओं (Values) पर बहुत बल दिया है। जनरीति में दोनों का समावेश है।

जनरीति की विभिन्नता. लड़ने के विपरीत भोजन, एक अनिवार्य प्राणिक आवश्यकता है। मनुष्य लड़े बिना रह सकता है, पर खाये बिना नहीं। शायद प्राचीन काल में लड़ना सुरक्षा के लिए अनिवार्य रहा हो। जहां तक भोजन का सम्बन्ध है शरीर की रक्षा के लिए उचित परिमाण में कार्बोहाइड्रेट,

प्रोटीन, चिकनाई, चूना, फास्फोरस, ऐसिड, खनिज और लोहे की जरूरत पड़ती है। निम्न पशुओं में भूख भोजन का सरल मार्गदर्शक है, वह अपने आप सामान्यत: उचित संतुलित भोजन की खोज कर लेते हैं। बच्चों पर परीक्षण करने पर भी ऐसा पाया गया कि उनके सामने ३५ खाद्य वस्तुएं रखने पर उन्होंने उनमें से उचित परिमाण में वह विभिन्न वस्तुएं, जो उनकी शारीरिक आवश्यकताओं के लिए ठीक थीं, चुन ली।

छोटे बच्चों पर यह परीक्षण "शरीर के प्राकृतिक ज्ञान" की ओर संकेत करता है, जो कि संतुलित भोजन के चुनाव में एक अच्छा मार्गदर्शक है। वावजूद इसके हम देखते हैं कि विभिन्न प्रदेशों में लोग उन वस्तुओं को खाना पसंद करते हैं, जिनमें पोषक तत्वों की कमी है अथवा जिनमें से अनेक हानिकर भी हैं। चाय, क़ाफ़ी, शराव, पान, सुपारी, तम्बाकू ऐसी ही चीजें हैं। वहुत से लोग चोकर सहित पोषक आटे की तुलना में चोकर निकाला आटा, विना पालिश किए पोषक चावल की तुलना में पालिश किया चावल खाना पसन्द करते हैं। यही वात भोजनसम्वन्धी परहेज़ के सम्वन्ध में भी लागू होती है। वहुत से लोग ऐसे वहुत से खाद्य पदार्थों को अखाद्य मानते हैं जो पोषक और गुणकारी हैं। अभी हाल तक चीन में गाय के दूध से वने पदार्थ नहीं खाये जाते थे। वहुत सी जातियां गाय के दूध को मल की तरह मानती हैं। आदिवासी अपने गणचिन्ह पशु या पक्षी को नहीं खाते। हिन्दुओं में गाय का मांस खाना पाप और मुसलमानों में सूअर का गोश्त खाना हराम है। यह तो यह, हमारे यहां वहुत से लोग टिमाटर, शलजम, वेंगन, सोयावीन और प्याज़ जैसी उत्तम तरकारियों को भी खाते डरते हैं। इसके विपरीत अनेक आदिवासी चींटे, कीड़े-मकौड़े, मेंढ़क, सांप-छछूंदर तक वड़े चाव से खाते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि भोजन सम्वन्धी पसन्द और परहेज़ वहुत वार सर्वथा अवौद्धिक होता है और उसका खाद्य वस्तु के पोषक तत्वों से कोई सम्वन्ध नहीं होता।

वास्तव में खाने और लड़ने जैसे प्राणिक कार्यों के लिए भी संस्कृति हमारे व्यवहार का नियंत्रण करती है। इसी प्रकार जन्म, मृत्यु विवाह, संतान, काम, उत्पादन, व्यापार, पूजा, रहन-सहन, वस्त्र और कला जैसे अन्यान्य कार्यों का स्वरूप भी संस्कृति द्वारा निर्धारित होता है। मनुष्य के प्राप्त आनुवंशिक गुणों के आधार पर उसकी संस्कृति का अनुमान नहीं किया जा सकता। मूल प्रवृत्तियां विशिष्ट रिवाजों का आधार नहीं हैं।

रिवाजों की शक्ति

रिवाजों का एक विशेष लक्षण उनकी बाधित करने की शक्ति है। समुदाय के सदस्य को उनका पालन करना ही होता है। मुसलमानों में किसी शादी में शरीक होने के लिए अचकन पहरना ज़रूरी है। हिन्दुओं में बड़ों के साथ चारपाई पर बैठते समय अदवायन की ओर बैठने का कायदा है। हिन्दू विवाहित स्त्रियों में मांग में सिंदूर लगाने का रिवाज है। हिन्दू स्त्रियां अपने पति का नाम नहीं लेतीं। इन सब रिवाज़ों का उल्लंघन ग़ैर कानूनी नहीं है, फिर भी इनका पालन कठोरता से किया जाता है।

एक संस्कृति समुदाय के माध्यम से व्यक्तियों के व्यवहार के अनन्त पहलुओं का नियन्त्रण करती है। पच्चीस प्रागक्षर संस्कृतियों के नियन्त्रण क्षेत्र को निम्न तालिका से इसका अनुमान किया जा सकता है। यह तालिका सी० एफ० फोर्ड के आधार पर बनाई गई है।

पच्चीस पृथक् संस्कृतियों द्वारा नियन्त्रित व्यवहार-क्रियाएं

नियन्त्रित करने वाली प्रतिशत संस्कृतियां	व्यवहार का प्रकार
१००	खाना, गुनगुनाना, बात करना, संभोग, निकटाभिगमन, देना, विवाह करना, तकल्लुफ़ दिखाना, नाम लेना, शोक करना, हानि पहुंचाना, अपने को हानि पहुंचाना।
९६	प्रवेश करना, कपड़े पहरना, चुराना, अपने को ज़ख्मी करना, कत्ल।
९२	व्यभिचार, सालियों से संभोग, लेना, नहाना, छूना, काम करना।
८८	दूध पिलाना, पीने, भोजन प्राप्ति में बाधा उत्पन्न करना, भोजन अपवित्र करना।
८०	देखना, सम्मान करना, दूसरों के नाम धरना, अपनी सुरक्षा।
७६	सोना, दूसरों की सहायता करना, घनिष्ठ बनना, दूसरों की रक्षा, पशुओं का वध।

७२ मूत्र त्याग, प्राग्वैवाहिक संभोग, आज्ञा पालन, आत्म शुद्धि, आत्म पृथक्करण, दूसरों का मान न करना, दूसरों का अपमान, दूसरों को विना दर्द आहत करना।

६८ मिलना, दूसरों को कपड़े पहराना, दूसरों को दण्ड देना।

६४ वदले से वचना, उत्पादन में वाधा डालना, मलत्याग।

६० आदमखोरी, विलाप, चीखना, भुगतान करना, अपनी चिकित्सा, शिकार, मछली पकड़ना, खेती करना इत्यादि।

५६ वैठना, दूसरों को शुद्ध करना, गुस्सा होना।

५२ सांस खेंचना, गाना, आतिथ्य करना, अपने को छुपाना।

४८ कायरता सीखना, विशेषाधिकार ग्रहण करना, झगड़ना, खेलना, दुर्भाग्य का आवाहन करना।

४४ थूकना, वाल्यावस्था में संभोग, नृत्य, आभूषण पहरना, दूसरों की चिकित्सा, शोक प्रकाश, दूसरों का मन जीतना, लड़ना, अपने को दण्ड देना।

४० धूम्र-पान, मालिश, प्रसव में सहायता देना, दूसरों को सिखाना, दूसरों की आज्ञा का उल्लंघन, अश्लील होना।

३६ चवाना, पसीना होना, गर्भाधान होना, चलना, आलसी होना, वन्ध्या करना, मैत्री प्रकाश, दूसरों को शांत करना, दूसरों को धोखा देना।

३२ नशीली वस्तुओं का उपभोग, वमन करना, वलात्कार, धन्यवाद देना, जननेन्द्रिय का गोपन, ले जाना, अपराध मानना, आकस्मिक मनुष्यवध, गर्भपात, शिशुवध, उत्पादन, सामान का विनाश।

२८ काटना, वायु विकार, वैवाहिक संभोग, कदम वढ़ाना, इशारा करना, तलाक देना, प्रजनन शक्ति देना, आत्म शुद्धि, वीरता प्रदर्शन, दूसरों को गुस्सा दिलाना, आत्म हत्या।

२४ स्वप्न देखना, दूध पीना, सगाई के वाद व्यभिचार, रहना, वचना, सुनना, प्रसव में वाधा देना, पीड़ा व्यक्त करना, युद्ध

में रुकावट डालना, भोजन की खोज में सहायता देना, रूढ़ि और टैवू का उल्लंघन ।

२० चाहना, सीटी बजाना, समलिंगी संभोग, झूठ बोलना, साथ देना, लालची होना, स्वतन्त्र होना, कृपालु होना, विरोधी लिङ्ग के वस्त्र धारण करने में रुचि, माता के दूध को बढ़ाना, दूसरों को शुद्ध करना, अपने को बन्द करना, विश्वासघात, राजद्रोह ।

१६ खांसना, वेश्यावृत्ति, खड़े होना, पकड़ना, खुरचना, डरना, दूध पीने को निरुत्साहित करना, दूसरों का आभूषण पहरना, दूसरों का उपहास करना, दूसरों को आघात पहुंचाना ।

१२ मसाले खाना, चूमना, छींकना, फुसफुसाना, हंसना, समलिंगी संभोग, भागना, ध्यान से रहना, छाती का दूध निकालना, दूसरों का अभिवादन, अनुमति लेना, अपराध का प्रायश्चित्त ।

८ नशे में हो जाना, चिल्लाना, सोचना, हस्तमैथुन, विवाहितेतर संभोग, बहकाना, पशुमैथुन, झुकना, कूदना, ईर्ष्यालु होना, काम-कृपण होना, न्यायपूर्ण होना, दूसरों को सावधान करना, लूटना, जलाना ।

४ चखना, होठ चाटना, सूंघना, चेहरा बनाना, थर-थर कांपना, फैलाना, सोते हुए चलना, सोते हुए बोलना, जनना, अप्राकृतिक काम-व्यवहार, वेहोश होना, काम प्रदर्शनवाद, रेंगना, तैरना, चढ़ना, गुदगुदाना, ताली बजाना, आंख मारना, घृणा करना, जिद्दी होना, चिड़चिड़ा होना, अनुत्तरदायी होना, पराश्रित होना, प्यार करने वाला होना, उद्योगी होना, मितव्ययी होना, दूध पीने को उत्साहित करना, क्षमा याचना, नापसंदगी व्यक्त करना, डींग मारना, दूसरों को डराना, डरना ।

० मुंह में लार आना, खखराना, ज़ोर से खांसना, सांस लेना, चमकना, शर्माना, कांपना, जंभाई लेना, ऋतु धर्म होना, स्वप्न दोष, दूसरों को कष्ट दे कर काम तृप्ति करना, अपने को कष्ट देकर काम तृप्ति, ठोकर मारना, आंख झपकना, उत्सुक होना ।

रूढ़ियां (Mores)

जो रिवाज खाने-पहरने, उठने-बैठने, बोलने-चालने से अधिक महत्वपूर्ण विषयों से सम्बन्ध रखते हैं उन्हें एक विशिष्टता प्राप्त हो जाती है। ऐसे रिवाज मानव व्यवहार के बुनियादी चालकों,—महत्वाकांक्षा, प्रेम, शक्ति प्राप्ति की इच्छा, सम्पत्ति अर्जन की प्रेरणा आदि को नियंत्रित करते हैं। बाध्यता ऐसे रिवाजों का मुख्य लक्षण है। सुमनर ने ऐसे रिवाजों को रूढ़ि के नाम से परिभाषित किया है । उसके अनुसार, "वह प्रचलित रीतियां और परम्परायें, जिनके बारे में यह दृढ़ धारणा होती है कि वह सामाजिक कल्याण के लिए लाभप्रद हैं, और जो किसी अधिकारी द्वारा एकीकृत न होने पर भी, व्यक्ति पर यह दबाव डालती हैं कि वह अपने आपको उनके अनुरूप बनाये, रूढ़ियां कहलाती हैं ।"

भारत की रूढ़ियां. जातीय सहिष्णुता, स्त्री-पुरुषों की समानता, एकाकी परिवार, ऐहिकता और लोकतन्त्र आज के भारतवर्ष की मान्य रूढ़ियां बन रही हैं। इसके विपरीत जातिभेद की भावना, पुरुषों की प्रभुता, संयुक्त परिवार, धार्मिकता और सामन्तशाही उन्नीसवीं शती में इसी देश की रूढ़ियां रही हैं।

रूढ़ियों का पालन. समाज रूढ़ियों के विरुद्ध व्यवहार की अनुमति नहीं देता। आज हमारे यहां कोई जातीय घृणा के पक्ष में प्रचार नहीं कर सकता, स्त्रियों की दासता का समर्थन नहीं कर सकता, लोकतन्त्र के विरुद्ध आवाज़ बुलन्द करने का साहस नहीं कर सकता। रूढ़ियां हमें केवल कुछ कर्मों के करने से ही नहीं रोकतीं अपितु वे हमें कर्म करने का स्पष्ट आदेश भी देती हैं। उदाहरण के लिए उन समाजों में जहां परिवारप्रथा प्रबल है और न्यायालयों का अभाव है, यदि एक गूजर परिवार के सदस्य द्वारा एक जाट परिवार के सदस्य को कोई आघात पहुंचाया जाता है ऐसी स्थिति में उस जाट परिवार के सदस्य के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह गूजर परिवार से उसका बदला ले। यह उसके आत्मसम्मान के लिए अनिवार्य सा हो जाता है, अन्यथा समाज उसे कायर और नपुंसक ठहरायेगा । इस तरह रूढ़ियां व्यक्ति को कर्म करने के लिए भी बाध्य करती हैं । वह दिन दूर नहीं जब कि स्त्री अबला समझी जाती थी और उसके सम्मान की रक्षा और अपनी बहन या पुत्री के सम्मान पर किसी प्रकार की आंच आते देख अपने प्राणों की आहुति तक

दे देना या दूसरों के प्राणों को ले लेना, किसी पुरुष के लिए बहुत ही गौरव की बात समझी जाती थी।

रूढ़ियों का प्रभाव इतना प्रबल होता है कि हम बहुत बार उन रिवाजों के पालन में परम संतोष और आनन्द अनुभव करते हैं जो कि शारीरिक दृष्टि से हानिप्रद सिद्ध हो सकते हैं। उदाहरण के लिए भारतीय मुस्लिम समुदाय और अनेक हिन्दू जातियों की स्त्रियों में पर्दाप्रथा एक रूढ़ि है, पर यह निर्विवाद रूप से उनके स्वास्थ्य के लिए हानिप्रद है। इसी तरह चीन के विशिष्ट कुलीन वर्गों में छोटी लड़कियों के पंजों को मोड़ कर कस कर बांध दिया जाता था ताकि उनके पैर बढ़ने न पायें। छोटे पैरों को उस समाज में एक सम्मान और सौन्दर्य का चिन्ह समझा जाता था और यहां तक कि कोई लड़की जिसके पैर इस तरह बचपन में छोटे न किये गये होते थे, वह अपने को छोटा समझती थी। इस तरह हम देखते हैं कि हम रूढ़ियों के दास हैं चाहे वह हमारे लिए हानिप्रद ही क्यों न हों। संस्कृति की यह विशेषता है कि वह रूढ़ि के द्वारा स्वस्थ प्राणिक क्रियाओं पर भी आघात कर सकती है।

रूढ़ि किसी भी चीज़ को सही बना सकती है. रूढ़ि की शक्ति बहुत प्रबल होती है। वह किसी भी चीज़ को सही ठहरा सकती है। १८वीं शती की भारतीय रूढ़ि ने अस्पृश्यता, बाल-विवाह, स्त्रियों की दासता और सामन्तशाही को सही माना। इस्लाम में एक पति के लिए चार स्त्रियों का रखना मान्य है। नात्सी जर्मनी में किसी जर्मन युवक के लिए लोकतन्त्र की बात करना बड़े शर्म की बात थी। आज के अमरीका में साम्यवाद का समर्थन एक प्रकार से देशद्रोह है। सोवियत रूस में मार्क्सवादी सिद्धान्त में किसी प्रकार की भूल निकालना सबसे बड़ा अपराध है। रूढ़ि की शक्ति इतनी प्रबल है कि वह निकट-सम्बन्धियों से यौन सम्बन्ध को भी सम्मानजनक बना सकती है। उदाहरण के लिए प्राचीन मिश्र में यह माना जाता था कि राज घराने के व्यक्तियों के श्रेष्ठ रक्त को संरक्षित रखने के लिए भाई-बहनों में परस्पर विवाह होना ज़रूरी है। किसी देश की रूढ़ि मनुष्य-भक्षण जैसी जघन्य प्रतीत होने वाली प्रथा को भी उत्तम समझती है। ऐस्किमो की रूढ़ि वृद्ध मनुष्यों की हत्या को सही मानती है। प्राचीन स्पार्टा में शिशु-वध प्रचलित रिवाज़ था। हमारे यहां हत्यारे का वध और युद्ध में शत्रु का वध मान्य हैं।

जो एक समय सही माना जाता है वही अन्य समय ग़लत माना जा सकता है. रूढ़ियां किसी एक चीज़ को जो एक समय सही मानी जाती थी

दूसरे समय उसी को गलत बना देती हैं। आज की रूढ़ियां भारतवर्ष में अस्पृश्यंता, बाल विवाह, स्त्रियों की दासता के विरुद्ध हैं पर आज से सौ साल पहले यही हमारे यहां अतिसम्मानित थीं। आज से तीस साल पहले किसी स्त्री के लिए सिर उघाड़े अपने पति के साथ सैर के लिए जाना बहुत ही निर्लज्जता की निशानी समझा जाता था, परन्तु आज कम-से-कम शहरों में यह एक सामान्य और स्वीकृत बात हो गई है। सर जेम्स जीन्स ने ठीक ही कहा है, "पाप और पुण्य ने सदियों के जीवन प्रवाह में प्रायः ही अपने स्थान को बदला है।"

रूढ़ि और कानून. सभ्य समाजों में रूढ़ियां प्रायः कानूनों का रूप धारण कर लेती हैं, फिर भी देश का कानून और रूढ़ियां सदा एक-दूसरे के साथ-साथ नहीं चलते। कानून में ऐसी बातों का समावेश हो सकता है जो कि रूढ़ि के अन्तर्गत नहीं आतीं। इसके विपरीत समस्त रूढ़ियां कानून नहीं बन जातीं। कुछ ऐसी बातें जिन्हें सभी अनुचित समझते हैं, नहीं की जातीं, परन्तु उनके लिए किसी प्रकार का कानून बनाने की ज़रूरत नहीं पड़ती। अथवा कुछ ऐसे नाज़ुक और व्यक्तिगत मामले हो सकते हैं जिन्हें कि कानून के दायरे में नहीं लाया जा सकता। उदाहरण के लिए एक डाक्टर से बीमार होने की अवस्था में दूसरे डाक्टर द्वारा फीस लेना हमारे यहां अनुचित माना जाता है, यद्यपि इसके लिए कोई कानून नहीं है। इसी प्रकार विभिन्न पेशे के लोगों के आचार नियम इसी अलिखित अविनिहित कानून या रूढ़ि के अन्तर्गत आते हैं।

परिवर्तनशील विभिन्नतत्त्वीय समाज में जनरीतियां और रूढ़ियां

रिवाजों का बदलना प्रायः बहुत कठिन समझा जाता है। वह जनरीतियां जो शीघ्र आती और शीघ्र चली जाती हैं फैशन कहलाती हैं और उन्हें रिवाज़ या रूढ़ि नहीं कहा जाता। रिवाज़ों के स्थायित्व को ही बेगहॉट ने 'रिवाज की केक' कहा है। यह रिवाज़ की केक कैसे बनती और टूटती है, एक महत्वपूर्ण प्रश्न है।

परिवर्तनशील समाज की तुलना में सापेक्षतया निश्चल समाज में रिवाज़ अधिक आसानी से जमते और अधिक समय तक ठहरते हैं। जब कि रिवाज़ों का पालन पीढ़ी-दर-पीढ़ी तक चलता रहता है, व्यक्तियों के लिए उसके अनुकूल बनने का आग्रह बहुत प्रबल हो जाता है। जब कि आरण्यक संस्कृति के सदस्य से यह प्रश्न पूछा जाता है कि वह क्यों अपनी पत्नी द्वारा बच्चा जनने के समय बिछौने पर लेटता है तो इसका एक ही उत्तर उसके पास है,

कि उसके यहां सदा से ऐसा ही होता चला आया है। यह स्मरणीय है कि सुमनर ने रिवाजों और रूढ़ियों के अधिकांश उदाहरण निश्चल समाजों से ही लिए हैं। इन आरण्य समाजों में फैशन अर्थात् शीघ्र परिवर्तनीय रिवाज विरल हैं। उस समाज में जो कि तेज़ी से बदल रहा है रिवाज बहुत अधिक समय तक नहीं दोहराये जाते जिससे कि उनमें बाध्यता आ सके। परिवर्तित फैशन केवल एक अल्पसंख्यक वर्ग द्वारा अमल में लाये जाते हैं।

इसके अतिरिक्त समाज विभिन्न वर्गों से मिल कर बना हो सकता है। उसमें रईसों और श्रमिकों की स्त्रियां हैं, ग्राम्यवासी और नगरवासी हैं, धार्मिक और नास्तिक हैं। प्रत्येक वर्ग की एक-एक एक विशिष्ट जनरीति है। अतएव एक विभिन्नतत्त्वीय समाज में एकरूपता कायम रखना बहुत कठिन है। कुछ धार्मिक वर्ग सोमवार को मौन और उपवास रखते हैं, उसी दिन एक विशिष्ट वर्ग के लोग खाना-पीना और नाच-गाना करते हैं। ऐसा भी हो सकता है कि विभिन्न वर्गों की कुछ जनरीतियों में समानता हो पर सबों में नहीं। उदाहरण के लिए एक ग्रामवासी और एक नगरवासी दोनों ही एक प्रकार का और दिन में बराबर बार भोजन करते हैं पर वह एक समय सोकर नहीं उठते और न ही उनमें समान पड़ोसीपन नज़र आता है। किसान जब गांव में चलता है तो प्रत्येक राहगीर से बात करने रुक जाता है, पर नगरवासी किसी की ओर ध्यान नहीं देता। विशिष्ट परिस्थितियां बहुत हद तक इसके लिए उत्तरदायी हैं। संक्षेप में हम इतना ही कह सकते हैं कि आधुनिक समाज में जनरीतियों की एकता-उत्पादक शक्ति उतनी अधिक नहीं है जितनी कि निश्चल, एकतत्वीय समाजों में है।

बावजूद इसके आधुनिक समाज में पर्याप्त स्थिरता और सांस्कृतिक बाध्यता विद्यमान है। प्रत्येक चीज़ ही शीघ्रता से परिवर्तित नहीं हो जाती। किसी रिवाज़ को बदलने में अधिक और किसी को कम समय लगता है। इस तरह एक परिवर्तनशील समाज में विभिन्न रिवाजों और रूढ़ियों के परिवर्तन की दर और बाध्यता की तीव्रता में पर्याप्त विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है। उदाहरण के लिए भारतवर्ष के नगर-निवासियों ने जिस तेज़ी से अंग्रेजी वेश को अपनाया अंग्रेजी भोजन को नहीं। और जहां तक अंग्रेजी वेश का भी प्रश्न है स्त्रियों ने तो उसे बिल्कुल ही नहीं अपनाया और न ही निकट भविष्य में उसे अपनाने के कोई चिन्ह ही नज़र आते हैं, किन्तु सौन्दर्य प्रसाधनों के अपनाने में हमारी स्त्रियों में वह मन्दता नहीं है। और फिर वह रूढ़ियां जो कि अधिक बुनियादी समझी जाती हैं शीघ्र परिवर्तित नहीं होतीं।

निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि जनरीति और रूढ़ियों का ज़ोर वम्वई नगर में वस्तर राज्य के भीलों से कहीं कम है, पर है अवश्य, और आज की सभ्यता में भी उनकी वाध्यता शक्ति नष्ट नहीं हुई है। वास्तव में हम ऐसे समाज की कल्पना भी नहीं कर सकते जिसमें ऐसे कोई नियम या रूढ़ियां न हों जिन्हें प्रायः सम्मानित और कार्यान्वित न किया जाता हो।

नौवां अध्याय

संस्कृति और व्यक्तित्व

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् अटलान्टा विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान में वुडवर्थ ने एक महत्वपूर्ण परीक्षण किया जिसमें विभिन्न नस्लों के लोगों की कष्ट सहने की क्षमता को जांचने का प्रयत्न किया गया था। इस परीक्षण से यह सिद्ध हुआ कि एक सामान्य अमरीकन की तुलना में एक रैड इंडियन में कष्ट सहने की क्षमता अधिक है। इसके कारणों की खोज करने पर इसका कोई प्राणिक या नस्ली कारण न मिला पर उसे इन दोनों समुदायों की संस्कृति में ढूंढा जा सकता है। मां की गोद से लेकर मृत्यु पर्यन्त रैड इंडियन को कष्ट-सहन की शिक्षा, अभ्यास और सम्मान करना सिखाया जाता है। यहां तक कि वह अपनी खोपड़ी को अपने कबीले द्वारा सुन्दर समझे जाने वाला रूप प्रदान करने के लिए कठोर यन्त्रणा को सहर्ष स्वीकार करता है। सन्ध्या समय अलाव पर उसे वीर-गाथाएं सुनने को मिलती हैं। बचपन से ही उसे जीवन-मृत्यु का आभास मिल जाता है। यौवनावस्था की रस्में उसे कष्ट-सहन में अभ्यस्त बना देती हैं, उनमें तनिक भी चूं करना महान् कायरता समझी जाती है। ऐसे वातावरण में कैसे व्यक्तित्व का निर्माण होगा, इसका अनुभव हम स्वयं ही लगा सकते हैं। अमरीकन संस्कृति इससे पर्याप्त भिन्न है। इसमें कष्ट या पीड़ा अनुभव करना या उसे स्वीकार करना कायरता नहीं समझी जाती; बचपन से ही बच्चों को यन्त्रणा या दर्दनाक दृश्यों से दूर रखा जाता है। पीड़ा निवारण के लिए उसका प्रत्युत्तर सहनशक्ति न होकर पीड़ानिवारक औषधियां और क्लोरोफार्म ही हैं। इस तरह रैड इंडियन और अमरीकन संस्कृति की तुलना कर हम उनकी विभिन्न शारीरिक क्षमता के अन्तर का कारण जान सकते हैं।

इससे स्पष्ट है कि संस्कृति और व्यक्तित्व में अति घनिष्ठ सम्बन्ध है। वास्तव में जन्म के समय मानव प्राणी उन सब गुणों से रहित होता है जिन्हें कि हम मनुष्यत्व के साथ जोड़ते हैं। वह यह गुण धीरे-धीरे समाज और उसकी विरासत से सीखता है। जन्म से मृत्युपर्यन्त व्यक्ति और संस्कृति के बीच निरन्तर अन्तःक्रिया होती रहती है। वस्तुतः सांस्कृतिक वातावरण व्यक्ति पर

किस तरह और कितनी छाप छोड़ता है, इसका सही-सही निर्धारण अभी तक नहीं हो सका है, यद्यपि इस दिशा में प्रयत्न जारी हैं। अतः अभी हमें अभिव्यंजनात्मक (Impressionistic) दृष्टि का ही सहारा लेना पड़ता है।

व्यक्तित्व के निर्माण में आनुवंशिकता के अतिरिक्त सामूहिक और सांस्कृतिक दो शक्तियों का प्रमुख हाथ होता है। सामूहिक प्रक्रियाएं सामान्य हैं। एक व्यक्ति के साथ अन्य व्यक्तियों की अन्तःक्रिया प्रभुता या आज्ञापालन के रूप में व्यक्त होती है। प्रभुता या आदेश-पालन, नेतृत्व या अनुसरण, व्यक्तियों में प्रतियोगी क्षमता की भिन्नता और अन्तःक्रिया की आकस्मिकता के कारण, समूह-जीवन के सार्वभौम लक्षण हैं।

समूह-जीवन सामान्य सम्बन्धों का संकुल है। इसके विपरीत, संस्कृति में स्थूल और विशिष्ट गुणों का समावेश है। संस्कृति एक निश्चित और अनुपम वस्तु है अतः उसका प्रभाव विशिष्ट और स्पष्ट है। विभिन्न समाजों में समूह-तथ्य तो लगभग समान ही हैं; कुछ लोग नेतृत्व करते हैं, बाकी पीछे चलते हैं, अन्तर केवल नेतृत्व के प्रकार का है जो संस्कृति द्वारा निर्धारित होता है। उदाहरण के लिए मारवाड़ी समुदाय में करोड़पति होना सबसे बड़ी बात है, जब कि बंगाली समुदाय में एक साहित्यिक या संगीतज्ञ का अधिक सम्मान है। वास्तव में संस्कृति समूह-प्रक्रियाओं को विशिष्ट दिशा और स्वरूप प्रदान करती है।

आगे हम संक्षेप में यह बताने का प्रयत्न करेंगे कि संस्कृति किस भांति व्यक्ति को विशिष्ट रूप और रंग, अर्थ और तत्त्व प्रदान करती है।

भौतिक संस्कृति और व्यक्तित्व

व्यक्तित्व के निर्माण में भौतिक संस्कृति—किसी समुदाय में प्राप्त भौतिक वस्तुओं, यन्त्रों, उपकरणों का भी जबर्दस्त प्रभाव पड़ता है। घड़ियों और समय पालन, आधुनिक यान्त्रिक जल-व्यवस्था और स्वच्छता के कार्य-कारण सम्बन्धों का उदाहरण दे कर हम इस तथ्य को भली-भांति स्पष्ट कर सकते हैं।

घड़ियां और समयपालन. घड़ी के आविष्कार ने निस्सन्देह समयपालन की आदत को संभव बनाया और प्रोत्साहित किया है। उन आरण्यक समुदायों में जहां घड़ियां नहीं हैं, लोग समय की पाबन्दी का कोई ख्याल नहीं करते, जबकि हमारे नगरों में सब काम समय पर किए जाते हैं, मुलाकातों का समय

घंटों और मिनटों में निश्चित रहता है। इसके विपरीत घड़ीविहीन समुदायों में घंटों और कभी-कभी तो दिनों तक का हेरफेर हो जाना साधारण सी बात है। इसमें सन्देह नहीं कि आरण्यक समुदायों के लिए समयपालन का महत्व कम है जबकि आधुनिक सभ्यता के लिए वह अत्यधिक है और इसमें केवल घड़ी के आविष्कार का ही हाथ नहीं वरन् सांस्कृतिक जीवन के अन्य उपकरणों और मांगों का भी प्रबल हाथ है। आधुनिक सभ्यता रेडियो, रेलवे इत्यादि वस्तुओं से परिपूर्ण है, जिन सबों ने समयपालन के प्रति हमें सजग बना दिया है। एक अरण्यवासी की तुलना में आज नगरवासी समयपालन में अधिक सजग हैं। इसका प्रधान कारण नगरवासियों और उनकी संस्कृति का अन्तर है।

आधुनिक जल-व्यवस्था और स्वच्छता. हिन्दू संस्कृति में शारीरिक स्वच्छता को बहुत ऊंचा स्थान प्राप्त है। नित्य स्नान करना, खाने-पीने की कोई वस्तु ग्रहण करने से पहले हाथों को भली भांति धो लेना हिन्दू आचार का आवश्यक अंग है। किन्तु इसमें संदेह नहीं कि आधुनिक यान्त्रिक जल-व्यवस्था ने भी स्वच्छता की प्रवृत्ति को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया है। यही कारण है कि गांवों की तुलना में नगरों के रहने वाले अपने रहन-सहन में अधिक स्वच्छ नज़र आते हैं। इसमें संदेह नहीं कि बहुत सी जातियां बिना आधुनिक यान्त्रिक जल-व्यवस्था के भी स्वच्छ रहती चली आई हैं, पर ऐसी दशा में अन्य बातें अनुकूल रही हैं। ऐस्किमो गन्दे रहते हैं। पानी के लिए उन्हें अपनी पीठ पर बर्फ की एक थैली रखनी पड़ती है ताकि शरीर की गर्मी से पिघल कर उसका पानी बन सके। ऐसी कठोर अवस्था में उनका गन्दा रहना अस्वाभाविक नहीं है। आज नगरों में केवल टोंटी घुमाने मात्र से ही ठंडा या गरमपानी प्राप्त किया जा सकता है, ऐसी स्थिति में यदि लोग अधिक स्वच्छ रहें तो आश्चर्य ही क्या ? इस भांति विभिन्न समाजों के लोगों की तुलना करने पर हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि स्वच्छता आनुवंशिकता से सम्बद्ध न होकर संस्कृति से सम्बद्ध है। एक संस्कृति के अन्दर स्वच्छता का एक आनुवंशिक आधार होता है, पर सामान्यतः यह पेशे, सम्पत्ति या अन्य किसी गुण का परिणाम होता है।

अभौतिक संस्कृति और व्यक्तित्व

एक ओर जिस भांति भौतिक संस्कृति समाज में व्यक्ति के व्यक्तित्व को प्रभावित करती है, दूसरी ओर उसी भांति अभौतिक संस्कृति भी व्यक्तित्व को ढालने में महत्वपूर्ण भाग लेती है। भाषा असंदिग्ध रूप से व्यक्तित्व को

प्रभावित करने में सर्वाधिक महत्वपूर्ण अभौतिक सांस्कृतिक तथ्य है, अतः उसका उदाहरण देना उपयुक्त होगा।

भाषा और व्यक्तित्व. मनुष्य और अन्य पशुओं में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो कि बोल सकता है। भाषा ऐसी चीज़ है जो कि केवल साहचर्य से सीखी जा सकती है। यही कारण है कि विजन-पोषित मनुष्य भाषा नहीं जानते। गूंगे-बहरे व्यक्ति भी शरीर रचना दोष के कारण ऐसा नहीं कर पाते। इस सम्बन्ध में हेलन कैलर का प्रसिद्ध उदाहरण द्रष्टव्य है। अठारह वर्ष की अवस्था में उसने अपनी आंखों की रोशनी और श्रवण-शक्ति दोनों खो दी। इस समय से लेकर सात वर्ष की अवस्था तक उसका व्यक्तित्व ढका रहा। वह ईर्ष्यालु, कमीनी और हुकूमत जताने वाली रही। उसे गुस्से के दौरे पड़ते थे। वह दूसरों के हिलते होठों की भाषा को समझने में असमर्थ थी। किन्तु इसी समय उसके जीवन में कुमारी सुलीवन ने प्रवेश किया। उन्होंने हैलेन के हाथों पर शब्द लिखने शुरू कर दिये जिन्हें कि हेलन ने दोहराना और वस्तुओं से सम्बन्धित करना शुरू कर दिया। उसे यह पता नहीं था कि प्रत्येक वस्तु का नाम है। इस बात के हठात् ज्ञान ने उसके व्यक्तित्व में एक अद्भुत परिवर्तन उपस्थित कर दिया।

भाषा एक व्यक्तित्व-गुण. अनेक उदाहरणों से स्पष्ट है कि भाषा व्यक्तित्व के विकास का प्रमुख साधन है, क्योंकि इसके माध्यम द्वारा ही व्यक्ति अपनी सूचनाएं और धारणाएं प्राप्त करता है। इसके अतिरिक्त, बोली स्वयं व्यक्तित्व का एक गुण बन जाती है, जैसा कि सापिर ने अपने सूक्ष्म अध्ययन में स्पष्टतः दिखलाया है। उसके अनुसार बोली एक जटिल वस्तु है, जिसके कि पांच पहलू हैं: आवाज़ का प्रकार, गतिशीलता, उच्चारण, शब्द भण्डार, और शैली। इसमें से हर एक पहलू का व्यक्तित्व के लिए अपना अर्थ है। हम विभिन्न प्रकार के व्यक्तित्व के मूल्यांकन में बहुत कुछ आवाज़ का अवलम्बन लेते हैं। हम बोली में हाव-भाव का भी समावेश करते हैं। आवाज़ और हाव-भाव की सहायता से हम जान सकते हैं कि अमुक व्यक्ति किस संस्कृति में पला और बड़ा हुआ है।

भाषा का व्यक्तित्व के लिए कितना महत्व है यह एक वैज्ञानिक के उदाहरण से समझाया जा सकता है। वैज्ञानिक का एक विशिष्ट व्यक्तित्व होता है। उसकी भाषा संयत और स्पष्ट होती है। यह सही है कि कोई भी व्यक्ति सदा वैज्ञानिक नहीं रहता, पर हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि कुछ

संस्कृतियां ऐसे व्यक्तित्व के निर्माण के अधिक अनुकूल हैं जो कि वैज्ञानिक व्यक्तित्व का विकास कर सकें। अफ्रीकी सूडानवासियों की तुलना में जिनकी भाषा में विशिष्ट तथ्यों के लिए केवल एकवर्ण शब्द हैं, हमारी संस्कृति इसके अधिक अनुकूल है जिसमें कि बहुत सूक्ष्म विचारों और भावों के लिए पृथक्-पृथक् शब्द हैं। उनकी संस्कृति में केवल एक ही शब्द को ऊंचा-नीचा उठा कर विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है। 'बड़ा' 'मझला' और 'छोटा' के लिए उनके यहां एक ही शब्द है; आवाज़ के उतार-चढ़ाव से ही उनके अन्तर को जाना जाता है। ऐसी संस्कृति में सूक्ष्मता के गुण का विकास होना पर्याप्त कठिन है।

विभिन्न संस्कृतियों की भाषा का अन्तर उनकी संस्कृति के अन्तर को बहुत कुछ प्रतिबिम्बित करता है। पर जहां एक ओर भाषा वैज्ञानिक के निर्माण में योग देती है, वहां दूसरी ओर, वैज्ञानिक भाषा के निर्माण में योग देता है। इसका अर्थ हुआ कि संस्कृति के विकास के साथ-साथ शब्दभण्डार भी बढ़ता जाता है।

संस्कृति-प्रतिमान और व्यक्तित्व-प्रतिमान

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि संस्कृति-गुणों और व्यक्तित्व-गुणों में परस्पर निकट सम्बन्ध है, पर इसका यह अर्थ नहीं कि वह अति कठोर और निश्चित है। केवल घड़ियों का अस्तित्व समयपालन की गारंटी नहीं करता। तुर्की और अफ़ग़ानिस्तान दोनों देशों के लोग घड़ियां रखते हैं। पर काबुली प्रायः समय के पाबन्द नहीं होते। यदि एक काबुली सुबह सात बजे का वायदा कर दुपहर के बारह बजे पहुंच जाय तो खुदा का शुक्र समझिये। काबुली गपशप और मेहमाननवाज़ी का बेहद शौकीन है। बग़ैर बात किये उसकी गुज़र नहीं है। और कुछ नहीं तो वह सिर्फ बातचीत करने के लिए अपनी चप्पल में कीलें ठुकवाने लगता है और फिर रास्ते में जो कोई वाकिफ़ मिल जावे उससे दुआ-सलाम बातचीत करने लगता है अगर कोई कुछ खाने-पीने की दावत दे तो उसको मंजूर करना भी उसके लिये निहायत जरूरी है। संक्षेप में, एक काबुली के लिए गपशप, मित्रता और आतिथ्य की तुलना में समयपालन का कम महत्व है। इससे स्पष्ट है कि भौतिक आविष्कारों का व्यक्तित्व के ढालने में पर्याप्त महत्त्व है, पर उसकी दिशा और तीव्रता समग्ररूप में सांस्कृतिक स्थिति पर निर्भर करती है। इसलिए संस्कृति और व्यक्तित्व के सम्बन्ध को समझने के लिए हमें सांस्कृतिक प्रतिमान को समझना भी आवश्यक है।

ग्राम्य संस्कृतियां और आतिथ्य. उदारता और कृपणता व्यक्तित्व-गुण हैं। शायद हम यह समझें कि यह गुण जन्मजात हैं पर वास्तव में यह दर्शाया जा सकता है कि इनका स्रोत भी संस्कृति ही है। विद्यमान और विलीन कृपि संस्कृतियों में आतिथ्य गुण अपनी चरम सीमा पर पहुंचा। भारतवर्ष में अभी भी अनेक भाग जहां औद्योगीकरण का प्रभाव कम पहुंचा है, अपने आतिथ्य के लिये प्रख्यात हैं। इसके निम्न प्रमुख कारण हैं: एक गांव से दूसरे गांव का फासला पर्याप्त है। रास्ते में रात को ठहरने के लिए किन्हीं सरायों और खाने के लिए भोजनालयों का अभाव है। इसलिए मुसाफिरों को रात्रि में विश्राम के लिए किसी परिवार में ही रुकना पड़ता है। गांवों में खाने-पीने की चीजों की कमी नहीं है अतः प्रत्येक का स्वागत है। यहां रुपये का विनिमय के माध्यम के रूप में प्रयोग कम है। इसके अतिरिक्त संवादवहन की सुविधाओं के अभाव में मुसाफिर खवर भेजने के उत्तम साधन हैं। ऐसी सांस्कृतिक परिस्थितियों में आतिथ्य गुण का विकास सर्वथा स्वाभाविक है।

आज के नगरों की अवस्था सर्वथा भिन्न है। यहां जगह की भीषण कमी है। खाने-पीने की हर चीज़ की कीमत देनी पड़ती है, वह खेत या वगीचे से मुफ्त नहीं आ जाती। यहां पर भोजनालयों और विश्रामालयों की कमी नहीं है। यहां संवादवहन के सस्ते, सुलभ और द्रुत साधन हैं। इसके अतिरिक्त लोगों के पास समय की भीषण कमी है। ऐसी परिस्थितियों में आतिथ्य का विकास नहीं हो पाता।

स्त्रियों में जीविकोपार्जन और आज्ञापालन. स्त्री-पुरुषों के सम्बन्धों का एक और उदाहरण देकर संस्कृति के व्यक्तित्व पर प्रभाव को अच्छी तरह व्यक्त किया जा सकता है। आज से वीस साल पहले अगर हम किसी शिक्षित भारतीय महिला से यह प्रश्न पूछते कि उसकी सम्मति में एक अच्छी स्त्री का क्या गुण है तो उसका उत्तर प्रायः आज्ञापालन ही होता था। किन्तु आज शायद सौ में से पच्चीस भी शिक्षित स्त्रियां ऐसी नहीं मिलेंगी जो कि यह उत्तर दें। आजकल की पढ़ने वाली लड़कियों में सक्रियता और आत्म-अभिव्यक्ति को आज्ञापालन से अधिक महत्व दिया जाता है। आखिर इसका क्या कारण है? आज से वीस साल पहले स्त्रियों में शिक्षा का वहुत कम प्रसार था, उन्हें घर से वाहर काम करने और रोजगार पाने की सुविधायें न थीं। आर्थिक दृष्टि से वह पूर्णतः पतियों या पिताओं पर निर्भर थीं। आज्ञापालन ऐसी परिस्थितियों का अवश्यंभावी परिणाम था। अब अवस्था वदल गई है। लड़कियों को लड़कों के

समान शिक्षा की सुविधायें मिल रही हैं। वह वोट दे सकती और नौकरी पा सकती हैं और समाज इसे बुरा नहीं मानता। ऐसी सांस्कृतिक परिस्थितियां स्वभावत: स्त्री-स्वातन्त्र्य की भावना को प्रोत्साहित करती हैं।

इसका यह अर्थ नहीं कि आज से पच्चीस साल पहले सभी औरतें दब्बू या आज्ञापालिका थीं। वास्तव में व्यक्तिगत अपवाद सभी समय विद्यमान रहते हैं। इसके अतिरिक्त सिद्धान्त और व्यवहार में सदैव ही कुछ अन्तर रहता है। जनरीति द्वारा आज्ञापालन का आदेश होने के बावजूद कुछ स्त्रियां अपने पतियों पर हकूमत करती थीं। पर यह सत्य है कि आज की तुलना में पच्चीस साल पहले स्त्रियां अधिक आज्ञापालिका थीं।

सहकारी और प्रतियोगी संस्कृति-प्रतिमान. व्यक्तित्व के निर्माण में संस्कृति के महत्त्व को समझते हुए अनेक समाजशास्त्रियों और नृवंशशास्त्रियों ने संस्कृतियों के, जो कि व्यक्तियों को एक विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान करती हैं, श्रेणी-विभाजन का प्रयास किया है। रुथ बैनिडिक्ट ने जूनी कबीले की संस्कृति को अपोलोनियन तथा क्वैक्युतुल कबीले की संस्कृति को डायोनिशियन नाम दिया है। सहयोग, संयम और शांति अपोलोनियन संस्कृति के प्रमुख लक्षण हैं। इसके विपरीत, प्रतियोगिता, अतिभावुकता और संघर्ष डायोनिशियन संस्कृति की मुख्य विशेषताएं हैं। जूनी संस्कृति इस तरह संगठित की गई है कि जिससे समुदाय के सदस्यों में प्रतियोगिता न हो सके। यदि कोई व्यक्ति बहुत आगे बढ़ना चाहे तो उसे बुरा समझा जाता है। क्वाक्युतुलों की अवस्था भिन्न है। यहां व्यक्ति का प्रमुख लक्ष्य दूसरे को नीचा दिखाना है। उनकी संस्कृतियों के अन्य पहलू समान हैं। दोनों संस्कृतियां दो पृथक् प्रकार के व्यक्तियों को जन्म देती हैं। एक जूनी की तुलना में अन्य बातों के साथ, क्वाक्युतुल अधिक महत्वाकांक्षी, स्वार्थी और अशांत होते हैं।

समाजीकरण प्रक्रिया

वह प्रक्रिया जिसके द्वारा एक बच्चा धीरे-धीरे अपने समाज की धारणायें और आदतें ग्रहण कर लेता है समाजीकरण की प्रक्रिया पुकारी जाती है। इसकी कार्य-प्रणाली अभिसंहित प्रत्युत्तर (Conditioned response) से मिलती है। विभिन्न प्रकार से व्यक्तियों का अभिसंधान (Conditioning) सम्पन्न होता है। इनमें प्रमुख प्रणाली टामस के शब्दों में 'आदेश और निषेध प्रणाली' है। छोटे बच्चे को बार-बार यह बताया जाता है कि वह क्या करे और

क्या न करे। आदेश और निषेध प्रत्येक वालक के भावात्मक अनुभव में विशेष स्थान रखते हैं।

एक वच्चे के समाजीकरण में प्रत्यक्ष और स्पष्ट आदेश का महत्त्वपूर्ण स्थान है, पर इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान उन वहुत से अप्रत्यक्ष और अज्ञात प्रभावों का है जो कि उसकी इच्छाओं और प्रवृत्तियों को परिचालित करते हैं। ज्ञात और अज्ञात अनुकरण का भी इसमें हाथ होता है। वच्चे पर निरन्तर उसके सांस्कृतिक स्वर्ग के सुझावों की वर्षा होती रहती है। एक वैष्णव परिवार में पले वच्चे का उदाहरण देकर इस तथ्य को भली-भांति स्पष्ट किया जा सकता है।

वचपन से वालक घर में राधाकृष्ण के चित्र और प्रतिमाओं के दर्शन करता है, निरन्तर वह माता-पिता के मुंह से राधाकृष्ण की वाल-लीला, क्रीड़ा, पराक्रम और अनुकम्पा की कथाएं सुनता है; गले में कंठी पहरता है; समय-समय पर घर में और वाहर राधाकृष्ण के उत्सवों में सम्मिलित होता है; उनकी स्तुति में भजन और गीत सुनता और गाता है, कीर्तन देखता और उनमें भाग लेता है; जयगोपाल या राधाकृष्ण कह कर परस्पर अभिवादन करता है। इन सब चीज़ों की अमिट छाप उसके मस्तिष्क और चेतना पर सदा के लिए पड़ जाती है, जो जीवन पर्यन्त उसके व्यक्तित्व, विचार और व्यवहार पर गहरा असर डालती है।

मानव प्रकृति की नमनीयता

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव प्रकृति में कितनी विभिन्नता पाई जाती है और इसमें संस्कृति का कितना जवर्दस्त हाथ है। यह तो एक प्रकट सत्य है कि वोर्नियो के खूंखार सिर-शिकारी और शान्तिप्रिय अहिंसक जैनी, दोनों ही मानव हैं। उनमें विद्यमान अन्तर केवल मानव-प्रकृति के लचकीलेपन की ओर संकेत सरता है। गोल्डनवीज़र ने ठीक ही लिखा है, "मनुष्य एक है, सभ्यताएं अनेक हैं।" जैनियों में पला वोर्नियो का एक वच्चा शान्तिप्रिय होगा। इसके विपरीत, यदि एक जैनी वच्चा वोर्नियो के सिर-शिकारियों द्वारा पाला जाय, तो वह किसी भी अर्थ में उनसे कम खूंखार न होगा। कभी-कभी तो संस्कृति का दवाव किसी समुदाय की प्रकृति में आमूल-चूल परिवर्तन ला देता है। इस सम्वन्ध में फारिस के शब्द विचारणीय हैं :

"नृवंशशास्त्रीय अध्ययनों का इससे अधिक महत्त्वपूर्ण सवक कोई नहीं

जितना कि मानव-पशु के अनन्त आनुकूल्य का सबक है। एक निर्विरोध सांस्कृतिक माध्यम द्वारा हम देखेंगे कि क्षुधा, काम-वासना, यहां तक कि जीने तक की इच्छा भी, यदि वह रूढ़ि के विरुद्ध हो, कुछ नहीं रह जाती। इस तथ्य की पुष्टि से हम सब परिचित हैं। स्वेच्छा से उपवास, स्वेच्छा से ब्रह्मचर्य, स्वेच्छा से अंगभंग और शरीर को कष्ट, स्वेच्छा से आत्महत्या—आदि उदाहरणों की कमी नहीं जो कि सांस्कृतिक नमूने के प्रबल आकर्षण को दर्शाते हैं। व्यक्ति द्वारा अपने व्यक्तित्व का स्वतन्त्र संगठन वैसा ही है जैसा कि बिना माता के जन्म लेना।"

इससे वह पुरानी कहावत कि 'मानव-प्रकृति नहीं बदली जा सकती' भ्रान्त ठहरती है। ऐलवुड ने सही ही कहा है कि "मानव-प्रकृति हमें ज्ञात एक अतिपरिवर्तनीय वस्तु है।" निःसन्देह इस परिवर्तन की सीमाएं हैं। इसी कारण "एक मनुष्य उन सबके कारण एक मनुष्य है।" उदाहरण के लिए, हर जगह ही मनुष्य क्रोध करते हैं। इस उद्वेग का पूर्णरूपेण दमन संदेहास्पद है। फिर भी विभिन्न संस्कृतियों में मनुष्य के क्रोध का अवसर, अवधि और रूप, बहुत भिन्न होता है। विस्तृत प्राणिक सीमाओं में मानव-प्रकृति पर्याप्त नमनीय है। यद्यपि मानव-प्रकृति में बहुत नमनीयता है, पर इसका यह अर्थ नहीं कि उसे जैसे चाहें वैसे बदला जा सकता है और उसका प्राणिक प्रकृति के साथ समान समीकरण सम्पन्न होता है। हम बारह घंटे सोने का अभ्यास डाल सकते हैं और चार घंटे सोकर भी गुज़र चला सकते हैं। इस अर्थ में मानव प्रकृति नमनीय है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि मनुष्य बिना सोये भी काम चला सकता है, या कितना भी सोने से उसकी प्राणिक प्रकृति के साथ उसे एक-सा समायोजन प्राप्त होता है। हो सकता है, आठ घंटा ऐसी अवधि हो जो प्राणिक प्रकृति के लिए सबसे अधिक अनुकूल हो, इस तरह संस्कृति और आनुवंशिकता के समीकरण का प्रश्न समीकरण की सीमा और नमनीयता की सीमा से सम्बद्ध है।

एक संस्कृति में सांस्कृतिक विभिन्नता

निःसंदेह संस्कृति का व्यक्तित्व पर प्रबल प्रभाव पड़ता है, पर इसका यह अर्थ नहीं कि संस्कृति एक ऐसा सांचा या ठप्पा है जो किसी समुदाय के सदस्यों को एक रूप या रंग में ढाल देता है। वास्तव में एक संस्कृति में पले सब सदस्य अपनी धारणाओं, विचारों और व्यवहारों में समान नहीं होते। आरण्यक समुदायों तक पर यह बात लागू होती है। पुरुष और स्त्रियों, बालकों और वृद्धों, पुरोहितों और शमनों, नेताओं और अनुचरों—प्रत्येक के व्यक्तित्व में

विस्तृत अन्तर पाया जाता है। एक संस्कृति में व्यक्तित्वों की विभिन्नता का एक कारण उसके विभिन्न व्यक्तियों और समूहों से संस्कृति की विभिन्न मांगें हैं। लिन्टन ने इस तथ्य की ओर विशेष रूप से हमारा ध्यान आकर्षित किया है और साथ ही सांस्कृतिक प्रभावों का एक उपयोगी श्रेणीविभाजन प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार प्रत्येक संस्कृति में कुछ ऐसे सांस्कृतिक गुण होते हैं जो समान रूप से सब सदस्यों पर दबाव डालते हैं। इन गुणों को हम सार्वभौम गुण कह सकते हैं। इन गुणों में भाषा, वेशभूषा, घरों और समूह-आदर्शों का समावेश है। इसके अतिरिक्त, संस्कृति के कुछ अन्य पहलू हैं जो कि जनसंख्या के एक विशिष्ट समूह पर ही लागू होते हैं। उदाहरण के लिए, प्रत्येक संस्कृति में स्त्री-पुरुषों के बीच एक श्रमविभाजन विद्यमान रहता है और दोनों वर्गों के लिए आचार के विभिन्न मानदण्ड होते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक पेशा-समूह का एक विशिष्ट सांस्कृतिक दृष्टिकोण होता है। विभिन्न पेशे के लिए विशिष्ट कार्यपद्धति, यहां तक कि एक विशिष्ट शब्दावली होती है, जो कि एक विशिष्ट 'पेशेवर दृष्टिकोण' का सृजन करती है। संस्कृति के इन पहलुओं को लिन्टन ने विशिष्टताएं कहा है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक संस्कृति में एक ही आवश्यकता की पूर्ति के विभिन्न मार्ग होते हैं, जिन्हें कि उसने विकल्पों का नाम दिया है। उदाहरण के लिए प्रत्येक संस्कृति में मनोरंजन और दिल-बहलाव के विभिन्न सर्वस्वीकृत साधन हर एक व्यक्ति को उपलब्ध होते हैं, वह जिसे पसन्द करे उसका उपयोग कर सकता है।

इससे स्पष्ट है कि संस्कृति के सार्वभौम तत्त्व ही व्यक्तित्व की समानता में सहयोग देते हैं। किन्तु आरण्यक समाजों में भी सर्वभौम की तुलना में विशिष्ट और विकल्प तत्त्व अधिक अनुपात में पाये जाते हैं और यही संस्कृति में विभिन्नता और समानता, एकता और अनेकता के लिए उत्तरदायी होते हैं। आरण्यक और आधुनिक दोनों ही संस्कृतियों में एकता और विविधता के दर्शन होते हैं। भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में तो यह बात बहुत ही पूरी घटती है। समस्त भारत में एक विचित्र मानसिक और आत्मिक समानता है, पर फिर भी इसके विभिन्न भागों और विभिन्न भागों के विभिन्न समूहों और वर्गों की भाषा, वेशभूषा, रहन-सहन, आचार-व्यवहार, पद-प्रतिष्ठा में विस्तृत अन्तर विद्यमान है। यदि यह कहें तो अच्छा होगा कि भारतीय संस्कृति एक रंगी चादर नहीं बल्कि बहुरंगी चुनरी है।

उन देशों में भी जहां कि संस्कृति अधिक एकतत्त्वीय है पर्याप्त भिन्नता

पाई जाती है। आधुनिक संस्कृति इतनी अधिक विस्तृत है कि कोई व्यक्ति इसे पूर्णतः नहीं ढक सकता। बच्चे का अनुभव बहुत कुछ संस्कृति के उस अल्प अंश का परिणाम होता है जिसके वह सम्पर्क में आता है। समूह विशेष सामाजिक विरासत के एक अंश के संरक्षक होते हैं और जो कुछ बच्चा सीखता है, इस पर निर्भर करता है कि वह किस समूह से सम्बद्ध है। वह एक कुलीन या एक अछूत की संस्कृति ग्रहण कर सकता है। यदि वर्ग-प्राचीरें बहुत ऊंची और अनुल्लंघनीय नहीं हैं, तो वह बाद में एक वर्ग से दूसरे वर्ग में पहुंच सकता है और इस तरह संस्कृति के विभिन्न प्रभावों को आत्मसात् कर सकता है।

और फिर, बच्चा किस कुल से आता है, इस पर भी बहुत कुछ उसका व्यक्तित्व निर्भर करता है। कुल व्यक्तित्व पर अपनी छाप छोड़ता है। एक व्यापारी, कर्मचारी, श्रमिक या किसान बनने में बहुत अंश में यह एक निर्णायक तत्त्व है। बच्चे का क्रीड़ा-समह भी बच्चे के व्यक्तित्व के ढालने में अपना हाथ रखता है। वह एक बालचर या गलियों के छोकरों की संस्कृति ग्रहण कर सकता है। धार्मिक समूह भी उसको ढालने में अपना योग देता है। वह-सुबह उठ कर संध्या-हवन करता है, या मन्दिर जाता है, या कीर्तन करता है या उपवास रखता है, या कलमा पढ़ता है, यह उसके धार्मिक-समूह द्वारा ही निर्णीत होता है। इसमें स्कूलों का भी दान है। वह विशिष्ट खेल खेलता है, संगीत और कला का अभ्यास करता है, यह उसके स्कूल की ही विशेषता है। तत्पश्चात्, वह कौन से कालिज या विश्वविद्यालय में प्रवेश लेता है, यह चीज़ भी उसके सांस्कृतिक प्रतिमान को विशेष रूप से प्रभावित करती है। शांति निकेतन, गुरुकुल कांगड़ी, कलकत्ता विश्वविद्यालय, रुड़की इंजीनियरिंग कालिज, दिल्ली कामर्स कालिज में एक विशिष्ट व्यक्तित्व का निर्माण होता है। अन्ततः, उस पर उस पेशा-समूह का प्रबल प्रभाव पड़ता है जिसे कि वह अपनाता है। एक सिपाही, एक इंजीनियर, एक डाक्टर, एक अध्यापक, एक व्यापारी, एक शासक या एक किसान बन कर जो आदतें और धारणाएं वह अर्जित करता है, उनमें पर्याप्त पार्थक्य है। यह तथ्य और उदाहरण इस बात की ओर संकेत करते हैं कि हमारे जैसी एक जटिल संस्कृति विभिन्न प्रकार के व्यक्तित्वों का निर्माण करती है और कर सकती है।

दसवां अध्याय

परिवार

परिवार क्या है ?

परिवार एक छोटा सामाजिक वर्ग है जो पिता, माता और एक अथवा अधिक बच्चों से मिल कर बना होता है, जिसमें स्नेह और उत्तरदायित्व आपस में बंटा होता है और जिसमें बच्चों को एक सामाजिक और संयमी व्यक्ति होने की शिक्षा दी जाती है। परिवार के सदस्यों में आपस में मतभेद, कहासुनी और नाराज़गी भी होती हैं, पुनः मेलजोल, सलाह-मशविरा और समझौते भी होते हैं। परिवार का मूलभूत मनस्सामाजिक तत्व आत्मीयता है जो कि माता-पिता में एक-साथ समस्याओं को सुलझाने से तथा उनमें और बच्चों में प्रेम और सम्मान से उत्पन्न होती है।

परिवर्तनशील परिवार. परिवार को हम बुनियादी सामाजिक संस्था कह सकते हैं। प्राचीन काल से इसमें बराबर परिवर्तन होते आ रहे हैं। बरजस और लॉक के अनुसार ऐतिहासिक युग के परिवर्तन काल में परिवारसंस्था का व्यवहार, रूढ़ि, जनमत और क़ानून से नियन्त्रित होकर अपने सदस्यों द्वारा परस्पर स्नेह और सहमति की ओर अग्रसर हो रहा है।

इस व्याख्या के अनुसार परिवार एक कठोर सामाजिक ढांचे से निकल एक नमनीय मानवीय सम्बन्ध बनता जा रहा है। निस्संदेह यह आशा की जा सकती है कि नवीन उदीयमान सम्बन्ध कुछ समय बाद नया रूप धारण कर लें।

परिवार की दो परिभाषाएं

बरजस और लॉक ने परिवार की परिभाषा संक्षेप में इस प्रकार दी है: "परिवार" व्यक्तियों का वह समूह है जो कि विवाह, रक्त, या गोद लेना आदि सूत्रों से बंधा हुआ है; एक घर बना, पति-पत्नी, माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहन की अपनी-अपनी सामाजिक भूमिकाओं में एक-दूसरे को अन्तःप्रभावित करते हुए अन्तःसंगठित हो, एक साझी संस्कृति का निर्माण करते हैं।" इस वक्तव्य के कई पहलू हैं; परन्तु इसका सबसे मुख्य पहलू उन व्यक्तियों की, जो कि प्रारम्भिक वर्ग सम्बन्ध में विभिन्न सामाजिक भूमिकाओं में कार्य कर रहे हैं, अन्तःक्रियाएं

हैं। और प्रत्येक नया परिवार जो एक सांस्कृतिक वातावरण पैदा करता है, किसी प्रकार कम महत्त्व नहीं रखता। निमकौफ के अनुसार "परिवार ससंतान या नि:संतान, या अकेले पति-पत्नी की एक अल्पाधिक स्थायी समिति है।"

परिवार का महत्त्व. समस्त मानव-वर्गों में परिवार-वर्ग अनेक अर्थों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। अपनी प्रारम्भिक इकाई पिता-माता से, बच्चा अपनी शारीरिक विरासत प्राप्त करता है, अर्थात् दुर्बल या स्वस्थ मानसिक और भौतिक शरीर प्राप्त करता है। स्वस्थ शरीर और मन के साथ जन्म सबसे बड़ा वरदान है। अस्वस्थ जन्म एक बड़ा अभिशाप है।

परिवार एक शिक्षण संस्था, परिवार में बच्चा सामाजिक उत्तरदायित्व का अर्थ, क्षमा का महत्त्व और सहयोग की आवश्यकता को सीखता है। परिवार एक विशिष्ट प्रारम्भिक संस्था है, इसमें बच्चा अपने जीवन की मौलिक धारणाएं, नमूने, आदर्श, शैली और सांचे बनाता है।

नये परिवार का निर्माण

जब बच्चा प्रौढ़ हो जाता है वह अपने परिवार-वर्ग को छोड़ एक दूसरे परिवार की बुनियाद रखता है। अपने माता-पिता की इच्छा या अपनी मर्जी से, समझदारी से या बेवकूफी या जल्दबाजी से वह अपनी भावी सन्तान के लिए एक भावी मां का चुनाव करता है। इसी प्रकार एक तरुण युवती अपने भावी बच्चों के लिए जिन्हें कि वह जन सकती है, पिता के रूप में एक नवयुवक का चुनाव करती है।

विवाह सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ाने का साधन. सामान्यत: लोग सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ाने के रूप में विवाह का महत्त्व नहीं समझते। बौसार्ड ने उन विभिन्न तरीकों का जिक्र किया है जिनके द्वारा ऐसा होता है। उदाहरण के लिए (१) विवाह व्यक्ति को अपने पितृ-परिवार में उच्च पद प्रदान करता है, (२) यह उसके पेशे और काम में उसके पद को उन्नत करता है. (३) यह समाज में उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाता है, (४) यह उसे अपनी मित्रमण्डली में प्रतिष्ठा प्रदान करता है, (५) यह उसे जीवन की समस्याओं के सम्बन्ध में नई रोशनी प्रदान करता है।

परिवार में व्यक्तिगत विकास—वर्ग परिवर्तन की प्रक्रिया

दो विभिन्न पारिवारिक वर्गों की कृति दो युवा-युवति विवाह की सामाजिक संस्था द्वारा अपने पारिवारिक वर्ग की स्थापना करते हैं। उनकी

धारणाएं वदलती हैं, क्योंकि अव वह एक ग़ैरजिम्मेदार वेटा या वेटी जिन्होंने कभी माता-पिता के शासन के प्रति वग़ावत की थी, एक जिम्मेदार माता-पिता का, जिन्हें अपने वच्चों को शिक्षित और अनुशासित करना है, कार्य करते हैं। इस भांति परिवारिक वर्ग टूटते हैं, नये स्थापित होते हैं और व्यक्तिगत विकास और वर्ग परिवर्तन की प्रक्रिया जारी रहती है।

ग्लिक का पारिवारिक चक्र

ग्लिक तथा अन्य विद्वानों ने पारिवारिक परिवर्तन की प्रक्रिया को तीन भागों में विभक्त किया है। सवसे पहले विवाह और पहला वच्चा पैदा होने के वीच की अवधि आती है। यह आधारभूत समीकरण (Adjustment) की अवधि है, जिसमें कि प्रत्येक साथी एक दूसरे से अत्यधिक प्रेम करता है। दूसरी अवस्था वच्चा जनने और पालने की है जव कि मां घर के कामों में फंस जाती है और पति के ऊपर अतिरिक्त आर्थिक भार आ पड़ता है। पति-पत्नी का प्रेम, माता और पिता के प्रेम में परिवर्तित हो जाता है, तथा दोनों का वच्चों के प्रति प्रेम वढ़ जाता है, यद्यपि पहला पति-पत्नी प्रेम भी जारी रहता है। तीसरी अवस्था तव आती है जव वच्चे वड़े हो जाते हैं, विवाहित हो जाते हैं, और घर छोड़ देते हैं। पति-पत्नी के पास एक दूसरे का कार्य करने के लिए पर्याप्त समय रहता है। स्नेह परिपक्व हो जाता है। पूर्ववर्णित विश्लेपण में हमने संतुलित प्रकार के विवाह की विवेचना की है।

वोसार्ड का पारिवारिक अन्तःक्रिया का नियम

यह देखने में आता है कि परिवार में प्रत्येक व्यक्ति की वृद्धि से "व्यक्तियों की संख्या समानान्तर वृद्धिक्रम (Arithmetical progression) में वढ़ती है, जव कि व्यक्तिगत अन्तःसम्वन्धों की संख्या त्रिकोणात्मक संख्याओं के क्रम (Triangular progression) में वढ़ती है।" इस वातको हम ऐसे भी कह सकते हैं कि परिवार में एक सदस्य की वृद्धि होने से, व्यक्तिगत अन्तःसम्वन्ध पूर्वस्थित अन्तःसम्वन्धों से संख्या में उतने ही अधिक हो जाते हैं जितना कि वृद्धि से पहले परिवार में सदस्यों की संख्या थी। यह तो स्पष्ट है कि दो सदस्यों में व्यक्तिगत सम्वन्ध का केवल एक ही सैट होगा—अव यदि सदस्यों की संख्या दो से तीन हो जाय तो उपर्युक्त सिद्धांत के अनुसार उनके व्यक्तिगत सम्वन्धों के सैट की संख्या तीन हो जायगी, यदि सदस्य संख्या चार हो जाय तो हम देखेंगे कि व्यक्तिगत अंतःसम्वन्धों के सैट की

संख्या छः हो जायेगी—और आगे चलें तो पांच सदस्यों के हो जाने पर इस तरह के सम्बन्धों के दस सैट हो जायेंगे।"

इस नियम की समाजशास्त्रीय महत्ता को अभी तक पूरी तरह नहीं समझा गया है। किन्तु इसके विभिन्न पहलू हैं जिनमें सबसे मुख्य यह है कि परिवार के सदस्यों की संख्या में वृद्धि अन्तःक्रियाओं में असाधारण वृद्धि कर देती है। इसके विपरीत, परिवार वर्ग से एक के बाद एक सदस्य का हटना अन्तःक्रियाओं की प्रक्रिया को बहुत कम कर देता है।

परिवार का उद्गम उद्देश्य और विकास

पशु जगत् में परिवार

परिवारसंस्था, उसकी समस्याओं और महत्व को समझने के लिए उसके पूर्व इतिहास पर दृष्टि डालना जरूरी है। उच्च प्रकार के पृष्ठवंशी पशुओं में हमें परिवार के मौलिक रूप के दर्शन होते हैं। अपृष्ठवंशियों (Inverteberates) में—अधिकांश मछलियों और रेंगनेवाले जानवरों में वात्सल्य का कोई चिह्न नहीं पाया जाता। पृष्ठवंशियों में माता-पिता द्वारा बच्चे के पालन-पोषण के कुछ उदाहरण अवश्य मिलते हैं। पशुलोक में कछुओं ने पारिवारिक जीवन की शुरुआत की। चिड़ियों में वात्सल्य पर्याप्त विकसित हुआ है। यहां नर-मादा मिलकर घोंसला बनाते हैं। जब नर भोजन लाता है, मादा अंडा सेती है। बच्चा पैदा होने पर दोनों उसकी रक्षा करते हैं। वे उसे उड़ना सिखाते हैं और जब तक बच्चा अपने पैरों पर नहीं खड़ा हो जाता वह अपनी जिम्मेदारी से छुटकारा नहीं पाते : कुछ चिड़ियों के जोड़े जीवन भर एक साथ साथ रहते पाये गये हैं। स्तनन्धयों में बच्चे अपनी माता पर अत्यधिक आश्रित हैं। पशुओं में नर-मादा का सम्बन्ध अधिकांशतः गर्भाधान ऋतु तक सीमित रहता है। शिपान्जी और गोरिल्ला परिवारों में रहते हैं, उनमें से बहुत से मिलकर एक बलिष्ठ नर के नेतृत्व में एक झुंड बना लेते हैं। बन्दरों और बैबूनों के रेवड़ परिवारों से मिलकर बने होते हैं।

परिवार के उद्गम के कारण

कामचार से परिवार की उत्पत्ति ?. पिछली सदी के समाजशास्त्रियों की कल्पना थी कि मानव समाज में पहले स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों के कोई नियम न थे। पुरुष और स्त्रियां इच्छानुसार, जिससे चाहें उसके साथ, समागम कर सकते थे। स्त्रियां सारे पुरुषसमाज की सामूहिक उपभोग की वस्तु थीं। इस

अवस्था को उन्होंने कामचार (Promiscuity), स्वच्छन्द उपभोग (Hetairism) यूथ विवाह या सामूहिक विवाह का नाम दिया है। मैक-लीनान, वैखोफ़न और मॉर्गन इस कल्पना के मुख्य समर्थक थे। कामचार के विषय में एकमत होते हुए भी, उससे विवाह की उत्पत्ति कैसे हुई इस पर इनमें तीव्र मतभेद था। मैकलीनान के मत में पुरुष के मन में यह इच्छा उत्पन्न हुई कि वह अपनी वैयक्तिक स्त्री रखे। अपने समाज में यह सम्भव न देख वह दूसरी जातियों से जवर्दस्ती स्त्रियां भगाकर लाने लगा। वैखोफ़न के अनुसार स्त्रियां पुरुषों की इस स्वच्छन्दता से ऊब उठीं और उनकी वग़ावत स्वरूप परिवार की स्थापना हुई। यह तीनों ही विद्वान् प्रारम्भिक अवस्था में स्त्रियों की प्रभुता या मातृ-सत्ता (matriarchy) मानते थे। उनका कहना था कि कामचार की अवस्था में वच्चे के पिता का ठीक-ठीक वता सकना सम्भव नहीं था, अतः उस समय परिवार का केन्द्र मां होती थी और वही परिवार की मुखिया और शासक थी। इस मातृसत्ता का प्रवल प्रमाण यह था कि अनेक जातियों और वंशों में कुल-क्रम और सम्पत्ति का वंटवारा पुरुषों द्वारा न होकर स्त्रियों द्वारा होता था। उदाहरणार्थ मालावार में आज भी अनेक जातियों में पिता के मरने पर उसका लड़का सम्पत्ति का उत्तराधिकारी न होकर उसकी वहिन या लड़की होती है। त्रावणकोर के राजघराने में भी यही परिपाटी प्रचलित है।

मातृ-क्रम कामचार का प्रमाण नहीं. प्राचीन काल में कामचार सिद्ध करने के लिए जो प्रमाण दिये जाते हैं, वे सव जाँच कसौटी पर खरे नहीं उतरते। वह अधिकांश में ग़लत तथ्यों और भ्रान्त सूचनाओं पर आधारित हैं। कामचार समर्थकों का सवसे प्रवल प्रमाण मातृवंशानुक्रम (Mother-right) है। उनका कहना है कि यह व्यवस्था तभी प्रचलित हो सकती है जव वच्चों के पिता का निश्चित ज्ञान न हो। वच्चों के पिता का निश्चित ज्ञान न होने का अर्थ हुआ कि वहां कोई परिवार नहीं है। किन्तु डा० हार्टलैण्ड ने ऐसी वहुत सी जातियों के उदाहरण दिए हैं जहां पितृत्व (Paternity) के विल्कुल निश्चित होने पर भी मातृवंशानुक्रम चलता है। इसके अतिरिक्त हम यह देखते हैं कि जिन जातियों में कन्या के साथ शादी कर उसे अपने घर नहीं लाया जाता वल्कि पति उस के घर में वस जाता है, वहां सर्वत्र मातृ-वंशानुक्रम की प्रथा प्रचलित है। मालावार की कई जातियों में शादी के वाद पत्नी अपने पिता के यहां रहती है, अतः वहां वहन के लड़के से ही वंश का चलना स्वाभाविक है।

वात्सल्य की भावनाओं से परिवार का उद्गम. कामचार का प्रबलतम खण्डन डार्विन आदि वैज्ञानिकों ने प्राणिशास्त्र की दृष्टि से किया है। प्राणिवर्ग में अधिक विकास के साथ सन्तानों की संख्या घटती जाती है और उनके पूर्ण विकास की अवधि बहुत बढ़ जाती है। मछली लाखों अण्डे देती है; सूर्य की गर्मी से वे पक जाते हैं और मछली के बच्चे एक दम तैरने और अपना भोजन ढूंढने लगते हैं। बन्दर या मनुष्य के बच्चे बहुत थोड़ी संख्या में पैदा होते हैं और उनके पूर्ण विकास में बहुत साल लग जाते हैं। यदि उस समय तक उन्हें माता-पिता का संरक्षण न मिले तो वह नष्ट हो जायं। इस पालन-पोषण की आवश्यकता, संतानरक्षा और वात्सल्य की भावनामें ही परिवार का उद्गम छिपा हुआ है। संतानोत्पत्ति की इच्छा और गर्भिणी माता और उसकी संतान की रक्षा की भावना ने परिवार की आवश्यकता को जन्म दिया। इसके वशीभूत स्त्री-पुरुष परिवार बना कर रहने लगे। यद्यपि इन परिवारों का उद्देश्य मूलतः एक ही था पर परिस्थिति, रुचि और विश्वास-भेद से इसके विभिन्न स्वरूप हुए, इसके निर्माण के विभिन्न कायदे और कानून गढ़े गये।

मातृनामी और पितृनामी परिवार

जिन स्थानों में पति-पत्नी के घर जाकर रहने लगा, वहां पर बच्चे माता के कुल का नाम ग्रहण करने लगे। दक्षिण मलाबार की कुछ जातियों, उत्तरी अमरीका के रैड इन्डियनों तथा अन्य कई आदिम जातियों में हमें मातृनामी प्रथा के उदाहरण मिलते हैं। जिन परिवारों में पत्नी पति के घर जाकर रहती है, वहां प्रायः बच्चे पिता के कुल का नाम ग्रहण करते हैं। पिता को ही सम्पत्ति-विभाजन का अधिकार प्राप्त होता है। संसार की अधिकांश जातियों में पितृनामी परिवार-प्रथा ही प्रचलित है। पितृनामी और मातृनामी परिवार तथा पितृसत्तात्मक और मातृसत्तात्मक परिवार में भेद करना आवश्यक है। जबकि पितृनामी और मातृनामी शब्द में कुल के नाम का प्रयोजन मुख्य है, पितृसत्तात्मक और मातृसत्तात्मक शब्द पिता-माता की पारस्परिक नियन्त्रण शक्ति या प्रभुता के द्योतक हैं।

विवाहों के भेद

परिवार बसाने की भावना ने विवाह—स्त्री पुरुष के साथ-साथ रहने की आवश्यकता को जन्म दिया। पर इस साथ-साथ रहने ने विभिन्न रूप धारण किए। किन्हीं समाजों में एक पुरुष एक स्त्री से ही संतुष्ट हो गया; कहीं पर

एक पुरुष ने एक से अधिक स्त्रियां रख परिवार का निर्माण किया; कहीं पर कई पुरुषों ने मिलकर एक साझी स्त्री रख ली। इन विभिन्न रीतियों को क्रमशः एकभार्यता (Monogamy), बहुभार्यता (Polygamy) और बहुभर्तृता (Polyandry) कहते हैं।

बहुभर्तृता (Polyandry)

संसार के कुछ भागों में बहुभर्तृता चिरकाल से प्रचलित है। बहुभर्तृता विवाह का वह रूप है जिसमें एक स्त्री के एक समय में एक से अधिक पति होते हैं। बहुभर्तृता के भी दो प्रकार हैं। जब एक स्त्री के विभिन्न पति आपस में भाई-भाई होते हैं तब उसे भ्रातृक-बहुभर्तृता कहते हैं; जब विभिन्न पतियों में ऐसा कोई सम्बन्ध नहीं होता तब उसे मातृसत्ताक बहुभर्तृता कहते हैं। तिब्बत और भारत के कुछ भागों में यह प्रथा प्रचलित है। सामान्यतः यह प्रथा बहुत विरल है और विशिष्ट और कठोर परिस्थितियों में ही पाई जाती है।

भारतवर्ष में इस प्रथा के कुछ प्राचीन एवं अर्वाचीन उदाहरण मिलते हैं किन्तु इसका प्रचलन बहुत कम है। हमारे समाज में इस प्रथा को निन्दनीय एवं गर्हणीय समझा गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में इसका निषेध किया गया है। प्राचीन काल में इसका सबसे प्रसिद्ध उदाहरण द्रौपदी का है। महाभारत के अध्ययन से स्पष्ट है कि उस समय के सभी लोगों ने इसे पाप और पांडवों के चरित्र पर एक बड़ा धब्बा समझा था। वास्तव में हमारे यहां कुछ अपवादों को छोड़कर बहुभर्तृता कभी भी प्रचलित नहीं रही। वर्तमान काल में दक्षिण भारत में मालाबार के नायरों, नीलगिरि के टोडों तथा कुरुम्बों में यह प्रथा प्रचलित है। उत्तर भारत में बहुभर्तृता अधिकतर हिमालय के प्रदेशों में है। उत्तरप्रदेश में देहरादून ज़िले के जौनसार बावर में इस प्रथा का खूब प्रचलन है। बहुत से भाइयों की एक पत्नी होती है। कई बार एक परिवार में कई साझी स्त्रियां होती हैं। पंजाब के पहाड़ी हिस्सों, कांगड़ा जिले के स्पीती, लाहौल परगनों, चम्बा, कुल्लू तथा मण्डी के ऊंचे प्रदेशों में कानेतो और नीची जातियों में यह प्रथा विद्यमान है। मार्टिन ने मध्य भारत के ओरोवों में इस प्रथा के कुछ चिन्ह पाये हैं।

बहुभर्तृता प्रचलित होने के कारण. जनसंख्या में पुरुषों की तुलना में स्त्रियों की कमी और निर्धनता बहुभर्तृता के मुख्य कारण हैं। इसमें आर्थिक कारण ही प्रबल हैं। पहाड़ों में कृषियोग्य भूमि बहुत कम है, आजीविका के अन्य कुछ साधन भी नहीं हैं। एक पुरुष के लिए एक स्त्री का भार उठाना और

उसकी संतान का पालन-पोषण संभव नहीं होता। इसलिए कई व्यक्ति मिलकर एक साझी पत्नी कर लेते हैं। इससे एक और भी लाभ होता है कि भाइयों में सम्पत्ति विभक्त नहीं हो पाती।

वहुभार्यता (Polygamy)

वह विवाह-प्रथा जिसमें एक पुरुष की एक से अधिक पत्नियां होती हैं वहु-भार्यता कहलाती है। वहुभार्यता दासता की संस्था से घनिष्ठतया सम्बन्धित है। युद्ध में पकड़ी गई स्त्रियां विजेता की स्त्रियां और रखेलियां वना ली जाती हैं। रखेली एक दूसरे दर्जे की पत्नी है। वहुभार्यता के अन्दर पत्नी की खरीद भी प्रायः प्रचलित है। उदाहरण के लिए एक मुखिया उसी भांति एक दर्जन औरतें खरीदता है जिस भांति वह अन्य कोई व्यक्तिगत सामान खरीदेगा। किन्हीं-किन्हीं अवस्थाओं में एक पुरुष की स्त्रियों की संख्या सैकड़ों तक पहुंच जाती है।

वहुभार्यता तव तक विकसित नहीं हुई जव तक मनुष्य ने पर्याप्त सम्पत्ति संग्रह नहीं कर ली। अतः उन देशों में भी जहां कि वहुभार्यता कानून-संमत है वहुत थोड़े धनी लोग ही इसे व्यवहार में लाते हैं।

वहुभार्यता प्रचलित होने के कारण. (१) स्त्री पुरुषों की संख्या में विषमता, (२) पुरुषों की विषयासक्ति, (३) आर्थिक कारण व सामाजिक प्रतिष्ठा तथा (४) पुत्र की कामना, वहुपत्नीत्व के मुख्य हेतु हैं।

१. जिन समाजों में स्त्रियों की संख्या पुरुषों से अधिक हो वहां वहु-भार्यता स्वाभाविक प्रतीत होती है। युद्धों के वाद—जिनमें पुरुष पर्याप्त संख्या में मारे जाते हैं, प्रायः ऐसा होता है। किन्तु यह कारण अपने-आप में पर्याप्त नहीं। वहुभार्यता अनेक ऐसे समाजों में भी दृष्टिगोचर होती है जहां पुरुषों की संख्या अधिक है। अतः वहां अन्य कारण विशेष महत्त्व रखते हैं।

२. एकविवाह में पुरुष को आवश्यक रूप से कुछ समय तक पत्नी के रजस्वला, गर्भवती व प्रसूता होने पर संयम करना होता है। इसके अतिरिक्त कुछ पुरुष मधुकर की तरह विभिन्न पुष्पों का पराग ग्रहण करना चाहते हैं। अतः नवीनता की लालसा और पुरुष की कामवासना अनुकूल परिस्थिति में वहुभार्यता को जन्म देती है।

३. वहुभार्यता का सवसे प्रमुख कारण आर्थिक है। यह उसे वढ़ाता भी है और कम भी करता है। जिन समाजों में स्त्री आर्थिक दृष्टि से लाभकर

नहीं होती, कुछ कमाती नहीं, वहां यह कारण बहुभार्यता को रोकता है। गरीब लोग इसी लिए कई विवाहों की छूट रहते भी एक ही विवाह करते है। कई समाजों में आर्थिक रूप से सहायक होने के अतिरिक्त बहुभार्यता समाज में व्यक्ति की प्रतिष्ठा को बढ़ाती है। थोंगा (पुर्तगाली पूर्वी अफ्रीका) के धनी लोग अपना रुपया स्त्रियों में लगाते हैं।

४. बहुभार्यता का चौथा कारण पुत्र की कामना है। पहली स्त्री के वन्ध्या होने पर, पुरुष स्वयं अथवा कईबार स्त्री की प्रेरणा से सन्तान के लिए दूसरा विवाह करता है।

बहुभार्यता के दुष्परिणाम. बहुभार्यता ने स्त्रियों की स्थिति को गिराने, मानव-प्रेम को वासना की बलि-वेदी पर चढ़ाने, पारिवारिक कलह को बढ़ाने तथा बच्चों के पालन-पोषण में लापरवाही, माता-पिता और सन्तान में स्नेह को समाप्त करने में पूरा योगदान दिया है। हिन्दू-कानून और मुस्लिम-कानून में अभी भी बहुभार्यता जायज़ है। मुस्लिम कानून में अवश्य उसकी संख्या चार तक सीमित कर दी गई है। स्त्रियों की स्थिति सुधारने के लिए प्रेम के उच्चतम आदर्श को सुरक्षित रखने के लिए बहुभार्यता को ग़ैरकानूनी घोषित करना अनिवार्य है।

एकभार्यक विवाह (Monogamy)

एक पुरुष से एक स्त्री का विवाह पूर्वकाल से अब तक विवाह का मुख्य स्वरूप रहा है। सभी समझदार विचारकों ने एकपत्नीव्रत के आदर्श और लाभों को स्वीकार किया है। विभिन्न लेखकों और वैज्ञानिक पर्यवेक्षकों ने उसे निम्न शब्दों में व्यक्त किया है।

एक विवाह के लाभ

१. बच्चों की बेहतर देखरेख. एक विवाह के अन्तर्गत पति-पत्नी दोनों बच्चे के पालन-पोषण में एकाग्रचित्त हो योग देते हैं। अन्य किसी विवाह प्रथा की तुलना में माता-पिता बच्चों पर अधिक ध्यान दे पाते हैं।

२. उच्चतम प्रेम का जन्मदाता. एकविवाही परिवार ही उच्चतम प्रेम और भक्ति की सृष्टि करता है। बहुभार्यता के अन्तर्गत पति अनेक पत्नियों और अनेक बच्चों के होने के कारण न तो विभिन्न पत्नियों से ही समान रूप से प्रेम कर पाता है और न ही बच्चों को समुचित प्यार दे पाता है। पत्नियों

के बीच ईर्ष्या फलती-फूलती है और बच्चे एक दूसरे से पृथक् रखे जाते हैं। एक विवाह के अन्तर्गत ऐसा नहीं होता।

३. **दृढ़ता और निश्चिततर पारिवारिक बन्धन.** एक विवाह के अन्तर्गत माता-पिता और बच्चों के बीच प्रेम अधिक खुलकर और दृढ़तर होता है। कानूनी और रक्त सम्बन्ध कहीं सरल और कम उलझे, और कम झगड़ों और कलह का कारण होते हैं। परिणामतः यह कहना संभव है कि एक विवाही परिवार समाज की एकता और सुदृढ़ता में वृद्धि करते हैं।

४. **बच्चों और माता-पिता दोनों के जीवनों का संरक्षण.** एक विवाह केवल बच्चों को ही अधिक सुरक्षित नहीं करता अपितु माता-पिताओं के जीवन को भी अधिक सुरक्षित करता है। एक विवाह के अन्तर्गत बड़े होने पर बच्चों से मां-बाप की अधिक सेवा की आशा की जा सकती है। बहुभार्य परिवार पिता और बच्चों में स्नेह वृद्धि का अवसर नहीं देता। बुढ़ापे में बच्चों द्वारा पिता की उपेक्षा होती है।

इस भांति एक विवाह के अनेक और महत्वपूर्ण लाभ हैं। एक विवाह सामाजिक अन्तःक्रियाओं के लिए श्रेष्ठ सुविधाएं प्रदान करता है और अन्य विवाहों की तुलना में स्वस्थ सामाजिक जीवन की स्थापना के लिए अधिक उपयोगी प्रतीत होता है।

वैवाहिक प्रतिबन्ध

जहां विभिन्न समाजों में पति-पत्नी की समस्याओं के सम्बन्ध में कुछ नियम हैं, वहां पति-पत्नी के चुनाव के सम्बन्ध में भी कुछ नियम और प्रतिबन्ध हैं, जिनका अध्ययन जरूरी है। जब दो व्यक्ति किन्हीं ऐसे दो वर्गों के होते हैं जिनमें आपस में विवाह नहीं हो सकता तो उसे बहिर्विवाही (Exogamous) वर्ग कहते हैं। जब दो व्यक्ति किसी ऐसे वर्ग के होते हैं जिन में आपस में विवाह हो सकता है तो उसे अन्तर्विवाही (Endogamous) वर्ग कहते हैं। प्रत्येक समाज में कुछ वर्गों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करना निषिद्ध तथा कुछ वर्गों में ही वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करना स्वीकृत होता है।

हिन्दुओं में बहिर्विवाह

उदाहरण के लिए अन्य समाजों की भांति हिन्दुओं ने विवाह को नियन्त्रित करने के लिए कुछ नियम बनाये हैं। कोई भी विवाह करते समय इन

नियमों का पालन करना पड़ता है। इन नियमों को दो श्रेणियों में बांटा जा सकता है।

(१) **बहिर्विवाही नियम.** हिन्दुओं में एक गोत्र और प्रवर वालों में विवाह नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त पिता की सात और माता की पांच पीढ़ियों से वाहर विवाह करना चाहिये। इस प्रकार हिंदुओं में अपने गोत्र, प्रवर और पिण्ड से वाहर विवाह करने की प्रथा प्रचलित है।

(२) **अन्तर्विवाही नियम.** हिंदुओं में यह नियम है कि वर-वधू का वर्ण (जाति) एक होना चाहिए। यदि कोई ब्राह्मण विवाह करना चाहे तो यह आवश्यक है कि वह ब्राह्मण वर्ण की कन्या का ही पाणिग्रहण करे। अपने वर्ण जाति या वर्ग में विवाह करने का नियम अन्तर्विवाह का नियम कहलाता है।

वहिर्विवाह और अन्तर्विवाह के नियमों के पारस्परिक सम्बन्ध को वृत्तों के उदाहरण से समझाया जा सकता है। ब्राह्मण जाति एक बहुत वड़ा वृत्त है इसमें विश्वामित्र, वशिष्ठ आदि अनेक छोटे-छोटे गोत्रों के वृत्त हैं। प्रत्येक व्यक्ति को अपने गोत्र के छोटे वृत्त से वाहर किसी दूसरे गोत्र में शादी करनी पड़ती है, किन्तु ऐसा करते हुए, वह ब्राह्मण जाति के विशाल वृत्त की परिधि से वाहर नहीं जा सकता।

भिन्नगोत्रता के नियम की परेशानियां और भ्रान्तियां

हिन्दुओं में जब विवाह की वात होनी शुरू होती है तो सबसे पहले जाति और गोत्र का प्रश्न होता है। अनेक विवाह अन्य सब दृष्टियों से ठीक होते हुए भी गोत्र मिल जाने के कारण नहीं हो पाते। कहीं भिन्न गोत्र होने पर भी विवाह नहीं हो पाता। इसका कारण यह कहा जाता है कि अमुक गोत्रों में परस्पर पटती नहीं। हजारों वर्षों के वाद भी वशिष्ठ और विश्वामित्र के गोत्रों में पुरानी दुश्मनी चली आ रही है। वैर भाव के साथ भिन्नगोत्र वालों का झगड़ा समाप्त नहीं हो जाता। कुछ गोत्रों में परस्पर भाईचारा समझा जाता है। कश्यप और शाण्डिल्य गोत्रों का असित नाम समान होने से दोनों में परस्पर अनुकूलता समझी जाती है। ऐसी स्थिति में इन दोनों में भी विवाह नहीं हो सकता।

गोत्र द्वारा वंशपरम्परा द्योतन का प्रचलित मत और स्वरूप. गोत्र और प्रवर के सम्बन्ध में यह विश्वास प्रचलित है कि गोत्र और प्रवर वंशपरम्परा और रक्तसम्बन्ध को सूचित करते हैं। प्रो० हरिदत्त के अनुसार भार-

तीय कल्पना अत्यधिक विरोधों और असंगतियों से भरी हुई है। वास्तव में गोत्र की उत्पत्ति प्रवर से हुई है। प्रवर, प्रारम्भिक काल की याज्ञिक क्रियाओं में पुराने ऋषियों को वरण करने को कहते हैं। प्रत्येक यजमान अपनी सफलता के लिए किसी विशेष ऋषि का आवाहन आवश्यक समझता था। कालान्तर में याज्ञिक कर्मकाण्ड के नियम निश्चित हो जाने पर कौनसा याज्ञिक सम्प्रदाय किन ऋषियों का नाम पढ़ेगा, यह निश्चित कर दिया गया। इससे स्पष्ट है कि गोत्र का रक्त से कोई सम्बन्ध नहीं है। वास्तव में ८ वीं ७ वीं ईस्वी पूर्व ही पहली बार सगोत्र विवाहों के निषेध का नियम प्रचलित हुआ। इससे सगोत्र विवाहों को समरक्त मान उनके निषेध की निरर्थकता भली-भांति स्पष्ट है।

गोत्र के नियम की अनावश्यकता. वर्तमान काल में गोत्र सम्बन्धी मर्यादा को बनाये रखने की कोई आवश्यकता नहीं है। गोत्र के बनाये रखने के सम्बन्ध में दो युक्तियां दी जाती हैं। (१) गोत्र रक्त सम्बन्ध को सूचित करता है और सुप्रजनन शास्त्र की दृष्टि से आवश्यक है कि नजदीकी रिश्ते वालों में शादी न हो। (२) धर्म शास्त्र में सगोत्र विवाह का निषेध है। नज़दीकी रिश्तेदारों में शादियां न होने के लिए शास्त्रों में पहले ही पिता की सात और माता की पांच पीढ़ियां छोड़ने का विधान है। इस के रहते हुए गोत्र का प्रतिबन्ध व्यर्थ है। एक गोत्र वालों की संख्या अत्यधिक होने पर गोत्र का नियम अपने आप शिथिल हो जाता है।

सपिण्डता. रक्त सम्बन्ध से सम्बद्ध सम्बधियों के लिए सपिण्ड शब्द का व्यवहार होता है। पिता की सात और माता की पांच पीढ़ियां सपिण्ड कहलाती हैं। मध्यकाल में सपिण्डता बहुत विस्तृत हो गई, इसके अनुसार २१२१ कन्याएं अविवाहिता हो जाती हैं। इस सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है कि आखिर सपिण्ड विवाहों के निषेध का नियम क्यों प्रचलित हुआ? सर्वसाधारण में यह समझा जाता है कि सपिण्ड विवाहों में संतति दुर्बल और नाना रोगों से पीड़ित हो जाती है। इसलिए सपिण्ड विवाहों को रोका जाना चाहिए। किन्तु आयुर्वेद के किसी भी प्राचीन ग्रन्थ में ऐसा प्रमाण नहीं है जिसमें सपिण्ड विवाहों की हानि बताई गयी हो। धर्मशास्त्र भी सपिण्ड विवाह के निषेध में इस कारण का उल्लेख नहीं करते और न ही आधुनिक सुप्रजननशास्त्री इसे सदैव हानिकर बताते हैं। वेस्टरमार्क ने सपिण्ड विवाहों के निषेध का यह कारण माना है कि निकट सम्बन्धियों में परस्पर इकट्ठा रहने के कारण यौनदृष्टि से एक उदासीनता उत्पन्न हो जाती है। यही उदासीनता सपिण्ड विवाहों के

निषेध रूप में प्रचलित हुई। यदि वैस्टर मार्क की कल्पना मान ली जाय तो यह भी मानना पड़ेगा कि पति-पत्नी के इकट्ठा रहने पर, उनकी काम भावना बिल्कुल शांत हो जाती है। ब्रिफाल्ट और फ्रायड ने उपयुक्त धारणा को ग़लत बताया है। वास्तव में सपिण्ड विवाहों के निषेध का मूल कारण प्राचीनकाल के विशाल संयुक्त परिवार में नैतिकता को सुरक्षित बनाये रखने की चिन्ता थी। प्रो० मेलनोवस्की का मत भी इससे मिलता है।

अन्तर्विवाह

विभिन्न जातियों में बहिर्विवाह की भांति अन्तर्विवाह के भी विभिन्न नियम हैं। इनका मूल कारण विभिन्न नस्ल, राष्ट्र, वर्ग या धर्म के लोगों के प्रति घृणा की भावना और अपनी नस्ल, राष्ट्र, वर्ग या धर्म के प्रति श्रेष्ठता व उच्चता की भावना ही कही जा सकती है। उदाहरण के लिए, हिन्दुओं में अपनी जाति, उपजाति और उपवर्ग में ही विवाह किया जाता है और सर्वसाधारण का यह विश्वास है कि यह व्यवस्था अनादि काल से चली आ रही है। वास्तव में यह व्यवस्था भारत में १३वीं सदी से ही शुरू हुई है। प्राचीन युग मे चारों वर्णों में परस्पर विवाह होते थे। बाद में अपने वर्ण में ही विवाह प्रशस्त माना जाने लगा किन्तु फिर भी उच्च वर्ण के लोग निम्न वर्ण की स्त्रियां ले लेते थे। १३वीं शती में यह बिल्कुल बन्द हो गये। इस पाबन्दी का बड़ा घातक परिणाम हुआ। कुछ तथाकथित कुलीन जातियों में योग्य वर न मिलने के कारण उस जाति की कन्याएं अयोग्य वरों के मत्थे मढ़ी जाने लगीं। बंगाल के कुलीन विवाह का इतिहास स्त्रियों के दासत्व की दर्दनाक कहानी है।

हिन्दुओं में भिन्नजाति या अन्तर्जातीय विवाह के सिद्धान्त को बड़ी निन्दा की दृष्टि से देखा जाता है। जब स्व० विट्ठलभाई पटेल और डा० भगवानदास ने अन्तर्जातीय विवाहों को वैध ठहराने का प्रस्ताव व्यवस्थापिका सभा के सम्मुख रखा, उसका भारी विरोध किया गया। वास्तव में हिन्दुओं का यह दुराग्रह एक अर्थ में स्वाभाविक था। वर्तमान हिन्दू धर्म की सबसे बड़ी विशेषता जातिभेद है—यह दो बुनियादों पर खड़ा है—खानपान और विवाह। रोटी-बेटी का सम्बन्ध इसका मुख्य उपादान है। इन्हें हिला देने पर उसकी नींव ही हिल जायेगी।

अन्वेषकों का कहना है कि अपनी ही जाति या वर्ण में ही विवाह करने का नियम न तो पुराने ज़माने में प्रचलित था और न ही धर्मशास्त्रों ने उसे

विवाह की अनिवार्य शर्त बताया है। वैदिक और पौराणिक साहित्य में वर्णान्तर विवाहों के बीसियों उदाहरण मिलते हैं। वैदिककाल में चार ही जातियां (वर्ण) थीं किन्तु कालान्तर में इनकी हज़ारों उपजातियां बन गयीं। १९०१ की जनगणना रिपोर्ट में २३७८ जातियों का उल्लेख है। निम्न वर्गों की जातियां अपने को निरन्तर ऊंचा उठाने का प्रयत्न कर रही हैं। इन विभिन्न जातियों के वैवाहिक नियमों की कठोरता में कोई कमी नहीं हुई है। लोकाचार ने शास्त्र के सवर्ण नियम को उपवर्ण, उपजाति और उपजाति के बहुत छोटे-छोटे वर्गों तक विस्तीर्ण कर दिया है। उदाहरणार्थ महाराष्ट्र के ब्राह्मणों में देशस्थ, कोंकणस्थ और करहाद तीन भेद हैं। देशस्थों के फिर चार उपभेद हैं। इन चारों में परस्पर विवाह नहीं हो सकता। टाड ने वैश्यों के ८४ कुल गिनाए हैं। इन सब में परस्पर विवाह नहीं हो सकता। कायस्थ १२ भागों में बंटे हैं और उनमें शादी ब्याह नहीं होते। जातिभेद का रोग केवल उच्च जातियों तक ही सीमित नहीं। उत्तर भारत के भंगियों में १३५९ वर्ग हैं जो परस्पर शादी ब्याह नहीं करते।

अन्तर्विवाहों के दुष्परिणाम

सजातीय विवाह के प्रतिबन्ध से वर-वधू के चुनाव का दायरा बहुत संकुचित हो गया है। कुछ जातियों में पुरुषों की संख्या इतनी कम है कि कन्याओं का विवाह एक समस्या बन गई है। इन लड़कों के माता-पिता लड़कीवाले की असमर्थता का पूरा फायदा उठाते हैं। दहेज के लिए बड़ी-बड़ी रकमें मांगते हैं। उस समय कन्या के माता-पिता को भारी कर्ज़ लेना पड़ता है या ऐसे धनी खूसट वृद्ध के साथ अपनी लड़की को ब्याहना पड़ता है, जो दहेज न मांगता हो। इस तरह हर साल लाखों लड़कियां लोभी, निर्दय और कामुक व्यक्तियों के हाथ सौंप दी जाती हैं। सुकुमार कन्या के गले में वृद्ध पति की फांसी डाल दी जाती है और उसे जीवन भर अपने भाग्य पर रोने के लिए छोड़ दिया जाता है। जो कन्याएं कुछ साहस रखती हैं वह स्नेहलता की तरह आत्महत्या कर अपने और अपने माता-पिता के कष्टों का अन्त करती हैं।

अन्तर्विवाहों से बाल-विवाह की बुराई को भी प्रोत्साहन मिलता है। जाति में लड़कियों की कमी के कारण, कई बार युवकों को जबर्दस्ती कंवारा रहना पड़ता है। उस दशा में युवक दूसरी स्त्रियों से अनुचित सम्बन्ध रखते हैं; इन युवकों के लिए स्त्रियां भगा कर लाई जाती हैं और इस तरह समाज में अनाचार की वृद्धि होती है।

जब कन्याओं के विवाह करने में इतना कष्ट हो तो उनका वध और उनकी उपेक्षा स्वाभाविक है। हिन्दुओं में कन्याओं की जो दुर्दशा है, उसका प्रधान कारण वर ढूंढने और उसे संतुष्ट करने की कठिनाइयां हैं। कन्या होते ही घर में जो शोक की लहर दौड़ जाती है, उसका हेतु कन्या के विवाह की चिन्ता है। इसके अतिरिक्त जातिभेद, जातीय एकता, संगठन और मेल का सबसे बड़ा दुश्मन है। भारत की विभिन्न जातियों में एकता और सौहार्द स्थापित करने का अन्तर्जातीय विवाह ही एकमात्र प्रभावशाली साधन है। केवल मौखिक सहानुभूति, मन्दिर उद्घाटन और सहिष्णुता के प्रचार से भारत में एकता नहीं हो सकती। उस एकता को लाने के लिए उसे रक्त के अविच्छिन्न और दृढ़ सूत्र से बांधना होगा।

विद्यमान हिन्दू और मुस्लिम कानून दोनों ही इस दृष्टि से बहुत पिछड़े हुए हैं। सन् १९१८ में श्री विट्ठलभाई पटेल ने अन्तर्जातीय विवाहों को वैध बनाने का एक प्रस्ताव व्यवस्थापिका सभा के सम्मुख रखा था। कट्टरपंथियों ने उसका घोर विरोध किया। १९३७ में पुनः डा० भगवानदास ने इस सम्बन्ध में प्रयत्न किया वह भी निष्फल सिद्ध हुआ। प्रस्तावित हिन्दू कोडबिल में विलक्षण ढंग से इस दोष को दूर करने का प्रयत्न किया गया है। विवाह में उपजातियों की समानता के स्थान पर चार मुख्य वर्णों की समानता ही धार्मिक विवाह की आवश्यक शर्त रखी गई है। दीवानी विवाहों (Civil marriages) में यह शर्त नहीं है। किन्तु यदि कोई अन्तर्विवाह हो जाता है तो उसे धारा ७ (क) के अनुसार वैध मान लिया जाएगा।

विवाह के प्राचीन और अर्वाचीन रूप

विवाह की विधि के अनुसार विवाहों को विभिन्न श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। उदाहरण के लिए हिन्दुओं में प्राचीनकाल से विवाह के अनेक रूप प्रचलित रहे हैं। उनमें से अनेक तो विदेशों में प्रचलित विवाहों से खूब मिलते-जुलते हैं। सामान्यतः भारतीय शास्त्रकारों ने विवाहों को ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, गान्धर्व, आसुर, राक्षस और पैशाच नामक आठ श्रेणियों में विभक्त किया है। सुविधा के लिए इन्हें चार मुख्य भेदों में बांटा जा सकता है।

(१) **ब्राह्म-विवाह.** जब कन्या का पिता विद्वान् और आचारवान् वर को स्वयं बुला कर अपनी कन्या को वस्त्र तथा आभूषणों से अलंकृत कर उसे दान देता है, उसे ब्राह्म-विवाह कहते हैं। दैव, आर्ष और प्राजापत्य विवाहों में इससे कोई मौलिक भेद नहीं है।

(२) असुर-विवाह. यह विभिन्न देशों में 'खरीद कर विवाह' (Marriage by Purchase) से बहुत मिलता-जुलता है। जब कोई वर कन्या के लिए उसके माता-पिता को यथाशक्ति धन देने पर इच्छापूर्वक कन्या का ग्रहण करता है तो उसे आसुर विवाह कहते हैं।

(३) गान्धर्व-विवाह. आधुनिक पाश्चात्य देशों में यह अत्यन्त लोकप्रिय है। भारतवर्ष में भी एक जमाने में यह बहुत प्रचलित रहा है, यद्यपि बहुत लोग आज शायद इस पर विश्वास नहीं करेंगे। गान्धर्व-विवाह में कन्या और वर का इच्छापूर्वक संयोग होता है।

(४) राक्षस. इस विवाह की विभिन्न असभ्य जातियों में प्रचलित 'बलपूर्वक विवाह' (Marriage by Capture) से तुलना की जा सकती है। जब कन्या-पक्ष के लोगों का हनन करके, कन्या के घर की रक्षक दीवार आदि भेद करके, रोती और चिल्लाती कन्या को जबर्दस्ती घर से भगा लिया जाय तो उसे राक्षस-विवाह कहते हैं। राक्षस और पैशाच विवाह में कोई मौलिक भेद नहीं है।

उपर्युक्त सभी प्रकार के विवाह विस्तृत अर्थों में समस्त देशों में प्रचलित रहे हैं। हमारे यहां अत्यन्त पूज्य एवं महात्मा समझे व कहे जाने वाले भीष्मपितामह और श्रीकृष्ण आदि महापुरुषों ने स्वयं इन्हें किया है या करने में सहायता दी है। वास्तव में इनके नाम शास्त्रकारों की पसन्दगी और नापसन्दगी को जाहिर करते हैं। उन्होंने जिन विवाहों को उत्तम समझा उन्हें अच्छा नाम दिया और दूसरों को बुरा। भारतीय विवाह के इतिहासज्ञों का कहना है कि वैदिक युग से लेकर वात्स्यायन के समय तक भारत में आज के पाश्चात्य देशों की तरह युवक-युवती एक-दूसरे का अनुरंजन (Courtship) कर विवाह किया करते थे। किन्तु ८वीं शती से बाल-विवाह प्रचलित होने और स्त्रियों में शिक्षा का लोप होने के साथ-साथ यह समाप्त हो गया और बाद में केवल ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य विवाह ही बच रहे जिनमें कन्यादान आवश्यक अंश है। कन्यादान की प्रथा स्त्री के गिरते दर्जे की सूचक है। पिता की प्रभुता और नारियों की स्वतन्त्रता का अपहरण कन्यादान के प्रचलित होने के प्रमुख कारण थे।

कन्यादान विरोधी आधुनिक प्रवृत्तियां. आजकल उसी विवाह को श्रेष्ठ माना जाता है जिसमें वर-वधू की सम्मति हो। कन्या कोई गौ, बैल या अन्य जड़-पदार्थ नहीं है जिसका जड़-वस्तुओं की भांति दान किया जा सके।

१८वीं शती में योरोप में औद्योगिक क्रान्ति हुई। मैशीनों और उद्योग-धन्धों से समाज की बनावट बदलने लगी। संयुक्त परिवार प्रथा टूटने लगी। व्यक्तिवाद (Individualism) का जन्म हुआ। लड़के माता-पिता से पृथक् हो, आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र हो गए। पिता की प्रभुता घटने लगी। विवाह की आयु ऊंची होने लगी। इसलिए योरोप के सभी देशों में वर-वधू की सहमति से होने वाले विवाह अच्छे समझे जाने लगे। भारत में भी वही युग आ रहा है। परिवार का महत्त्व कम हो रहा है। पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव से, व्यक्तिवाद, स्वाधीनता और लोकतन्त्र के विचारों के प्रसार से पिता का महत्त्व कम होता जा रहा है। इस प्रकार पिता का अधिकार कम होने तथा बाल-विवाह की प्रवृत्ति कम होने से भविष्य में भारतीय समाज में माता-पिता की स्वीकृति के बिना प्रणय-विवाहों के अधिक बढ़ने की पूरी सम्भावना है। नये विवाह-कानूनों में इन विवाहों की वैधता को स्वीकार किया गया है।

दाम्पत्य अधिकार और कर्त्तव्य

विवाह द्वारा पति-पत्नी एक सूत्र में आबद्ध हो जाते हैं और एक साथ मिलकर गृहकार्यों का संचालन करने लगते हैं। इस अवस्था में दोनों के ही एक दूसरे के प्रति कुछ कर्त्तव्य और अधिकार उत्पन्न हो जाते हैं। प्राचीन काल में कर्त्तव्यो पर अधिक बल दिया गया है; आजकल अधिकारों की जोरदार मांग की जाती है। विभिन्न देशों और कालों में धार्मिक विश्वासों और आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों ने स्त्री-पुरुषों के अधिकारों में परिवर्तन पैदा किया है। कई जातियों में किसी एक को विशेष अधिकार प्राप्त हैं तो कई देशों में समान अधिकारों का बोलबाला है। भारतवर्ष में वैदिक युग में पति-पत्नी के अधिकार समान थे। नव-वधू घर की रानी समझी जाती थी। किन्तु ५वीं सदी तक उसे नौकरानी का दर्जा दिया जाने लगा। यह पतन गुप्तयुग तक पूर्ण हो चुका था। इस पतन के कई कारण थे।

यज्ञीय कर्मकाण्डों में अत्यधिक शुद्धि के विचार से स्त्रियों का शनैः शनैः यज्ञीय कार्यों से पृथक् किया जाना, युद्धों के कारण पुत्रों की कीमत का बढ़ जाना, स्त्री-शिक्षा का अभाव और बाल-विवाह स्त्रियों की गिरती अवस्था के लिए मुख्यतः उत्तरदायी थे।

दाम्पत्य अधिकारों के सम्बन्ध में निम्न प्रश्न विशेषतः विचारणीय हैं :—

(१) पति का पत्नी को दण्ड देने का अधिकार, (२) दाम्पत्य अधिकारों

की पुनः प्राप्ति,(३) व्यभिचारविषयक नियम, (४) सम्पत्तिसम्बन्धी अधिकार।

१. दण्ड देने का अधिकार. पति अपनी पत्नी को दो प्रकार से दण्ड दे सकता है—पीट कर या जुर्माना कर के। पुराने जमाने में प्रायः सभी पितृसत्ताक देशों में पतियों को यह अधिकार प्राप्त था। लोकतन्त्री इंग्लैंड में १८९१ तक पति पत्नी को पीट सकता था। १५वीं सदी में जर्मनी में एक कहावत थी "औरत और गधा दोनों पीटने के लिए होते हैं।" मध्य युग के रूस में वधू का पिता दामाद को एक कोड़ा देता था जो वधू के बिस्तर पर टांगा जाता था। पत्नी को कितना पीटा जाय यह पति की इच्छा पर निर्भर था। हमारे यहां भी कौटिल्य और मनु ने स्त्रियों को दण्ड देने का विधान किया है।

२. दाम्पत्य अधिकारों की पुनः प्राप्ति (Restitution of conjugal rights). विवाह हो जाने पर पति-पत्नी का यह अधिकार है कि वे परस्पर सहवास के सुख का उपभोग करें। उनमें से कोई एक दूसरे को इस अधिकार से वंचित करता है तो वह अधिकार का हनन है। आजकल इस अधिकार की प्राप्ति के लिए स्त्री-पुरुष अदालत में दावा दायर कर सकते हैं। यदि कोई पति अपनी पत्नी के विरुद्ध दावा दायर करता है तो स्त्री क्रूरता, भयंकर बीमारी और नपुंसकता के कारणों के आधार पर उसके साथ रहने से इन्कार कर सकती है और अदालत द्वारा पति से कानूनी त्याग भी पा सकती है।

३. व्यभिचारविषयक नियम. अधिकांश जातियों में विवाहित पति-पत्नी का एक-दूसरे को छोड़ पर-स्त्री या पर-पुरुष से सम्भोग अवैध माना गया है। और उसके लिए कठोर दण्डों का विधान किया गया है। इस मामले में भारतीय शास्त्रकारों ने स्त्रियों के प्रति कुछ नरमाई से काम लिया है। इसका मुख्य कारण उनका अबला समझा जाना है। जहां तक दाम्पत्य अधिकारों का सवाल है भारतवर्ष में स्त्रियों के अधिकार पुरुषों के तुल्य हैं, कुछ मामलों में उनके साथ विशेषता भी दिखाई गई है। व्यभिचारिणी होने पर उन्हें दण्ड नहीं दिया गया है और इस दशा में भी पति को आवश्यक रूप से उसका भरण-पोषण करना पड़ता है।

सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार. दाम्पत्य अधिकारों में साम्पत्तिक अधिकार का विशेष महत्व है। वास्तव में किसी परिवार में स्त्री-पुरुष के पद निर्धारण

में इस वात का वड़ा हाथ है कि उन्हें सम्पत्ति में क्या और कितने अधिकार प्राप्त हैं। भारतवर्ष में पिता या पति की सम्पत्ति में स्त्री का कोई अधिकार नहीं है। हमारे देश में स्त्रियों की गिरी अवस्था का यह एक वड़ा कारण है। आर्थिक दृष्टि से स्त्रियां पूरी तरह पर-तन्त्र हैं। यह कारण भी एक अंश में पिता या पति से असन्तुष्ट स्त्री को उनसे पृथक् होने से रोकता है। प्रस्तावित हिन्दु कोड विल में लड़कियों को लड़कों की भांति तुल्य सम्पत्ति का अधिकार प्रदान किया गया है। जहां एक अर्थ में स्त्री-पुरुषों के साम्पत्तिक अधिकार देश के कानून से निर्धारित होते हैं, वहां देश के कानून निर्माण में समाज की विद्यमान अवस्था का प्रवल प्रभाव होता है।

तलाक

पारिवारिक सुख दाम्पत्य जीवन का प्रधान उद्देश्य है। यदि दम्पति किन्हीं कारणों से उस सुख को प्राप्त नहीं कर सकते तो तलाक की अनुमति देकर उन्हें दुःखमय जीवन से छुटकारा दिया जा सकता है। अतः तलाक वैवाहिक असफलता की घोषणा और नया परिवार वनाने की अनुमति है। अधिकांश समाज और जातियों ने पति-पत्नी को तलाक का अधिकार दिया है, यद्यपि उनमें तलाक देने के कारणों में वहुत भिन्नता है। योरोप में, मध्ययुग में ईसाई मत के प्रभाव के प्रवल होने पर तलाक वन्द हो गया और वहां भी विवाह एक अविच्छेद्य सम्वन्ध समझा जाने लगा। १६वीं सदी की धार्मिक सुधारणा और १८वीं सदी की फ्रेंच राज्य क्रान्ति के वाद योरोपियन देशों में तलाक की प्रवृत्ति वढ़ने लगी। इंग्लैण्ड इस विषय में अनुदार था और १८५७ तक वहां पालियामेण्ट के कानून द्वारा ही तलाक प्राप्त किया जा सकता था। इस विल को पास कराने की प्रक्रिया वड़ी लम्वी और खर्चीली थी। इसलिए १७१५ से १८५५ तक के १४० वर्षों में केवल १८० व्यक्ति ही पूर्ण विच्छेद की अनुमति प्राप्त करने में सफल हो सके। इस्लाम में विवाह को एक ठेका माना गया है और तलाक की इजाजत है।

हिन्दुओं में यह आम विश्वास है कि विवाह एक अविच्छेद्य सम्वन्ध है। मृत्यु भी इसे भंग नहीं कर सकती। पर ऐतिहासिक अध्ययन से ज्ञात होता है कि यह धारणा सही नहीं है। दूसरी सदी तक यहां पुनर्विवाह हो सकता था। किन्तु वाद में हिन्दू समाज में स्त्रियों की दशा गिरती गई और उनसे यह अधिकार छिन गया। वैदिक युग में पति के मर जाने पर पत्नी को दूसरा विवाह करने का अधिकार निश्चित रूप से प्राप्त था। यदि पति-पत्नी का सम्वन्ध

अविच्छेद्य है तो पत्नी को यह अधिकार प्राप्त नहीं होना चाहिए। कौटिल्य अर्थशास्त्र में इसकी विस्तृत चर्चा है। प्रवासजनित परिस्थितियों में विवाह-विच्छेद के सम्बन्ध में उसने बहुत सुन्दर और न्यायपूर्ण विधान बनाया है। कौटिल्य यह अच्छी तरह समझता था कि यदि स्त्रियों को कुछ विशेष अवस्थाओं में, जब कि वे अपने पति से वियुक्त हो जाती हैं, पुनर्विवाह का अधिकार न दिया गया तो समाज में अधर्म और व्यभिचार बहुत बढ़ जायगा। कौटिल्य का स्पष्ट मत है कि नीच, प्रवासी, राजद्रोही, घातक, पतित और नपुंसक पति स्त्री के लिए त्याज्य हैं। यह नियम धर्म-विवाहों—अर्थात् ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष और दैव के ही लिए हैं। अन्य विवाहों के लिए यह अधिक उदार है। इन विवाहों में परस्पर द्वेष से ही कौटिल्य मोक्ष अर्थात् तलाक़ का अधिकार देता है। कौटिल्य विवाह को एक ठेका मानता है, जैसा कि आज कल पाश्चात्य देशों में माना जाता है। मध्य काल में स्त्री की अवस्था साथी के उच्च आदर्श से गिर कर दासी तक पहुंच गई। मनु ने तो पत्नी को यहां तक आदेश दिया कि चाहे उसका पति दुःशील, पर-स्त्रीगामी व गुणहीन ही क्यों न हो, पत्नी को उसकी देवता के समान पूजा करनी चाहिए। इस तरह धीरे-धीरे उच्च वर्गों में तलाक विस्मृत हो गया। हिन्दू-समाज के उच्च वर्ग में शास्त्रों द्वारा तलाक प्रथा का सर्वथा निषेध होने पर भी नीची जातियों में रिवाज के तौर पर तलाक पुराने जमाने से अब तक चला आ रहा है। बड़ौदा में सभी जातियों में तलाक की अनुमति है, किन्तु इसका प्रचलन प्रायः नीच जातियों में ही है। आसाम के खासियों में तलाक बहुत आम बात है। नेपाल में एक नेवार औरत अपने पति से असन्तुष्ट होने पर उसे किसी भी समय तलाक दे सकती है। अपने प्रस्थान की सूचना के चिह्न के रूप में वह अपने बिस्तर पर दो सुराहियां छोड़ जाती है। जहां तलाक आसानी से प्राप्त हो जाता है वहां स्त्रियों को पुनर्विवाह से प्रायः नहीं रोका जाता।

क्या हिन्दुओं में तलाक का विधान होना चाहिए?

हिन्दू समाज तलाक का घोर विरोधी है। इसके विरोध में दो युक्तियां दी जाती हैं—(१) यह शास्त्रविरुद्ध है, (२) इससे हिन्दू समाज में विवाह का बन्धन समाप्त हो जाएगा, अनैतिकता की वृद्धि होगी और समाज का विघटन हो जायेगा। जहां तक शास्त्र का सम्बन्ध है हमारे शास्त्रकार कुछ अवस्थाओं में स्त्री को पुनर्विवाह का पूरा अधिकार देते हैं। अतः यह कहना ठीक नहीं कि तलाक शास्त्र विरुद्ध है। छठी शती के बाद से ही विधवा

विवाह के साथ-साथ स्त्रियों के पुनर्विवाह का अधिकार जाता रहा और उसी समय से शास्त्र ने इसकी निन्दा की।

समाज के विघटन का भय और अनैतिकता की वृद्धि महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं। यह एक कटु सत्य है कि हमारे समाज ने विधवाओं से पुनर्विवाह का अधिकार छीन कर बड़े पैमाने पर व्यभिचार की वृद्धि की है। स्वस्थ और शक्तिसम्पन्न स्त्रियों को जबर्दस्ती विषयी, दुर्बल और नपुंसक पतियों के साथ उनकी इच्छा के विरुद्ध बांध हम समाज में सदाचार की वृद्धि की आशा नहीं कर सकते।

पश्चिमी देशों में विवाहविच्छेद की बढ़ती हुई प्रवृत्ति को देखकर प्रायः यह कहा जाता है कि यदि हिन्दू समाज में तलाक जारी हुआ तो समाज का संगठन बिल्कुल शिथिल और विश्रृङ्खल हो जायगा। प्रथम तो, जिन पाश्चात्य देशों में तलाक की अनुमति है उनमें भी इसके कारण परिवार-प्रथा विश्रृङ्खल नहीं हुई है और न ही उसके कोई आसार नज़र आते हैं। जो व्यक्ति किसी ऐसे परिवार से परिचित हैं जहाँ पति-पत्नी का जीवन एक दूसरे के कारण दूभर है, तलाक की उपादेयता को अच्छी तरह स्वीकार करेंगे। परिवार के सदस्यों का सौहार्द ही उसकी शक्ति है। जैसे ही वह नष्ट हुआ बाहर से अविभक्त दीखते हुए भी परिवार अन्ततः नष्ट हो जाता है। अतः किसी समाज में तलाकों का न होना, जबकि वहां इसकी इजाज़त नहीं है, पारिवारिक संगठन की उपयुक्तता को व्यक्त नहीं करता। बहुत बार तलाक परिवार का शत्रु न हो उसका संरक्षक साबित होता है। तलाक जहां दुखी परिवारों को तोड़ने में किसी प्रकार की दया नहीं दिखाता, वहां सुखी परिवारों पर वह किसी प्रकार का प्रभाव नहीं डालता और न ही उन्हें तोड़ने का कोई प्रोत्साहन पैदा करता है।

तलाक की उपयोगिता. उत्तम सन्तान की उत्पत्ति और उसके उत्तम पालन-पोषण के उद्देश्य को दृष्टि में रखते हुए कई बार ऐसी अवस्था उत्पन्न हो जाती है कि तलाक की व्यवस्था जरूरी हो जाती है। पुराने हिन्दू धर्म-शास्त्रों ने भी इसीलिए पति के निश्चित अवधि से अधिक समय तक विदेश में रहने, नपुंसक होने, पतित होने, संन्यासी व मृतक होने की दशा में स्त्री के पुनर्विवाह की व्यवस्था की थी। इन अवस्थाओं में उसे दूसरा विवाह करने की आज्ञा होनी चाहिए, अन्यथा समाज में व्यभिचार बढ़ने की पूरी संभावना है। हिन्दू समाज में पुरुषों को अधिवेदन, अर्थात् एक पत्नी के रहते, दूसरी स्त्री से

व्याहने का अधिकार है, किन्तु पत्नी पति के नपुंसक, क्रूर या दुर्व्यवहारी होने पर अधिक से अधिक यही कर सकती है कि वह उससे पृथक् रहे। इस अन्याय के प्रतिकार के दो ही उपाय हैं—(१) पुरुषों के दूसरे विवाह के अधिकार को सीमित किया जाय, (२) स्त्रियों को तलाक का अधिकार दिया जाय।

यह सन्तोष का विषय है कि प्रस्तावित हिन्दूकोडबिल में पुरुषों से बहु-विवाह का अधिकार छीन लिया गया है। पर एक विवाह होने पर भी बहुत से ऐसे पति हो सकते हैं जो अपनी स्त्रियों से अमानुषिक पाशविकता और क्रूरता का व्यवहार करें। आज भी दुर्भाग्य से हिन्दू समाज में ऐसे पतियों की संख्या कम नहीं है जो अपनी पत्नियों को राक्षसों की तरह डंडों से पीटते और ज़मीन पर पटकते हैं। वर्तमान हिन्दू कानून के अनुसार ऐसी स्त्री पति से पृथक् रह कर, उससे वृत्ति प्राप्त कर सकती है। जब उसका पति से पृथक् रहने का अधिकार मान लिया गया है तो उसे तलाक का अधिकार देने में क्या हानि है? वह पृथक् तो हो चुकी है, अब यदि वह अपने जीवन को सुखमय बनाने के लिए किसी दूसरे व्यक्ति से विवाह करना चाहती है तो उसे विवाह की आज्ञा क्यों न दी जाय?

मैं इस से सहमत हूं कि हिन्दुओं में स्त्रियों को ही तलाक का अधिकार मिलना चाहिए, इसका निम्न कारण है। हिन्दू समाज में इस समय तक यह विचार बहुत प्रबल है कि एक बार विवाहित स्त्री के साथ दुबारा विवाह नहीं करना चाहिए। विधवा पुनर्विवाह का कानून पास हुए ८८ वर्ष हो गये पर उपर्युक्त धारणा के कारण बहुत कम विधवाओं का पुनर्विवाह हो पाया है। पुरुषों को यदि तलाक का अधिकार दिया गया तो वे तलाक देकर नई विधवाओं की सृष्टि कर डालेंगे, जो तलाक के कारण पति से वृत्ति पाने की हकदार न होंगी और नया पति उन्हें जल्दी से मिलना नहीं। ऐसी स्त्रियां या तो भूखी मरेंगी या पेट भरने के लिए अपने सतीत्व को अपनी आजीविका का साधन बनाएंगी।

स्त्रियों को तलाक का अधिकार देने से पति तलाक के भय के कारण स्त्री पर उतनी निर्भयता से वह अत्याचार नहीं कर सकेंगे, जो आजकल करते हैं। इससे समाज में स्त्रियों की स्थिति उन्नत होगी। तलाक के अधिकार से यह आशंका करना सर्वथा निर्मूल है कि तलाकों की संख्या बढ़ने से हिन्दू परिवार-संस्था नष्ट हो जायगी। यह खतरा उस समय अवश्य बढ़ सकता है जब स्त्रियां आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी हों। भारत में इस समय स्त्रियों के लिए स्वतन्त्र आजीवका के साधन बहुत कम हैं। उसके लिए जीविका का सबसे

बड़ा साधन यही है कि वह किसी व्यक्ति की पत्नी हो जाय, उसके घर का काम करे और व्यक्ति उसका भरण-पोषण करे, अतः स्त्रियों को तलाक का अधिकार देने से परिवार-संस्था को कोई संकट नजर नहीं आता।

यह सत्य है कि जब तक स्त्रियों को आर्थिक स्वतन्त्रता नहीं मिलती, वह तलाक का पूरा उपयोग नहीं कर सकती। आर्थिक दृष्टि से परतन्त्र स्त्री का अपने पति को तलाक देना चूल्हे से निकल कर भाड़ में गिरना होगा। किन्तु हमें स्त्रियों के इस अधिकार की मांग को इसलिए अस्वीकृत नहीं करना चाहिए कि इसका बहुत कम उपयोग होगा। विधवा पुनर्विवाह बहुत कम हुए हैं, किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि विधवा-विवाह का कानून नहीं बनना चाहिए था।

धीरे-धीरे हिन्दू समाज तलाक की आवश्यकता को स्वीकार कर रहा है। बड़ौदा में तलाक कानून बन चुका है। मालाबार मैरिज एक्ट भी मरुमकथयम और अलिमसन्ताना मानने वालों को तलाक की अनुमति देता है।

नये हिन्दू विधान में तलाक व्यवस्था

इसमें तलाक की व्यवस्था है पर इसकी शर्तें बड़ी कठोर हैं ताकि इनका दुरुपयोग न किया जा सके। इस विधान के अनुसार तलाक निम्न अवस्थाओं में जायज़ समझा जायगा : (१) प्रतिवादी असाध्य रूप से पागल हो और सात वर्ष तक निरन्तर चिकित्सा करने पर भी अच्छा न हुआ हो। (२) प्रतिवादी कोढ़ की भयंकर और असाध्य बीमारी से पीड़ित हो और यह बीमारी उसने वादी से ग्रहण न की हो। (३) वादी ने प्रतिवादी का सात वर्ष से सहवास परित्याग (Desertion) किया हो। (४) प्रतिवादी दूसरे धर्म का अवलम्बत कर चुका हो। (५) प्रतिवादी कम से कम ७ वर्ष से किसी ऐसी कुप्रसंगज व्याधि (Venereal Disease) से पीड़ित हो, जो संसर्ग से दूसरे को हो सकती है। (६) प्रतिवादी यदि पति है और उसने कोई रखैल रखी हुई है। (७) प्रतिवादी यदि पत्नी है किन्तु वह दूसरे व्यक्ति की रखैल है या वेश्या का जीवन बिताती है।

ये शर्तें इतनी कड़ी हैं कि इनसे हिन्दू परिवार के विशृङ्खल होने की किसी प्रकार की सम्भावना या आशंका नहीं की जा सकती। यहां तक कि इसमें क्रूरता तक को, जिसके दुरुपयोग की सम्भावना थी, छोड़ दिया गया है।

अमरीका में तलाक

संसार में अमरीका जहां सबसे समृद्धतम देश के रूप में प्रसिद्ध है वहां

वह सबसे अधिक तलाक वाला देश के नाम से भी ज्ञात है। अमरीका में परिवार की संस्था बड़ी अस्थिर अवस्था में है। पहले वहां कभी न इतने तलाक हुए और न इतने त्याग। जब कभी परिवार में विरोध उत्पन्न होता है, पैसे वाले अक्सर तलाक और गरीब अधिकतर पलायन का सहारा लेते हैं। १६१६ की एक पड़ताल के अनुसार अमरीका के पांच राज्यों के छः कस्बों में उस साल विवाह से तलाक अधिक हुए। १६३० में प्रत्येक छः विवाहों के पीछे एक तलाक होता था। १६४६ में यह चार विवाहों के पीछे एक था।

एक साल के कुल विवाहों से एक साल के तलाकों की तुलना वस्तुतः भ्रामक है। वास्तव में किसी वर्ष के तलाकों की संख्या की तुलना कुल विवाहों की संख्या से की जानी चाहिए। क्योंकि तलाक समस्त पहले विवाहों में से होते हैं, न कि उन्हीं विवाहों में से जो कि उस साल हुए हैं। इसके अनुसार १२५ विवाहों में से प्रति वर्ष एक विवाह भंग होता है। विवाह-विच्छेद की दर गांवों की तुलना में शहरों में अधिक है और बच्चेवाले दम्पतियों की तुलना में बिना बच्चेवाले दम्पतियों में तलाक की दर चौगुनी है। पारिवारिक कर्त्तव्य और अधिकार विवाह बन्धन को तोड़ने में ब्रेक का काम करते हैं। तलाक की दर धर्मानुसार भी बदलती है। धार्मिक प्रतिबन्ध तलाकों को रोकने में बहुत प्रबल हैं। यहां हमें दो अतियों का साक्षात् होता है। एक वर्ग विवाह को लौह बन्धन मानता है और दूसरा वर्ग खिलवाड़। लगभग दो तिहाई तलाक स्त्रियों की प्रार्थना पर स्वीकृत हुए हैं। यह स्त्रियों की बढ़ती हुई स्वतन्त्रता का द्योतक है।

अदालतों में तलाकों के लिए दिये कारण प्रायः भ्रामक होते हैं। प्रतिकूलता और विषमता इनमें से मुख्य हैं। बोगार्डस के अनुसार इसका मुख्य कारण विवाह को बहुत हलके तौर से देखा जाना है। कुछ वर्गों विशेषकर अतिधनी और अतिनिर्धन वर्गों में उन सामाजिक गुणों का अभाव पाया जाता है जो पारिवारिक स्थिरता के लिए आवश्यक हैं। तलाकनियमों के अधिकाधिक ज्ञान ने पारिवारिक अस्थिरता को और भी बढ़ा दिया है।

यद्यपि अमरीका में तलाक की दर बढ़ रही है, पर साथ ही विवाह की दर भी बढ़ रही है। ई० रौस के अनुसार अमरीका की जनता आज जितनी कभी भी विवाहित नहीं रही है। लोग पहले से अधिक विवाह कर रहे और तलाक दे रहे हैं। वास्तव में यदि हम विस्तृत रूप से विचार करें तो हम

देखेंगे कि सामाजिक जीवन के अन्य किसी पहलू की तुलना में परिवार सबसे कम अस्थिर है।

आधुनिक परिवार में व्यक्तित्व का विकास

यौन सुख और संतानोत्पत्ति के अतिरिक्त व्यक्तित्व का विकास भी परिवार का मुख्य कार्य है। यह कार्य दोहरा है, एक का सम्बन्ध पति-पत्नी से है और दूसरे का माता-पिता और बच्चों से। पति-पत्नी किस भांति आपस में निभाते और माता-पिता किस भांति अपने बच्चों के व्यक्तित्व को विकसित करते हैं, इस सम्बन्ध में आजकल बहुत दिलचस्पी बढ़ रही है। इस बात को इस तरह भी व्यक्त किया जा सकता है कि पति-पत्नी का परस्पर सम्बन्ध सुख का सम्बन्ध है जबकि माता-पिता और बच्चों का विस्तृततम अर्थों में शिक्षा का। यह वक्तव्य किसी अंश तक अवश्य अधूरा है, क्योंकि परिवार, इसके अतिरिक्त कुछ आर्थिक, सुरक्षा और मनोरंजन के कार्यों को भी सम्पादित करता है। किन्तु यह वक्तव्य निःसंदेह उस प्रवृत्ति का परिचायक है जिस ओर हम बढ़ रहे हैं। आज विवाह की समस्याएं हैं—(१) पति-पत्नी को सुखी बनाना, (२) बुद्धिमान् माता-पिताओं का निर्माण करना जो कि बच्चों को सुखी और स्वास्थ्यकर बचपन प्रदान कर सकें।

सुखी विवाहों की संख्या

किसी भी समाज के लिए यह प्रश्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि उसके कितने परिवार सुखी हैं। भारतवर्ष में इस सम्बन्ध में कुछ आंकड़े संग्रह करने का अभी तक कोई प्रयत्न नहीं किया गया है। विदेशों में अवश्य दाम्पत्य सुख को मापने के प्रयत्न किये गये हैं। इनसे कुछ मनोरंजक तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है। बरजस कार्टल ने अमरीका के दाम्पत्य जीवन का अध्ययन कर यह बताया कि वहां विवाहितों का पांचवां भाग अत्यन्त दुःखी है जबकि दो तिहाई अति सुखी या सुखी हैं। दूसरा अन्वेषक टरमेन भी लगभग इसी नतीजे पर पहुंचा है। उसने अपने अध्ययन में दो अधिक विशेषण—असाधारण सुखी और असाधारण दुःखी—प्रयुक्त किये हैं। यह द्रष्टव्य है कि ३० प्रतिशत दम्पति असाधारण सुखी और १ प्रतिशत असाधारण दुःखी हैं। उपर्युक्त तथ्य क्या इस बात की ओर संकेत नहीं करता कि सामान्य स्त्री-पुरुषों के लिए अपने जीवन को सुखी बनाने का विवाह एक उत्तम साधन है?

वैवाहिक जीवन में विषाद के कारण

सुखी परिवार किसी भी स्वस्थ समाज का आदर्श है। परिवारों को

कैसे सुखी बनाया जाय यह एक बड़ी सामाजिक समस्या है। उसका हल ढूंढने से पहले यह बेहतर है कि हम उन कारणों की खोज करें जो कि वैवाहिक जीवन में कड़वाहट और दुःख की सृष्टि करते हैं। अमरीका में इस सम्बन्ध में मनोरंजक खोज हुई है। टरमेन ने अपने अध्ययन में उन पैंतीस आम कारणों की एक फहरिस्त तैयार की है जिनकी कि प्रायः पति-पत्नी शिकायत करते हैं। इन शिकायतों का पति--पत्नियों के लिए कितना महत्त्व और गंभीरता है, यह उनके क्रम द्वारा व्यक्त किया गया है।

पतियों की शिकायतों का साधारण क्रम यह है—स्नेहशील नहीं, स्वार्थी और लापरवाह, बहुत शिकायत करने वाली, तेज मिजाज, घमंडी, अविश्वसनीय, आलोचक, संकीर्ण हृदय, तर्क-वितर्क करने वाली, बच्चों को बिगाड़ने वाली, आय का नियन्त्रण नहीं करती, सास, श्वसुर, साले, सालियां, अपर्याप्त आय, नर्वस और भावुक, दूसरों से प्रभावित, ईर्ष्यालु, आलसी, मनोरंजनरत, बहुत बातून, दोस्तों का चुनाव, दूसरे आदमियों में अभिरुचि, स्वतन्त्रता की कमी, परम्पराओं का आदर, बौद्धिक शौक, मदपान के प्रति धारणा, परपुरुषगामी, वफादार नहीं, धार्मिक विश्वास, शिक्षा, कसमें खाना, खाने-पीने का स्वाद, स्त्री की अधिक उम्र, धूम्रपान, मदपान, कम उम्र।

पत्नियों की शिकायतों का साधारण क्रम है—स्वार्थी और लापरवाह, झूठा, तर्क-वितर्क करने वाला, बहुत शिकायत करने वाला, स्नेहशील नहीं, नर्वस और बेसब्र, अविश्वसनीय, आय का प्रबन्ध न करने वाला, आलोचक, वफादार नहीं, आलसी, सास-श्वसुर-साले-सालियां, दूसरों से प्रभावित, संकीर्ण हृदय, अपर्याप्त आय, दूसरी औरतों में अभिरुचि, मनोरंजन और दिल बहलाव, तेज मिजाज, मदपान के प्रति धारणा, बौद्धिक शौक, परम्पराओं के प्रति आदर, घमंडी, दोस्तों का चुनाव, बच्चों को बिगाड़ने वाला, स्वतन्त्रता की कमी, बहुत बातूनी, धार्मिक विश्वास, ईर्ष्यालु, कसम खाता है, मद्यप, शिक्षा, पति की उम्र अधिक, खाने-पीने के स्वाद, धूम्रपान, उम्र में कम।

उपर्युक्त उत्तर बुनियादी कारणों, जैसे कि व्यक्तित्व की कमी अथवा यौन अतृप्ति के बजाय, अन्तर्हित समस्याओं के अंशतः लक्षण और अंशतः व्यक्तियों के बौद्धिक उत्तर हैं। इन शिकायतों की सूची और क्रम देश, काल, सामाजिक वर्ग, पेशे और परम्परा के अनुसार बदलता रहेगा। इनमें से बहुत सी शिकायतें किन्हीं भी दो साथ में रहने वाले व्यक्तियों के सम्मुख उपस्थित हो सकती हैं, चाहे वह समलिंगी ही क्यों न हों। लेकिन विवाह तो नर-नारी

की एक साहचर्य-समिति है; अतः विवाहसम्बन्ध में काम-प्रवृत्ति का भी मुख्य स्थान होना चाहिए। जिन लोगों ने तलाक दिये पति-पत्नियों का अध्ययन किया है उनका कहना है कि उनके विच्छेद में काम-सम्बन्धी कठिनाइयां सर्वदा या प्रायः सर्वदा ही कायम रहती हैं।

दूसरे, मानव प्राणियों में काम केवल एक शारीरिक प्रतिक्रिया-मात्र नहीं जिस पर कि शिक्षा का कोई प्रभाव न हो, जैसा कि पशुओं में होता है, प्रत्युत यह काम-अनुभव विभिन्न सामाजिक और साँस्कृतिक कारणों से नियंत्रित होता है। यदि विवाह में काम-पहलू असफल है; यह असफलता मानसिक और सांस्कृतिक कारणों से हो सकती है जो कि काम-प्रवृत्ति की तृप्ति के मार्ग में वाधा पहुंचाते हैं। शारीरिक प्रकार के काम-विरोध प्रायः विरल ही होते हैं। वरजस और कार्टल का कहना है कि "अधिकांश दम्पतियों में, काम-तृप्ति प्राणिक तथ्यों का उतना परिणाम नहीं होती जितना कि मनः-प्राणिक (Psychogenetic) विकास और काम के प्रति उनकी धारणाओं के सांस्कृतिक नियंत्रण का परिणाम होती है।" वहुत कुछ ऐसा ही मत लेवी और हैरियट मौरियर का है जो कि विवाह के काम-पहलू को दो व्यक्तियों के व्यक्तित्व के समीकरण का परिणाम मानते हैं। इस दृष्टिकोण के अनुसार, दाम्पत्य सुख में व्यक्तित्व प्रायः अकेला सवसे अधिक जटिल पहलू माना जाता है। व्यक्तित्व वास्तव में आदतों का एक जटिल मिश्रण है, जो कि हमें स्वस्थ या सनकी, संतुलित या विकृत वनाता है।

सुखी विवाहित दम्पतियों का व्यक्तित्व

व्यक्तित्व एक वहुत विस्तृत और जटिल वस्तु है। फिर भी टरमेन ने व्यक्तित्व की उन विशेषताओं को वताने की चेष्टा की है जो वैवाहिक सुख को प्रभावित करती हैं। उन्होंने अपनी खोजों को संक्षेप में चलती भाषा में व्यक्त किया है। यद्यपि यह भाषा वैज्ञानिक नहीं, फिर भी उससे हमें सुखी और दुःखी दम्पतियों के व्यक्तित्व का अच्छा परिचय मिलता है।

"**सुखी विवाहित स्त्रियां**: वर्गरूप में, दूसरों के प्रति दयामय व्यवहार और वदले में दूसरों से दयामय व्यवहार की आशा से पहचानी जाती हैं। वह आसानी से नाराज़ नहीं होतीं, और इस वात की व्यर्थ चिन्ता नहीं करतीं कि वह दूसरों पर कैसा प्रभाव डालती हैं। वह सामाजिक सम्वन्धों को प्रतिद्वन्द्वी परिस्थितियां नहीं समझतीं। वह सहयोगी होती हैं, गौण काम करने में आपत्ति नहीं करतीं, दूसरों की सलाह से खिज नहीं उठतीं। लगन और सेवा-प्रवृत्तियां प्रायः उनके व्यवहार में परिलक्षित होती हैं। वह उन कार्यों में आनन्द लेती

हैं जिनसे कि दूसरों को शिक्षा और मनोरंजन का अवसर मिलता है, तथा पराश्रित और उपेक्षितों के लिए कुछ करना चाहती हैं। वह अपने काम में नियमबद्ध और मेहनती होती हैं, छोटी-छोटी बातों का ध्यान रखती हैं, और रुपये पैसे के मामले में सावधान होती हैं। धर्म, नैतिकता, और राजनीति में वह अपरिवर्तनवादी और परम्पराप्रिय होती हैं। उनकी व्यक्तिगत धारणाओं में आत्म-विश्वास और जीवन के प्रति एक निश्चित आशावादी दृष्टिकोण अन्त-र्हित होता है।

"दुःखी विवाहित स्त्रियां. इसके विपरीत, भावनाओं के तनाव और मिजाज के उतार-चढ़ाव से पहचानी जाती हैं। वह गहरी हीन भावनाओं की साक्षी देती हैं जिनके प्रति उनकी प्रतिक्रिया भीति की न हो कर आक्रमणात्मक धारणाओं में होती है। उनकी चिढ़ने और हुक्म देने की प्रवृत्ति होती है। अथक परिश्रम में परिणत क्षतिपूरक प्रक्रिया उनमें आम है। यह चीज दुःखी पत्नियों के व्यवहार में आक्रमणात्मक और सामाजिक जीवन में अतिव्यग्रता की प्रवृत्ति में दिखाई देती है। वह अपनी परिचिति के क्षेत्र को बढ़ाने में प्रयत्नशील होती हैं, किन्तु वह पसन्द होने के बजाय मशहूर होने के लिए अधिक चिन्तित होती हैं। वह स्वकेन्द्रित होती हैं और परोपकारी और कल्याणकारी कार्यों में, सिर्फ उस स्थिति को छोड़ कर जब कि उन्हें व्यक्तिगत प्रशंसा का अवसर मिले, अधिक अभिरुचि नहीं रखतीं। वह ऐसे कार्यों को पसन्द करती हैं जिनमें प्रेम में पड़ने के अवसर मिलते हों। उनका व्यवहार स्त्रियों के प्रति पुरुषों की अपेक्षा अधिक नरम होता है और उनमें वह काम-विरोध बहुत कम दिखाई देता है जैसा कि दुःखी विवाहित पुरुषों में प्रदर्शित होता है। वह बेसब्र होती हैं, मनमौजी काम करती हैं, सावधान और बातरतीब लोगों को नापसन्द करती हैं और उस तरह के कामों को नापसन्द करती हैं जिनमें तरतीब और मेहनत की ज़रूरत पड़ती है। राजनीति, धर्म, और सामाजिक आचार में वह सुखी विवाहित स्त्रियों की तुलना में अधिक क्रान्तिकारी होती हैं।"

सुखी और दुःखी पत्नियों की टरमेन ने उपर्युक्त तसवीर खींची है। उसने सुखी और दुःखी पतियों के व्यक्तित्व का निम्न वर्णन किया है।

"सुखी विवाहित पुरुष. सम और संतुलित स्वभाव का परिचय देते हैं। दूसरों के प्रति उनकी विशेष प्रतिक्रिया सहयोग की होती है। यह बात उनके अपने व्यापारिक अधिकारियों, जिनके साथ कि वह अच्छी तरह कार्य करते हैं, के प्रति उनके व्यवहार में, स्त्रियों के प्रति उनकी धारणाओं में, जो कि समानतावादी आदर्शों को

व्यक्त करती हैं,तथा अपने से नीचे और उपेक्षितों के प्रति उनके दयामय व्यवहार में प्रतिबिम्बित होती है। लोगों की सभा में वह अनात्म-विस्मृत और कुछ बहिर्मुखी से नज़र आते हैं। दुःखी पतियों की तुलना में वह श्रेष्ठ कार्यप्रवृत्ति, उत्तरदायित्त्व की अधिक भावना तथा अपने दैनिक कार्य की तफसीलों में अधिक ध्यान देने की लगन दिखाते हैं। वह क्रमबद्ध कार्यविधि और बातरतीब लोगों को पसन्द करते हैं। रुपये पैसे के मामलों में वह किफायतशार और सावधान होते हैं। अक्रान्तिकर धारणाएं उनकी खास विशेषताएं हैं। धर्म के प्रति प्रायः उनका रुख अच्छा होता है। तथा वह यौननैतिकता और अन्य सामाजिक परम्पराओं का दृढ़ता से समर्थन करते हैं।

"दुःखी पति. इसके विपरित सनकी और नर्वस होते हैं। वह सामाजिक हीनता की भावनाओं से ग्रस्त होते हैं, जनता में प्रमुख होना नापसंद करते हैं, तथा सामाजिक मत से बहुत प्रभावित होते हैं। सामाजिक असुरक्षा की इस भावना की क्षतिपूर्ति वह उन सम्बन्धों में जहां वह अपने को श्रेष्ठ अनुभव करते हैं, प्रभुत्त्व के प्रदर्शन से करते हैं। वह अपने व्यापारिक आश्रितों और स्त्रियों पर हुक्म चलाने में आनन्द लेते हैं, और ऐसी परिस्थिति से हट जाते हैं जहां उन्हें गौण काम करना पड़े अथवा श्रेष्ठों से प्रतियोगिता करनी पड़े। वह इस हटने की क्षतिपूर्ति दिन के सपनों और शक्ति के हवाई किलों से करते हैं। सुखी पतियों की तुलना में वह अपने कार्य करने की आदतों में प्रायः अस्तव्यस्त और अव्यवस्थित होते हैं, व्यवस्थित प्रवृत्ति और तफसील को नापसंद करते हैं, रुपया बचाना नापसंद करते हैं, और बाज़ी लगाना पसंद करते हैं। वह प्रायः अधार्मिक प्रवृत्तियां व्यक्त करते हैं और यौन सम्बन्धों और राजनीति में क्रान्तिवाद की ओर झुके होते हैं।"

टरमेन का विवाह सिद्धान्त

टरमेन ने अपना वैवाहिक सुख का सिद्धान्त निम्न शब्दों में व्यक्त किया है।

"हमारा सिद्धान्त है कि विवाह से जो कुछ आता है वह इस पर निर्भर करता है कि उसमें क्या जाता है, और जानेवाली चीज़ों में सबसे महत्त्वपूर्ण चीज़ें, वह धारणाएं, पसंदगियां, नापसंदगियां, आदतें और भावात्मक प्रतिक्रियायें हैं जो कि किसी को अनुकूलता प्रदान करती हैं या उससे वंचित करती हैं। दूसरे शब्दों में हम विश्वास करते हैं कि बेमेल विवाहों का अधिक अनुपात पति या पत्नी या दोनों में, दुःख के प्रति उनकी पूर्वधारणा के कारण है। चाहे प्रवृत्ति से, चाहे

पोषण से, ऐसे व्यक्ति पाए जाते हैं जिनमें कि अनुकूलता स्थापित करने के गुण की कमी होती है। ऐसे व्यक्ति विवाह में सुख पाने में असमर्थ हैं। ऐसे भी व्यक्ति है, जो कम विरोधी हैं, जो कि अत्यन्त अनुकूल परिस्थितियों में इसे प्राप्त कर सकते हैं; और कुछ अन्य व्यक्ति ऐसे हैं, जिन्हें, जीवन के प्रति उनकी धारणा और दृष्टिकोण, चाहे वह कितने ही प्रतिकूल विवाहित क्यों न हों, उन्हें अत्यन्त दुःख से संरक्षित रखेगा।"

वैवाहिक सफलता या असफलता की पूर्वोक्ति

क्या किसी दम्पति के वैवाहिक भविष्य की पूर्वोक्ति की जा सकती है, यह एक महत्त्वपूर्ण और मनोरंजक प्रश्न है। विदेशों में इस के सम्बन्ध में कुछ गवेषणा हुई है। वरजस और लॉक ने "विवाह पूर्वोक्ति अनुसूची" का निर्माण किया है। इसमें तीन भागों में विभक्त सत्तावन मदें हैं, और स्वास्थ्य, शिक्षा, पेशे, धार्मिक विश्वास और कार्य, अवकाश के कार्य, विवाह में माता-पिता के सुख, वह वर्ग जिसमें विवाह के इच्छुक व्यक्ति निवास करते हैं, बच्चे होने के प्रति उनकी धारणा, यौन प्रवृत्ति के सम्बन्ध में सूचनाएं, रुपये पैसे के मामले में दोनों के विचार, प्रीति का प्रदर्शन, मित्र, जीवन दर्शन, तथा अन्य इक्कीस व्यक्तित्व के गुणों का समावेश है। इस अनुसूची के साथ अंकप्राप्ति के लिए हिदायतें दी हुई होती हैं। इसी भांति वरजस और लॉक ने एक "विवाह व्यवस्थापन फार्म" भी दिया है।

विद्वानों का विचार है कि विवाह को सफल बनाने और बिगाड़ने वाले गुण बहुत अंशों में व्यक्तियों में विवाह से पहले ही विद्यमान होते हैं। जहां सास-श्वसुर, साले-साली और जायदाद के झगड़े होते हैं वहां कुछ प्रकार के व्यक्तियों के लिये तो वह बहुत ही विनाशात्मक सिद्ध होते हैं; और अधिकांश अवस्थाओं में तो विवाह से पहले ही बहुत अंशों में व्यक्तित्व का निर्माण हो जाता है।

विभिन्न खोजों का विशेष महत्वपूर्ण परिणाम तो यह है कि सुखी परिवार में सुखी बचपन, सुखी विवाह के लिए बहुत सहायक है। अधिकांश अन्वेषकों का यह भी मत है कि उच्च शिक्षा विवाह को सुखी बनाने में मदद पहुंचाती है। वरजस और कार्टल के कथनानुसार सुखी विवाह उन व्यक्तियों में अधिक पाये जाते हैं जो तरुणावस्था में अधिक सामाजिक रहे हों, जिन्होंने संस्थाओं, क्लबों और स्कूलों के कार्यों में हिस्सा लिया हो, और जिनके बहुत दोस्त हों। माता-पिताओं से स्नेह भी अच्छा चिन्ह माना गया है।

बच्चों का व्यक्तित्व

पति-पत्नी को सुख पहुंचाने के अतिरिक्त बच्चों का उत्तम पालन-पोषण भी परिवार का मुख्य उद्देश्य है। कुछ विचारकों की राय में तो दूसरा कार्य अधिक महत्वपूर्ण है। वास्तव में यह दोनों कार्य एक दूसरे से घनिष्ठतया सम्बन्धित हैं। एक सुखी पति-पत्नी ही बच्चों के पालन-पोषण के लिए अनुकूल वातावरण उत्पन्न कर सकते हैं। इस पर सब एकमत हैं कि बचपन के प्रारम्भिक वर्षों का व्यक्तित्व के निर्माण में जबर्दस्त हाथ होता है। बच्चे के यह प्रारम्भिक वर्ष अधिकतर माता-पिता, धाय, भाइयों, बहनों और परिवार से सम्बद्ध खेल के साथियों के सम्पर्क में गुजरते हैं। अतः पारिवारिक वातावरण एक युवक-युवति के व्यक्तित्व के निर्माण में सबसे अधिक महत्त्व रखता है।

अच्छा पारिवारिक वातावरण क्या है ?

हम कैसे जान सकते हैं कि अच्छा पारिवारिक वातावरण कैसा है? इसका एक सुगम तरीका यह है कि हम सुखी और दुःखी बच्चों की पारिवारिक पृष्ठभूमि का अध्ययन करें। निःसंदेह सुखी परिवार वही है जो कि सुखी बच्चे तैयार करता है न कि दूसरा। टरमेन ने अपने अध्ययन में भी यह बात देखी कि सुखी बच्चे प्रायः सुखी पति-पत्नी सिद्ध होते हैं। वैवाहिक सुख के लिए माता-पिता और बच्चों में परस्पर स्नेह सम्बन्ध, भी एक अनुकूल कारण है। यह दो तरह से व्यक्त होता है। एक तो माता-पिता और बच्चों के बीच में कोई मौलिक विरोध नहीं है। दूसरे बच्चे और माता-पिता एक दूसरे के सामने अपना दिल खोलकर रख देते हैं। एक अन्य अध्ययन के अनुसार बच्चों के लिए एक अच्छा पारिवारिक वातावरण वह है जो कि उन्हें माता-पिता के स्नेह और संरक्षण पर आधारित उनकी भावुकता को संतुष्ट करने वाला सम्बन्ध प्रदान करता है। अल्प-संरक्षण और अल्प-स्नेह बच्चे के अन्दर असुरक्षा और हीनता की भावना को जन्म देते हैं, और इस तरह कई बार क्षतिपूर्ति के लिए बच्चे को समाज विरोधी कार्यों में प्रवृत्त होने को बाध्य करते हैं। उदाहरण के लिए, एक ही परिवार के दो अपराधी और निरपराधी बच्चों के तुलनात्मक अध्ययन से पता चला कि उनमें से पहला किसी भी कारण से माता-पिता के साथ भावात्मक रीति से संतोषजनक सम्बन्ध स्थापित करने में असफल रहा।

जहां कि माता-पिता और बच्चों के बीच स्नेहपूर्ण सम्बन्ध सर्वथा

आकांक्षित है, वहां उसकी अतिमात्रा बच्चों के लिये अनिष्टकर भी हो सकती है। अति-संरक्षण और अति-लाड़ "बिगड़े बच्चे" पैदा करता है, विशेषतः जब कि उन्हें अन्य बच्चों से नहीं मिलने दिया जाता जोकि उन्हें सुधार सकते हैं। अति-संरक्षिका और अतिलाड़ करने वाली माताओं के अध्ययन से पता चलता है कि उनमें से अधिकांश अपने बचपन में अल्प-संरक्षित और अल्प-स्नेह प्राप्त थीं। उनका विद्यमान व्यवहार अपने अभाव की क्षतिपूरक प्रक्रिया थी। वास्तव में एक बार व्यक्तित्व का पलड़ा हिल जाने पर मनोवैज्ञानिक संतुलन प्राप्त करना बड़ा कठिन हो जाता है।

सामान्य अनुशासन. निन्दा और स्तुति, स्नेह की भांति व्यक्तित्व के निर्माण के शक्तिशाली हथियार हैं। अनेक अन्वेषणों से यह प्रकट हुआ है कि कठोर अनुशासन और अनुशासनहीनता, इन दो अतियों के स्थान पर एक अच्छा पारिवारिक वातावरण एक संतुलित अनुशासन प्रदान करता है। टरमेन ने देखा कि अधिकांश सुखी परिवारों से सम्बद्ध अनुशासन वह है जो 'कठोर' नहीं है पर 'दृढ़' है। कठोर किस्म का अनुशासन अधिनायकतन्त्रीय परिवार और दृढ़ प्रकार का अनुशासन लोकतन्त्रीय परिवार से संयुक्त होता है। बरजस के अन्वेषण बताते हैं कि हीन पारिवारिक अनुशासन जो कि विस्तृत नुक़्ताचीनी का रूप धारण करता है, तरुण वयस के हीन संतुलन से सम्बद्ध है। उसके अनुसार, माता-पिता की अल्प आलोचना, माता-पिताओं में नर्वसपन की कमी, माता-पिता और बच्चों के बीच प्रायः हृदय उद्घाटन, स्नेह का किसी प्रकार शारीरिक प्रदर्शन और सम्मिलित पारिवारिक कार्य अच्छे पारिवारिक वातावरण का मापदण्ड हैं।

परिवार का भविष्य

भावी परिवार के बारे में समाजशास्त्रियों, वैज्ञानिकों और उपन्यास-लेखकों ने अनेक मनोरंजक कल्पनाएं की हैं। इन कल्पनाओं के अनुसार सुदूर भविष्य में एक ऐसा युग आने वाला है जब परिवारप्रथा पूर्ण रूप से समाप्त हो जायेगी। स्त्री-पुरुष इच्छानुसार कामोपभोग करेंगे। गर्भनिरोध (Birth Control) के साधनों के पूर्ण हो जाने से उपभोग में बच्चे उत्पन्न होने की कोई संभावना नहीं रहेगी और राज्य द्वारा संचालित शिशुशालाओं में शिशु-पालन का कार्य अनुभवी धायों द्वारा सम्पन्न होगा। प्रसिद्ध लेखक आल्डस हक्सले ने अपने एक उपन्यास "साहसिक जगत्" में यहाँ तक उड़ान ली है कि भविष्य में विज्ञान इतनी उन्नति कर लेगा कि परीक्षण-नलिकाओं

में वीर्य और रज को मिला कर, प्रयोगशालाओं में बच्चे उत्पन्न किए जा सकेंगे। स्त्रियों को प्रसव का कष्ट नहीं उठाना पड़ेगा।

संक्षेप में, इन कल्पनाओं की अपेक्षा उन ठोस तथ्यों की समीक्षा करना आवश्यक है जिनके आधार पर ऐसी कल्पनाएं की जा रही हैं। पश्चिमी जगत् में बड़े परिवार की संस्था बहुत कुछ टूट गई है, वैवाहिक आचार के सम्बन्ध में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे हैं, राज्य के हस्ताक्षेप से माता-पिता का कार्य और महत्त्व कम होता जा रहा है, मुक्त प्रेम (Free love) के विचार जोर पकड़ रहे हैं। जिनसे ऐसा प्रतीत होता है कि परिवार संस्था का भविष्य संकट में है।

१८वीं शती की औद्योगिक क्रान्ति ने, जिसका कि इंगलैण्ड में सूत्रपात हुआ और जो वहाँ से अन्य देशों में फैली, जहां आर्थिक जीवन में एक क्रान्ति उत्पन्न की वहाँ हमारी पारिवारिक संस्था को भी बुरी तरह प्रभावित किया। निम्न प्रवृत्तियां इसका मुख्य परिणाम थीं।

परिवार का विघटन

१. औद्योगिक क्रान्ति के कारण परिवार के आर्थिक कृत्यों का ह्रास. औद्योगिक क्रान्ति से पहले परिवार उत्पादन का मुख्य केन्द्र था। मशीनों के प्रसार ने परिवारों को रोज़गार की तलाश में गांवों से निकल शहरी कारखानों में जाने को बाध्य किया। घर से दूर शहरों में रहकर मजदूरों में व्यक्तिवाद की भावनाएं प्रबल हुईं। माता-पिता का अनुशासन समाप्त हो गया, विवाह की पुरानी परम्पराओं पर भी धीरे-धीरे कुठाराघात होने लगा। उत्पादन के व्यापारीकरण से घर में स्त्री-पुरुष के आर्थिक बन्धन ढीले हो गये। घर में उनकी उपयोगिता घटने लगी।

२. राज्य का हस्ताक्षेप और परिवार के शिक्षण कृत्यों का ह्रास. औद्योगिक कान्ति के फलस्वरूप राज्य के शासन में अधिक केन्द्रीकरण होने तथा उसके राजस्व के साधन बढ़ जाने और राज्य की जन-कल्याणपरक कल्पना ने शिक्षा को राज्य का दायित्व बना दिया। माता-पिता के अपनी जीविका के लिए बाहर रहने और बच्चों के स्कूलों में जाने से माता-पिता और बच्चे बहुत थोड़े समय ही एक-दूसरे के सम्पर्क में आने लगे। बच्चों के शिक्षण केन्द्र अब परिवार न रह कर स्कूल, कालिज, क्लब, सिनेमा और राजनैतिक दल हो गये। अतः अब बच्चों के आचार-विचार को घड़ने में माता-पिता का उतना हाथ

नहीं रहता जितना कि इन वाह्य संस्थाओं का। पर इसका अर्थ यह नहीं कि बच्चों के व्यक्तित्व के निर्माण में माता-पिताओं का बिल्कुल हाथ नहीं रह गया है या नहीं रहेगा। माता-पिता का स्नेह बच्चों के पालन-पोषण में एक अमूल्य और अनिवार्य वस्तु है। परिवार में पले और शिशुशालाओं में पले बच्चों के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट है कि शिशुशालाओं में पले बच्चों के व्यक्तित्व के विकास में कुछ कमियां रह जाती हैं। माता-पिता का स्नेह बाल्य-काल में बच्चों के व्यक्तित्व के समुचित विकास के लिए सदा आवश्यक रहेगा।

संयुक्त परिवार का ह्रास. आधुनिक प्रवृत्तियों ने निःसंदेह संयुक्त-परिवारप्रथा को जबर्दस्त धक्का पहुंचाया है। पुराने समय में आर्थिक स्वार्थ, प्रव्रजन की सुविधाओं का अभाव और धार्मिक भाईचारे की भावना और विश्वास माता-पिता, और समस्त भाइयों के परिवारों को एक साथ सम्मिलित रहने में सहयोग देते थे, किन्तु उत्पादन के रूप में घर के विघटन, प्रव्रजन की सुविधाओं और व्यक्तिवादी भावनाओं ने संयुक्त परिवार-संस्था को नष्ट कर दिया और छोटे एकाकी परिवारों की उपादेयता को हमारे सम्मुख रखा। कृषि के क्षेत्र में अवश्य संयुक्त परिवार सारे परिवार की जमीन को संयुक्त रखने में सहायता प्रदान कर रहे थे। संयुक्त परिवार के विघटन ने जमीन के विभाजन और उपविभाजन को बढ़ा दिया। आधुनिक प्रवृत्तियां संयुक्त परिवार को समाप्त करती जा रही हैं और हम कह सकते हैं कि भविष्य के परिवार एकाकी परिवार होंगे।

४. आयोजित मातृत्व, संतति निरोध का प्रसार और छोटे परिवार. व्यक्तिवादी विचारधारा के प्रसार ने तथा बच्चों की दीर्घकालीन शिक्षा तथा पितृ-भक्ति की परम्परा के ह्रास ने बच्चों के उत्पादन की आर्थिक उपादेयता को समाप्त कर दिया है। अब बुढ़ापे में लड़कों से सेवा की आशा में उन पर रुपया लगाने से बेहतर, बीमा की पालिसियां खरीदना हो गया है। स्त्रियों के लिए बच्चा जनना एक जहमत और पुरुषों के लिए एक व्यर्थ का बोझा है। गर्भ-निरोध के उत्तम साधनों ने यौन-सुख भोगकर भी संतति से बचने में सहायता प्रदान की है। संतानों की दृष्टि से भावी परिवारों का झुकाव अवश्य छोटे होने की ओर है। परन्तु इससे हम इस परिणाम पर नहीं पहुंच सकते कि भविष्य में पति-पत्नी संतानोत्पत्ति बिल्कुल ही बन्द कर देंगे। संतान प्राप्ति की इच्छा विशेषतः स्त्रियों में इतनी प्रबल है कि उसे आसानी से नहीं रोका जा सकता। अधिकांश पति-पत्नी बिना दो एक सन्तानों के सुखी नहीं हो सकते।

960

अतः हम कह सकते हैं कि भविष्य में स्त्री-पुरुष अनिच्छित बच्चों का उत्पादन नहीं करेंगे। पितृत्व और मातृत्व आयोजित होगा। इसमें संदेह नहीं कि राज्य की नीति संतान उत्पादन के सम्बन्ध में विशेष प्रभाव डालेगी। जाति-सुरक्षा की भावना और युद्धों का संकट राज्यों को पतिपत्नियों द्वारा अधिकाधिक संतान उत्पादन करने के लिए प्रोत्साहन करेगा। इसके लिए राज्य राष्ट्रप्रेम और आर्थिक सहायता दोनों का सहारा लेंगे, जैसा कि आधुनिक जर्मनी और रूस में हुआ है।

५. सुप्रजनित परिवार. उपर्युक्त विवेचना से हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि मानवजाति में परिवार संस्था के लोप की कोई सम्भावना नहीं किन्तु भावी परिवार वर्तमान परिवारों से कई बातों में भिन्न होंगे। स्नेह की भूख और बच्चों के पालन-पोषण की आवश्यकता परिवार को एक सर्वव्यापी और स्थाई संस्था बनाने में मौलिक कारण रहे हैं। जब तक परिवार एक वैयक्तिक और धार्मिक संगठन रहा उसमें राज्य का हस्ताक्षेप नगण्य रहा, किन्तु भविष्य में राज्य माता-पिता के बहुत से कर्त्तव्यों को अपने ऊपर ले लेगा। राज्य अपनी आवश्यकतानुसार स्वस्थ और सबल नागरिक उत्पन्न करने की दृष्टि से केवल उन्हीं लोगों को संतानोत्पत्ति का अधिकार देगा जो कुप्रसंगज रोगों (Venereal diseases) से मुक्त हों। राज्य उतने ही नागरिक पैदा करने दे सकता है, जितने नागरिक राज्य द्वारा अच्छी तरह पाले जा सकें। भविष्य में नैतिक आचार में, बच्चा पैदा होने से पहले के स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों को व्यभिचार नहीं समझा जायेगा।

विद्युत् का परिवार पर प्रभाव

वाष्प इंजन का आविष्कार परिवार में अनेक परिवर्तन लाने के लिए उत्तरदायी है। उसने फैक्टरियों की स्थापना कर घर को उद्योग के केन्द्र के रूप में नष्ट कर दिया। किन्तु अब विद्युत् पुनः शक्ति को घरों में ले जा रही है। कुछ अंशों में यह सत्य होने पर भी अधिकांश उद्योगों को घर में नहीं लौटाया जा सकता। इसके विपरीत, विद्युत् मनोरंजन को व्यापारिक संस्थाओं के हाथों से निकाल कर घर में रख सकती है। रेडियो, ग्रामोफोन, टेलिविजन घर को मनोरंजन का केन्द्र बना सकते हैं।

गतिशील समाज में परिवार

अतीत में परिवार-संगठन प्रायः एक ही ढंग का हुआ करता था।

किन्तु आजकल विभिन्न प्रकार के परिवार संगठन दिखाई देते हैं। पैतृक, मातृक, समानतावादी, परम्परावादी, अपरम्परावादी, अनेक प्रकार के परिवार नज़र आते हैं । ग्राम्य और शहरी परिवारों का अन्तर तो स्पष्ट ही है । विभक्त या संतानहीन परिवार, संयुक्त या ससंतान परिवारों से बहुत भिन्न हैं। अतः शीघ्र परिवर्तनशील समाज में पारिवारिक जीवन के अधिकाधिक जटिल और विचित्र होने की आशा की जा सकती है ।

ग्यारहवां अध्याय

धार्मिक संस्थाएं

धर्म का मूल

आदिकाल में मनुष्य का जीवन कितना अनियमित, जोखिमपूर्ण, और चिन्तापूर्ण था, इसकी हम कल्पना ही कर सकते हैं। जंगली जानवर, तूफान, आंधी, उल्कापात, भूचाल, बाढ़, रोग, जन्म, यौवन, जरा, मृत्यु, स्वप्न, सूर्योदय, सूर्यास्त, ग्रहण, इन्द्र-धनुष, सरदी, गर्मी, उसके लिए एक विचित्र महान् आश्चर्य और रहस्य का कारण थे। मनुष्य उनका कारण जानना चाहता था। इसी जिज्ञासा ने धर्म को जन्म दिया। मनुष्य अपने प्रश्नों का उत्तर खोजने निकला ताकि वह अपने चिन्तित मन को ढाढस बंधा सके। धार्मिक कल्पनाओं ने उसकी इस मांग को पूरा किया। यह बात मनुष्य द्वारा ही संभव थी, जिसमें बुद्धि है, कल्पना की शक्ति है और जिज्ञासा की भावना है।

मानव ज्ञान के विकास के साथ-साथ मनुष्य के बहुत से प्रश्नों के उत्तर बदल गये, उन्होंने पुराने उत्तरों की काल्पनिकता की ओर संकेत किया। फिर भी मानव-विज्ञान जीवन की समस्त भौतिक और मानसिक गुत्थियों को न सुलझा सका, मानव जाति को पूर्णतया भय और जोखिम से मुक्त न कर सका।

धार्मिक संगठन का प्रारम्भ

आदिकालीन मनुष्य के ज्ञान का प्रभाव

मानव-जगत् की बुनियादी समस्याओं का जो उत्तर मनुष्य देता है वह बहुत कुछ उसके वस्तुओं के ज्ञान पर निर्भर करता है। आज हम सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण, भूकम्प, दिन-रात या जुड़वां बच्चे पैदा होने के कारणों को भली भांति जानते हैं। आदिकालीन मनुष्य को इसका ज्ञान न था। वह इन्हें किसी देवता का कोप या कृपा समझता था। उसकी दृष्टि में यह घटनाएं प्राकृतिक नियम का उल्लंघन थीं, अतः वह इन्हें विशेष महत्त्वकी समझता था। वह इन्हें कभी शुभ और कभी अशुभ लक्षण मानता था। उदाहरण के लिए, कुछ जातियों में जुड़वां बच्चों का पैदा होना शुभ तथा कुछ में अशुभ लक्षण माना जाता

है। असल बात यह है कि जब मनुष्य को किसी बात का सही कारण ज्ञात नहीं होता तो वह किसी कारण का आविष्कार करता है। इस वृत्ति को मनुष्य की निश्चितता की खोज की प्रवृत्ति कहा जाता है।

चूंकि आदिकालीन मनुष्य को भौतिक तथ्यों और अन्य जीवन की समस्याओं का बहुत अल्प ज्ञान था, इसीलिए वह अपनी कल्पना का सहारा लेता था और जिस तथ्य को वह सिद्ध नहीं कर सकता था उसे दैवीय व अलौकिक (Supernatural) शक्तियों का प्रभाव मानता था। अलौकिक में विश्वास ही धर्म की बुनियाद है।

वस्तु और कल्पना. आदिकालीन मनुष्य के विचार-जगत् को हम दो श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं—वस्तु-जगत् और कल्पना-जगत्। प्रथम श्रेणी में उसका भौतिक वस्तुओं का ज्ञान—आग कैसे जलती है, हथियार कैसे बनाए जाते हैं, शिकार कैसे खेला जाता है, मौसम कब और किस क्रम से आते हैं, विभिन्न परिस्थितियों में मानव या पशु कैसा व्यवहार करते हैं, इत्यादि तथ्यों का समावेश है। शिकार खेलना, जाल बनाना, भोजन पकाना, झगड़ों को निपटाना इत्यादि कर्मो को आरण्यक मनुष्य अपने इसी ज्ञान से ही सम्पन्न करता है। इन्द्रियों की साक्षी इस ज्ञान का आधार है।

आदिकालीन मनुष्य का दूसरा जगत्, विचार या कल्पना-जगत् है। यह इन्द्रियातीत ज्ञान का क्षेत्र है। अन्तर्दर्शन, इल्हाम, प्रेत या जिन इसी के अन्तर्गत हैं। बालू को देख पानी का भान इसी कल्पना से सम्बन्धित चीज़ है। समाधि लगा अनिर्वचनीय आनन्द की प्राप्ति या परम पुरुष के साक्षात्कार में भी यही चीज़ निहित है। इन समस्त कल्पनाओं में मनुष्य की मधुर कामनाओं का तथ्य विद्यमान रहता है। मनुष्य की कुछ कल्पनाएं तो सीधी सरल हैं, पर कुछ बहुत ही जटिल हैं जैसे कि आत्म-बलिदान या अपने को ही दण्ड देने की इच्छा। शायद भूत, प्रेत, शैतान और जिन के आविष्कार के लिए यह भावना ही जिम्मेदार है।

पर इससे हमें यह अनुमान नहीं करना चाहिए कि काल्पनिक सत्ताओं का आविष्कार कोई सरल चीज है। बालक प्रायः काल्पनिक साथियों से खेलते और बात करते पाये गये हैं, किन्तु यह निश्चिततापूर्वक नहीं कहा जा सकता कि बच्चा स्वयं उसका आविष्कार करता है। बच्चों के खेल के यह अभिनेता एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को जनश्रुति द्वारा पहुंचाए जाते हैं। वास्तव में एक प्रेत का आविष्कार किसी एक यान्त्रिक आविष्कार से सुगम कार्य न था। पौरा-

णिक गाथाओं का आविष्कार उतना सरल नहीं है जितना कि हम समझते हैं।

इसीलिए हम देखते हैं कि जगत् और मानव जाति की सृष्टि, सूरज, चांद, पानी या आग के जन्म के वारे में एक आरण्यक कवीले मेंएक ही जनश्रुति चली आती है।"

उदाहरण के लिए मध्यभारत के वैगा के अनुसार :—

"प्रारम्भ में जल, जल, जल के अतिरिक्त कुछ नहीं था। कोई ईश्वर की आवाज़ कोई भूत, कोई हवा, कोई रास्ता, कोई जंगल नहीं था। जैसे आज आकाश है, वैसे तव जल था। एक वड़े कमल के पत्ते पर, जो इधर-उधर तैरता था, ईश्वर आसीन थे। उनके पास कोई फल, फूल या जीव न था, वह अकेले थे।"

ऐसा मालूम होता है कि पृथ्वी कैसे वनी इस वारे में मध्य भारत के आरण्यकों में तीन मत हैं। पहले में यह मान लिया गया है कि पृथ्वी चुरा ली गई और स्रष्टा उसे ढूंढने के लिए दूत भेजता है; और जव उसे वह मिल जाती है वह उसे पानी की सतह पर फैला देता है। दूसरे में, जो कि प्राचीन वैदिक कल्पना से मिलती-जुलती है, पृथ्वी वलि का परिणाम है। तीसरे में संसार अपने आप वन जाता है जैसे कि कूंडे में दही अपने आप जम जाता है।

अगरिया और गोंड श्रुति के अनुसार :—

"भगवान् ने एक गाय वनाई और उसे पृथ्वी ढूंढने भेज दिया। वह ककरामल क्षत्री, महान् कछुए की पीठ पर गिर पड़ी जो कि उसे समुद्र की तह में जहां गिद्धराज ने उसे निगल रखा था, निकलवाने के लिए ले गया। उन्होंने उसे उगलने के लिये मजवूर किया और उसके मुंह से वाईस विभिन्न प्रकार की पृथ्वियां निकलीं। कौआ उन्हें भगवान् के पास ले गया। तव भगवान् ने पृथ्वी को कौए की गर्दन से निकाला और अपनी गोद में रखा। तव उसने एक तरुण कुमारी को वुलाया। उसने पत्तों की एक हांडी वनाई और उसमें पृथ्वी को मथा। तव भगवान् ने उसे एक वड़ी पतली चपाती की तरह वेला और उसे पानी की सतह पर फैला दिया। वहां वह वढ़ने लगी और अन्ततः, उसने सारा पानी ढक लिया।"

सृष्टि, आग, चांद, तारे, सूरज, विभिन्न पशुओं, जीवों और शरीर के विभिन्न अंगों के जन्म से सम्वन्धित कल्पनाओं का आधार, अंशतः शक्ति भावना, अर्थात् अपने को सर्वशक्तिमान् से मिला देने की भावना होती ह। इन विभिन्न व्याख्याओं

में कल्पनाशक्ति या जिज्ञासावृत्ति का भी बड़ा हाथ होता है। बैगा, अगरिया, गोंड इत्यादि आदिवासियों का सृष्टि, आग, चांद, तारे, सूरज, इत्यादि का ज्ञान उनके अपने हथियारों और औजारों के ज्ञान की तुलना में बहुत अपूर्ण है। इसका कारण भी स्पष्ट है। पहली चीजों के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करना उनके लिए बहुत कठिन है, इसीलिए उन्हें कल्पना का सहारा लेना पड़ता है।

आदिकालीन जीवन दर्शन और विश्वास

आदिकालीन संस्कृति में मनुष्य का वैज्ञानिक ज्ञान हमारी तुलना में बहुत अल्प है। ऐसे समाज में उन विचारों का रहना बहुत स्वाभाविक है जिनका कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। आदिकालीन मनुष्य के काल्पनिक विचार ही उसका विश्वास, उसका सिद्धान्त, घटनाओं की व्याख्या, सफल जीवन की कुंजी होते हैं। वह उनसे केवल जड़ जगत् की ही व्याख्या नहीं करता, वरन् अपने दैनिक व्यवहार को भी निर्धारित करता है। विश्वास और जीवन दर्शन का यह सम्बन्ध एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। उत्तरी अमरीका के विनेबागो कबीले का सदस्य अपने लड़के को उपवास करने की सलाह देता है और कहता है : "तुम्हारा पड़दादा अग्नि देवता सदा तुम्हारे घर के बीच में रहता है, वह तुम्हें आशीर्वाद देता है। उसका सदैव स्मरण करो। उसकी कृपा से तुम सही रास्ते को जान जाओगे, अपनी इच्छा का पुरस्कार और सम्मान प्राप्त करोगे। इसलिए श्रद्धापूर्वक तुम उपवास करो और अपने प्राणों की आहुति दे दो तभी यह युद्ध का आशीर्वाद तुम्हें मिलेगा। फिर भी बिना सतत प्रयत्न के यह आशीर्वाद नहीं मिलता।....."

'सतत प्रयत्न करो, बाधाओं पर विजय पाओ, सफलता प्राप्ति से ही सम्मान, प्रतिष्ठा मिलेगी' यह एक विश्वस्त सलाह है। ऐसी ही विश्वस्त जैसी कि एक चिड़िया को तीर मारने से तुम्हें मांस खाने को मिलेगा। पर बिना प्रयत्न केवल उपवास की सहायता से तुम जो चाहो मिल सकता है, यह एक बहुत विश्वस्त ज्ञान नहीं कहा जा सकता, बल्कि यह एक मधुर कल्पना है। अच्छे जीवन और सफलता प्राप्ति के सम्बन्ध में, जहां तक विश्वस्तता का सम्बन्ध है, बहुत से विश्वास विनेबागो के विश्वास से मिलते हैं। और यहीं पर हमें पता चलता है कि आधुनिक मनुष्य के विचार भी आदिकालीन मनुष्य की भांति बिल्कुल दो विपरीत दिशाओं में चल रहे हैं, एक तो तथ्यों पर आधारित हैं, और एक कोरी कल्पना पर।

यद्यपि अलौकिक (Supernatural) या अंतिम सत्ता में विश्वास

ही धर्म का सार है। पर मनुष्य इस विश्वास को एक पद्धति का स्वरूप प्रदान करता है, अर्थात्, वह अपनी धार्मिक भावना को धार्मिक संगठन में रूपान्तरित करता है। वास्तव में यह संगठन, न कि यह धर्मभावना, समाजशास्त्री के लिए विशेष महत्वपूर्ण है। आगे हम इसी का वर्णन करेंगे।

धार्मिक संगठन

एक उच्च शक्ति में विश्वास के रूप में धर्म कई तत्त्वों का मिश्रण है। इसी तरह एक संगठन के रूप में वह अनेक कार्यों का मिश्रण है। समान आदतों और व्यवहार वाले धार्मिक लोग जब संगठित हो जाते हैं, वह दूसरे सामाजिक कार्यों पर भी प्रभाव डालते हैं। उदाहरण के लिए, पुनर्जन्म में विश्वास मनुष्य को इस जीवन में अच्छे कार्य करने की प्रेरणा दे सकता है, अथवा कर्मफल में विश्वास उसे इस जन्म में धैर्यपूर्वक कष्ट भोगने या अत्याचार सहने में समर्थ बनाता है और उनका प्रतिकार करने की प्रेरणा नहीं देता। इसी तरह संगठित धर्म हमारे आचार को अपने हाथ में ले सकता है।

इसी तरह प्रार्थना की सार्थकता में विश्वास वर्षा, अन्न और धन की समृद्धि के लिए उसके उपयोग को प्रोत्साहित करता है। इस भांति धर्म हमारे आर्थिक जीवन में प्रवेश कर जाता है। धार्मिक कथाओं के चित्रण और वर्णन कला और साहित्य को स्फूर्ति देते हैं। मन्दिर या धार्मिक मेले और तीर्थ यात्राएं, मिलने-जुलने, क्रय-विक्रय और मनोरंजन के सामाजिक कार्यों को सम्पन्न करते हैं।

धर्म की ऐसी व्याख्या की जा सकती है कि वह अज्ञात के प्रति मनुष्य की भावात्मक प्रतिक्रिया या एक उच्च शक्ति में विश्वास है। किन्तु इस व्याख्या में यह जोड़ना बेहतर होगा कि संगठित धर्म में अनेक सामाजिक कार्यों का भी समावेश है।

धार्मिक संगठन का उद्गम

धर्म पहले-पहले कब उद्भूत हुआ? क्या यह परिवार की भांति ही प्रारंभ से हमारे साथ चला आ रहा है? यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। धार्मिक विश्वास भौतिक संस्कृति की भांति अपने अस्तित्व के अवशेष नहीं छोड़ते। अतः इस सम्बन्ध में निश्चिततापूर्वक कुछ कहना कठिन है। बन्दरों में हमें पारिवारिक प्रथा के चिह्न मिलते हैं, पर उनमें धार्मिक अनुभूति का कोई चिह्न नजर नहीं आता। अतः हम कह सकते ह कि धर्म बाद की उपज है। धर्म के उद्भव के लिए मन और कल्पना के अधिक विस्तार की आवश्यकता थी। बावजूद इसके

धर्म का विकास बहुत प्रारम्भिक अवस्था में हो सकता है। अतः यह सम्भव है कि धर्म संस्कृति जितना ही प्राचीन हो।

यह सब तर्क बहुत काल्पनिक है, पर यह निश्चित सत्य है कि धर्म अति प्राचीन संस्था है। २५,००० साल पहले रहने वाले नीनडरथल वासी के खुदाई में प्राप्त कंकाल इस बात का समर्थन करते हैं। ये कंकाल एक विशिष्ट प्रकार से दफ़नाए पाये गये हैं। इनके साथ पत्थर के औज़ार और हथियार भी मिले हैं, जिससे यह अनुमान होता है कि यह लोग पुनर्जन्म में भी विश्वास रखते थे। इसके अतिरिक्त, हमें आज जितनी भी प्रागक्षर संस्कृतियां मिलती हैं उन सब में ही हमें धार्मिक संगठन के दर्शन होते हैं। यह तो यह, सरलतम फलसंचक-संस्कृतियों में भी यह विद्यमान है। इन संस्कृतियों में धर्म का अध्ययन धार्मिक संगठन के प्रारम्भ पर अच्छा प्रकाश डालता है।

अलौकिक शक्तियां. सरल संस्कृतियों के सभी लोग अलौकिक शक्तियों में विश्वास रखते हैं। यद्यपि उनके इस अलौकिक को ठीक-ठीक समझना बहुत कठिन है। उनकी अलौकिक की कल्पना हमसे बहुत अधिक जटिल है। फिर भी उन सब का समान आधार अलौकिक-शक्ति में विश्वास है। अलौकिक-शक्ति वह निर्वेयक्तिक शक्ति है कि जिसकी किसी वस्तुविशेष में उपस्थिति, उससे असंभव कार्य सम्भव करवा सकती है। विभिन्न सरल संस्कृतियों में उसे विभिन्न नामों से सम्बोधित किया जाता है। मध्य भारत के हो लोग उसे 'बोगान' और मैलीनेशिया और पोलिनेशिया के आदिवासी उसे 'मन' कहते हैं।

यद्यपि यह शक्ति निर्वैयक्तिक है, फिर भी इसका किसी व्यक्ति या वस्तु में प्रवेश सम्भव है। उसका प्रवेश उन्हें नूतन और अलौकिक गुण प्रदान करता है। पोलीनेशियनों के अनुसार उस व्यक्ति में अधिक 'मन' है जो अधिक जनश्रुति याद रख सकता है। वहां मुखिया के पास इतना अधिक 'मन' माना जाता है कि वह जिस वस्तु को छू दे वह उसकी हो जाती है। राजाओं के दैवी अधिकार के सिद्धांत का भी यही मूल है कि वह अलौकिक गुणों से विभूषित होते हैं।

यहां यह बात स्मरण रखनी आवश्यक है कि अलौकिक शक्ति में विश्वास समस्त वस्तुओं को जीवित मानने के विश्वास से भिन्न है। अनेक आदिवासियों के अनुसार वस्तुओं के जीवित रहने का गुण उसमें विद्यमान प्रेतात्मा के कारण होता है। प्रेतात्मा एक छायामय आत्म-तत्त्व है, 'मन' की तरह अमूर्त नहीं है। इसके अतिरिक्त, कुछ प्रेतात्मायें अन्य प्रेतात्माओं की

तुलना में अधिक शक्तिशाली होती हैं। अनेक आदिवासी पहाड़ों, नदियों, वृक्षों, पशुओं से सम्बद्ध प्रेतात्माओं को भी, देवताओं में सम्मिलित करते हैं। इन सबके ऊपर मुख्य देवता वह होता है जिसका मानव प्राणियों से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता।

अलौकिक में विश्वास होते हुए भी प्रागक्षर संस्कृतियों के विश्वासों में पर्याप्त भेद है। उनकी उच्च शक्तियां विशिष्ट या सामान्य हैं, वैयक्तिक या निर्वैयक्तिक हैं, पूर्वज या सार्वभौम हैं। कुछ का परम पूज्य पुरुष तो कुछ का स्त्री है। आजकल परम सत्ता अधिकाधिक निर्वैयक्तिक होती जा रही है, पर हम देखते हैं कि अनेक आदिकालीन धर्म भी इस दिशा में इससे भिन्न न थे।

धार्मिक अनुभव. अलौकिक शक्तियों में विश्वास को महत्त्वपूर्ण मानते हुए भी अनेक विद्वान् धार्मिक अनुभव को धर्म का अनिवार्य अंग मानते हैं। इसे परम आनन्द कहा जाता है; इसका उन धारणाओं और भावनाओं से सम्बन्ध है जो कि उसे अलौकिक की ओर अग्रसर करती हैं। भारतीय योग और परमात्मा के साथ साक्षात्कार में यही तथ्य निहित है। किन्तु इस सम्बन्ध में भी विभिन्न संस्कृतियों में विभिन्न कालों में धर्म की बहुत भिन्नता पाई जाती है। भय, प्रेम, आनन्द, शांति इत्यादि धर्म की अनेक प्रतिक्रियाएं है। आदिकालीन धर्मों में भय का तत्त्व अधिक है जब कि आधुनिक धर्मों में शांति तत्त्व पर अधिक जोर दिया जाता है। इस तरह परम सत्ता के प्रति विभिन्न प्रतिक्रियायें दृष्टिगोचर होती हैं। उदाहरण के लिए, उत्तर-पश्चिमी अनाम और हिन्द-चीन के मोई और सेदांग आदिवासी अपने देवताओं से घृणा करते हैं।

जादू टोना. सरल संस्कृतियों में धर्म का स्वरूप जादू-टोने से मिलता-जुलता है। जादू-टोने में अलौकिक शक्तियों को नियन्त्रित और अनुशासित करने का प्रयास होता है। बीमारी हो जाने पर शरीर पर पत्थर घिस देना, कान में मन्त्र पढ़ देना, झाड़फूंक, दरवाजे पर शुभचिन्ह का लटका देना, जादू-टोने से ही सम्बद्ध क्रियाएं हैं। कुछ विद्वान् इसे धर्म नहीं मानते, क्योंकि इसमें अलौकिक शक्ति को बांधने, उसे अपने स्वार्थ के लिए प्रयुक्त करने का उद्देश्य है। जबकि धर्म में एक विशिष्ट विनम्रता विद्यमान है। उदाहरण के लिए, प्रार्थना में पूजा, निवेदन की भावना है। परमशक्ति से साक्षात्कार इसका मुख्य लक्ष्य है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने योग्य है कि धर्म और जादू-टोने के बीच विद्यमान भेद अंशतः सामाजिक है। जैसे-जैसे धर्म की गंभीर कल्पना उदित होती है, जादू-टोने से उसका भेद स्पष्ट होने लगता है। बावजूद इसके, दोनों के

बीच पर्याप्त समानताएं भी हैं। दोनों ही अलौकिक शक्ति को स्वीकार करते हैं और उससे किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं।

लेखकों ने जादू को विभिन्न प्रकारों में बांटने का प्रयास किया है। जादू टोने पर प्राप्य सबसे उत्तम पुस्तक 'गोल्डन बाऊ' के प्रसिद्ध लेखक फ्रेज़र ने जादू को अनुकरणीय और संक्रामक दो भागों में बांटा है। अनुकरणीय जादू में मनुष्य उस बात का अनुकरण करता है जिसे कि वह चाहता है और उसका परिणाम स्वत: ही मान लिया जाता है। शत्रु का हनन करने के लिए उसकी एक मोम की पुतली बना कर छेद दिया जाता है। वर्षा कराने के लिए एक बर्तन में ऊपर तक पानी भर दिया जाता है।

संक्रामक जादू में यह मान लिया जाता है कि जो कोई वस्तु अलौकिक सम्पर्क में आती है, उसमें अलौकिक का प्रभाव आ जाता है। इसी लिए गण्डे, तावीजों और कवचों का सहारा लिया जाता है।

विख्यात मानवशास्त्री लोई के अनुसार सम्मोहन (Spells) एक अन्य प्रकार का जादू है। इस तरह हम जादू को अनेक श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं। जादू के मूल में इच्छा तत्त्व सदैव विद्यमान रहता है, अर्थात् मनुष्य जो इच्छा करता है और जो होता है, उसमें निकट सम्बन्ध पाया जाता है।

धर्म का प्राचीन संगठन

प्राचीन धार्मिक विश्वास विस्तृत जादू की क्रियाओं में निहित था। जन्म, यौवन, प्रसूति, मासिक धर्म, वर्षा, अकाल, सूखा, प्रत्येक समय के लिए कोई न कोई जादूई विधि विधान विद्यमान थे। रोगों की चिकित्सा जादू का मुख्य विषय थी तथा धर्म से घनिष्ठतया सम्बन्धित थी।

आर्थिक जीवन से सम्बन्ध. फलों के संचय या शिकार, उपयोगी औजारों या हथियारों के निर्माण तथा अन्य आर्थिक क्रियाओं में यद्यपि पुरुषार्थ का अधिक हाथ था और उनमें 'बोगान' या 'मन' की सहायता न ली जाती थी, फिर भी भूमि को उपजाऊ बनाने के लिए, शिकार में सफलता पाने के लिए अनेक जादू क्रियाएं सम्पन्न की जाती थीं तथा गण्डे-तावीज़ पहने जाते थे।

परिवार से सम्बन्ध. विवाह, गर्भाधान, बच्चे के जन्म और संरक्षण

में आदिकालीन मनुष्य पग-पगपर धार्मिक कृत्यों की सहायता लेता था। शिक्षा यद्यपि सामुदायिक जीवन का अंग थी, फिर भी उसमें धार्मिक पौराणिक जन-श्रुति एक बड़ा भाग थी। तरुणावस्था शिक्षा के लिए सर्वोपयुक्त समय है। उस समय विभिन्न धार्मिक आदेशों का पालन, उपवास और साधना, विभिन्न धार्मिक उत्सवों का मनाना और पुराणों का अभिनय आदिकालीन संस्कृति की प्रमुख विशेषताएं हैं। इस तरह हम देखते हैं कि आरण्यकों के प्रत्येक कार्य पर धर्म की छाप है, वह सब जगह व्याप्त है।

ओझा. आदिकालीन धर्म के परिचालक और नेता ओझा हैं जिन्हें शमन भी कहा जाता है। शमन पुरोहित का पुराना प्रतिरूप है। आदिकालीन समाज में उसकी स्थिति मुखिया या सरदार की भांति महत्त्वपूर्ण है। शमन अलौकिक साम्राज्य का शासक है; उसकी गुत्थियां सुलझाने की उसी में सामर्थ्य है। यह शमन प्रायः विक्षिप्त (neurotic) होते हैं, उन्हें मिरगी की प्रवृत्ति होती है, समाधि और अन्तंदर्शन (visions) होते हैं। आस्ट्रेलिया के शमन इसका अपवाद हैं, वे मानसिक दृष्टि से सर्वथा स्वस्थ और बहुत बुद्धिमान् व्यक्ति होते हैं। यद्यपि शमन समाज के अन्य वर्गों से पृथक् होते हैं; तथापि उनकी विकृतियां (abnormalities) सामाजिक होती हैं; उन्हें अस्वस्थ (abnormal) नहीं माना जाता, बल्कि वह प्रतिभावान् और उपयोगी व्यक्ति समझे जाते हैं। संकट या रोग और विपत्ति के समय उनकी भेंट पूजा की जाती है। उन्हें विशेष शक्तियों से विभूषित माना जाता है। उनकी कल्पनाशक्ति, चिन्तन-शक्ति और अन्तंदृष्टि सामान्य लोगों से ऊंची होती है। इसके अतिरिक्त, शमन किसी जाति के पुराणों, जनश्रुतियों, सृष्टि-कथाओं, इतिहास और परम्पराओं के संरक्षक होते हैं। जनश्रुति और पुराणों में वर्णित तथ्यों को सिलसिलेवार ढंग से रखना उनका मुख्य कार्य है। संक्षेप में शमन अज्ञात जगत् के विशेषज्ञ हैं।

धार्मिक संस्थाओं का विकास

बढ़ती हुई सूक्ष्मता और विभेद. ओझा के नेतृत्व से शुरू हो धार्मिक विचारधारा और व्यवहार में बराबर सूक्ष्मता और वैचित्र्य आता जाता है। अलौकिक के सम्बन्ध में आदिकालीन मनुष्य के विचार बहुत अस्पष्ट थे। उन्हें स्पष्ट और सजीव करने का प्रयास होता है। इसी से जीववादी (Animist) दर्शन का प्रारम्भ होता है अर्थात् जड़ वस्तुओं को जीवित माना जाने लगता है। सूर्य, पर्वत, नदी या किसी विशेष पेड़ पक्षी और पशु को दैवी शक्ति से

समाविष्ट माना जाता है। यद्यपि कुछ संस्कृतियों में परम सत्ता की कल्पना विकसित हो गई है पर फिर भी वहां ऐसा माना जाता है कि प्रेतात्माएं पशु, परी, वीर, धूर्त या शासक इत्यादि का स्वरूप धारण कर अवतरित होती हैं। स्वप्न, साक्षात्कार, इल्हाम या अन्तदर्शन द्वारा शरीर के वाहर उसकी कल्पना की जाती है। इस तरह भूतों और उनके निवास की कल्पना का उदय होता है। शासक प्रेतात्माओं और सृष्टि के मूल को समझाया जाता है। इस प्रकार रहस्यमयी शक्ति की श्रेणी व्यवस्था में उनके कार्यों को सिलसिलेवार ढंग से रखा जाता है। साथ ही ओझाओं के तरीके भी वारीक और विभिन्न हो जाते हैं। प्रेतात्माओं को प्रसन्न करने के लिए वस्तुओं, भोजन, पशुओं, कभी-कभी जीवित मनुष्यों तक की भी वलि की आवश्यकता होती है।

टैवू की कल्पना का जन्म. कुछ वस्तुएं अखाद्य, अकथ्य, अगन्तव्य या अछूत मान ली जाती हैं; उन्हें टैवू या निषिद्ध कहा जाता है। टैवू को भंग करने पर प्रेतात्मा या आत्मा का कोप होता है। इसी से पाप की कल्पना का उदय होता है जिसका कि हमारे धर्म में वड़ा स्थान है।

धार्मिक उत्सवों का जन्म. धर्म के सूक्ष्म और विशिष्ट होने के साथ-साथ प्रेतात्माएं सशरीर हो जाती हैं, मानव प्राणियों और पशुओं की भांति व्यवहार करने लगती हैं। यद्यपि उनकी शक्ति और सामर्थ्य असाधारण रहती है, तव भी धार्मिक नेता उन्हें अभिनयात्मक ढंग से पेश करते हैं। वलि के समय विशिष्ट उत्सव का आयोजन, ऋतुपरिवर्तन के लिए सांपों का नृत्य अथवा भूमि को उर्वरा वनाने के लिए धान्यनृत्य ऐसी ही चीजें हैं। इस तरह पुराणों को अभिनीत करने का उपक्रम होता है और शनैःशनैः नृत्यों, उत्सवों और त्योहारों में उनकी परिणति होती है।

धार्मिक संगठन के विकास में विभिन्नता

धर्म का अध्ययन करते समय यह स्मरण रखना आवश्यक है कि धर्म का विकास किसी निश्चित क्रम में नहीं हुआ है। हम देखते हैं कि अनेक उच्च धर्मों में जादू और अनेक जादूधर्मों में परमसत्ता के लिए स्थान है। कुछ आरण्यकों में एकेश्वरवाद (mono-theism) और मिश्र, रोम और ग्रीस जैसी विकसित सभ्यताओं में वहुईश्वरवाद (poly-theism) के चिन्ह मिलते हैं। आस्ट्रेलिया के भौतिक दृष्टि से अति पिछड़े आदिवासियों के धार्मिक कृत्य अपनी सूक्ष्मता में अतिविकसित संस्कृतियों को मात करते हैं। इस

सम्बन्ध में धर्म की स्थिति सरकार जैसी है। जिस भांति सरकार के विकास का कोई निश्चित क्रम नहीं है, वैसे ही धर्म-विकास का भी एक निश्चित क्रम नहीं है। हम केवल प्रमुख विकासवादी प्रवृत्तियों की ओर संकेत कर सकते हैं। वास्तव में किसी संस्कृति के भौतिक स्तर और उसके धार्मिक व्यवहार में कोई निश्चित कठोर सम्बन्ध नहीं है। धार्मिक जीवन का स्वरूप प्रधानतः धार्मिक नेताओं की वुद्धि और भावनाओं पर निर्भर होता है। यह सत्य है कि भौतिक संस्कृति उन्हें प्रभावित करती है।

आत्मिक जगत् के विशिष्ट और निश्चित होने से उसका असर वर्ग की भावात्मक प्रतिक्रियाओं पर भी पड़ा। जब तक जीवन में जोखिम प्रधान रहा, भय और आतंक की धारणा स्वाभाविक थी। यह धारणा अभी तक भी कुछ अंशों में कायम है। पर विशेषतः कृषि-संस्कृतियों में देवताओं के साथ कल्याणकारी भावनाओं का उदय हुआ। उदाहरण के लिए, सूर्य देवता जो फसल पकाता और वर्षा देता है कल्याणकारी है। ऐसी स्थिति में भय का स्थान विनय और उदात्तता की भावना ने ले लिया।

धर्म का संगठन निरन्तर हमारे सामाजिक कृत्यों में प्रवेश करता रहा। परिवार, भोजनप्राप्ति, चिकित्सा, मनोरंजन यहां तक कि सरकार भी इसके दायरे में आ गयी। भूत-प्रेत की कल्पना ने धर्म को परिवार में केन्द्रित करने में योग दिया और पूर्वजपूजा को जन्म दिया। गणचिन्ह (Totem) अर्थात् विरादरी के धार्मिक प्रतीक का महत्त्व, यदि विरादरी को राज्य का प्रारम्भ मान लिया जाय, तो राज्य और धर्म के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध की पुष्टि करता है। इसके अतिरिक्त वर्ग संघर्ष के समय देवताओं का आवाहन किया जाता है और यह माना जाता है कि देवता विजेता दल की ओर हैं।

कृषि समाज में धार्मिक संगठन

कृषि अवस्था तक पहुंचते-पहुंचते मनुष्य ने भौतिक दिशा में पर्याप्त उन्नति कर ली। उसके पास भोजन-सामग्री का पर्याप्त संचय, सम्पत्ति और वस्तुएं हो गईं। समुदाय स्थिर निवास बनाकर रहने लगे और अब उनके लिए यह संभव हो गया कि वह धार्मिक नेताओं का भरण-पोषण कर सकें। इस तरह पुरोहित सम्प्रदाय का जन्म हुआ। प्राचीन आर्यों की वर्ण व्यवस्था जिसमें क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रों के अतिरिक्त ब्राह्मण एक विशिष्ट वर्ग था, ऐसे ही वातावरण में उद्भूत हुई। इस पुरोहित वर्ग का मुख्य कार्य अमानवीय का चिन्तन, अज्ञात जगत् का अन्वेषण तथा परम सत्ता से साक्षात्कार या ब्रह्म में विचरण था।

इसी समय स्थायी उपासना गृहों का निर्माण हुआ और सामूहिक पूजा प्रोत्साहित हुई। धार्मिक नेताओं के भी कई वर्ग बन गये। उदाहरण के लिए बगान्दा कबीले में पुरोहितों, शमनों और ओझाओं की तीन श्रेणियां हैं। शमन एक प्रकार के माध्यम हैं जिन पर जिन या भूत चढ़े रहते हैं। पुरोहित इनकी समाधियों और इनके प्रलाप की व्याख्या करते हैं। ओझाओं का कार्य क्षेत्र चिकित्सा और कवचों का निर्माण है। इस तरह कृषिसमाज में धार्मिक ढंग पर समाज का श्रेणिविभाजन शुरू हो जाता है।

सामाजिक और धार्मिक संगठन का अन्तःसम्बन्ध

पुरोहितों का एक पृथक् वर्ग जिसका कार्य विभिन्न क्रिया-कर्म और यज्ञ-याग कराना था, बन जाने के बावजूद, धर्म किसी भी संस्कृति में मनुष्य के प्रतिदिन के कार्य-कलापों से पृथक् नहीं रहा। उदीयमान धर्म-सामाजिक संस्थाएं धर्म से घनिष्ठतया सम्बन्धित रहीं। आर्थिक क्रियाओं में सफलता के लिए बराबर धर्म की सहायता ली जाती थी। चिकित्सा, शिक्षा, आचार भी धर्म का मुख्य विषय थे। संसार के समस्त धर्मों में हम इस अन्तःसम्बन्ध को पाते हैं। बड़े धर्म भाषा और जाति की सीमाओं को लांघ कर किसी विशिष्ट संस्कृति से बंधे नहीं रह गये हैं। भारत में सूफी, वैष्णव, ज्ञानमार्गी, तान्त्रिक, शैव, शाक्त, सिक्ख, हिन्दू, बौद्ध, पारसी, इस्लाम, ईसाई इत्यादि अनेक धर्मों का संगम है। चीन में कन्फूशियस, टाओ और बौद्ध तीन धर्म हैं। यह समस्त धर्म ही हमारे सामाजिक जीवन में हस्ताक्षेप और योगदान करते हैं। भारत में जाति-भेद धर्म की ही देन है। यह जाति-व्यवस्था हमारे खान-पान, शादी-ब्याह, शिक्षा-दीक्षा, पद-पेशा, आचार-व्यवहार, मान-प्रतिष्ठा, हमारे सारे सामाजिक जीवन को प्रभावित करती है। सभी धर्म विशिष्ट आचार-व्यवहार की व्यवस्था करते हैं। आज को छोड़, सदा ही सरकार के साथ धर्म का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। मध्यकालीन योरोप में चर्च के हाथ में ही हकूमत की बागडोर थी। प्राचीन और मध्यकालीन भारत में राजपुरोहितों और काजियों का शासन में बड़ा हाथ था। इसके अतिरिक्त, पाठशाला और मकतब खोलने, पिंजरापोल और अनाथालय इत्यादि विभिन्न सामाजिक संस्थाओं को चलाने में धर्म का बड़ा सहयोग रहा है।

धर्म में आधुनिक प्रवृत्तियां

संगठित धर्म के कृत्यों का ह्रास

आधुनिक युग में धर्म अन्य सामाजिक संगठनों तथा ज्ञान की शाखाओं

से निरन्तर पृथक् होता जा रहा है। लगभग समस्त सभ्य और उन्नत राष्ट्रों में सरकार में धर्म का हस्ताक्षेप समाप्त हो चुका है। बौद्धिक और यान्त्रिक शिक्षा धार्मिक संगठनों के हाथ से निकल कर सार्वजनिक सरकारी स्कूलों के हाथ में आ गई है। कला, संगीत, शिल्प, साहित्य पर दिन-प्रति-दिन धर्म का प्रभाव घटता जा रहा है। आर्थिक जीवन में धर्म के बन्धन और विधान शेष-प्राय हो चुके हैं। पारिवारिक जीवन में धर्म की शक्ति क्षीण होती जा रही है। चिकित्सा-शास्त्र के विकास ने धार्मिक चिकित्सकों के महत्त्व को नष्ट कर दिया है। यद्यपि सामाजिक कार्यों में अभी भी धार्मिक संगठन कुछ हाथ बटा रहे हैं, पर बेकारी, वृद्धावस्था, बीमा, दुर्घटना इत्यादि महत्त्वपूर्ण परिस्थितियों में, राज्य ही नागरिकों की सहायता का भार ले रहा है। कर-संग्रहकर्त्ता होने के नाते सरकार द्वारा ही यह बड़े-बड़े कार्य संभव हैं और धार्मिकसंगठनों के बूते के बाहर हैं। अन्य सामाजिक कार्यों में भी अन्य बौद्धिक समितियां, पेशेवर संगठन और क्लब धार्मिक संगठनों से प्रतियोगिता कर रहे हैं।

सामाजिक कृत्यों के धार्मिक संगठन के हाथों से निकल अन्य गैर-धार्मिक संस्थाओं के हाथों में चले जाने की प्रवृत्ति को ऐहिकीकरण (Secularisation) के अन्दोलन का नाम दिया जाता है। आधुनिक युग में धर्म का कार्य-क्षेत्र बहुत संकुचित होता जा रहा है, या यों कहें तो बेहतर होगा कि धर्म पहले जो गैर-धार्मिक कार्य सम्पन्न करता था, वह अब नहीं कर रहा; विशुद्ध धार्मिक कार्य ही अब उसके कार्य रह गये हैं।

धार्मिक विश्वास का परिवर्तित स्वरूप

धर्म का अध्ययन करते समय यह बात भी दर्शनीय है कि भौतिक संस्कृति के विकास और परिवर्तन के साथ-साथ धार्मिक विश्वासों का स्वरूप भी निरन्तर बदलता जाता है। विज्ञान की उन्नति इसका सबसे प्रमुख कारण है। विज्ञान ने अज्ञात जगत् के क्षेत्र को बहुत संकुचित कर दिया है, अनेक पेचीदा गुत्थियों को सुलझा दिया है। फिर भी यह मानना होगा कि धार्मिक विश्वासों में परिवर्तन एक कठिन और धीमी प्रक्रिया है। तथापि आजकल यह मानना कठिन हो गया है कि पृथ्वी चपटी है, वह बैलों के सींगों पर टिकी हुई है, और उसके हिलने से भूकम्प होता है या सूर्य पृथ्वी के चारों ओर घूमता है या विभिन्न तारे देवताओं के दीपक हैं। विज्ञान ने हमें इनके सम्बन्ध में सही-सही ज्ञान दे दिया है, जिससे कि पुराने विश्वासों से चिपटे रहना कठिन हो गया है। फिर भी यह सत्य है कि विश्वासों को बदलने में पर्याप्त समय लगा

है। प्रारम्भ में वैज्ञानिक सिद्धान्तों का घोर विरोध हुआ है, वैज्ञानिकों को उन्हें घोषित करने के लिए अनेक यातनाएं और उपहास सहने पड़े हैं। आज भी अधिकांश धार्मिक लोग यह मानने को तैयार नहीं हैं कि वह पशुओं की सन्तान हैं तब भी समझदार धार्मिक आधुनिक वैज्ञानिक गवेषणाओं को मानते हुए ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार दोनों में कोई विरोध नहीं है। भारतवर्ष में भी रवीन्द्रनाथ ठाकुर और श्री अरविन्द जैसे आध्यात्मिक विचारकों का यही मत था।

वास्तव में धार्मिक विश्वास बहुत कुछ ज्ञान की अवस्था पर आश्रित हैं। विश्वास और ज्ञान परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। ज्ञान के परिवर्तन से विश्वास नया स्वरूप धारण करता है। ज्ञान का विकास हमारे सम्मुख अज्ञात की नई-नई कल्पनाएं प्रस्तुत करता है। इलेक्ट्रोन सापेक्षवाद (Relativity), पदार्थ और गति के स्वभाव का ज्ञान हमें नई दृष्टि प्रदान करते हैं। विज्ञान विश्वास के स्वरूप को बदल देता है, पर विश्वास को नहीं नष्ट करता। यही कारण है कि आज कल अनेक प्रमुख ज्योतिषी, गृह नक्षत्रों के स्वरूप, गति, और दूरी से परिचित होते हुए भी, और अनेक चिकित्सक रोगों के कारण, शरीर की कार्य-प्रणाली का सूक्ष्म ज्ञान रखते हुए भी भगवान् में विश्वास रखते हैं। आज के प्रमुख आध्यात्मिक विचारकों के मत में विश्वास से धार्मिक अनुभूति अधिक महत्त्व रखती है; वही धर्म का सार है।

धार्मिक अनुभूति की आवश्यकता

प्राचीन धर्म के गवेषक मानवशास्त्रियों और आधनिक आध्यात्मिक विचारकों का कहना है कि धार्मिक अनुभूति ही धर्म का वास्तविक सार है। विभिन्न धर्मों के वाह्य स्वरूपों और विधि-विधानों में पार्थक्य रहते हुए भी उन सबका लक्ष्य एक है। डा० भगवानदास इसे सब धर्मों की मौलिक एकता कहते हैं। स्वामी विवेकानन्द ने इसी सार्वभौम धर्म का प्रतिपादन किया है। धार्मिक अनुभूति सब धर्मों में समान है। परमसत्ता से तादात्म्य उसका तत्त्व है। रामकृष्ण परमहंस ने इस्लाम, हिन्दू और ईसाई तीनों मुख्य मार्गों से साधना कर इस एकता का अनुभव किया है। इस धार्मिक अनुभूति का वर्णन सरल नहीं है। इसे अनिर्वचनीय कहा गया है। कबीर ने इसकी गूंगे के गुड़ से तुलना की है। रवीन्द्रनाथ ने इस अवस्था को प्राणिमात्र में एकात्मभाव कहा है।

यह कहा जा सकता है कि आधुनिक संस्कृति में ऐसे धर्म की परम आवश्यकता है। विज्ञान के विकास ने भयसंचारक भूत-प्रेत और काल्पनिक

कथाओं पर आश्रित धर्म को हिला दिया है। फिर भी आज की शहरी सभ्यता ऐसी यन्त्रवत् है कि जिसमें बहुत बार लाखों में भी मनुष्य अपने को एकाकी अनुभव करता है, अपार भौतिक सुखों के बीच भी कभी-कभी बड़ी शून्यता अनुभव करता है। पुराने युग में उसे रोटी के संघर्ष से फुरसत न थी। आज अवकाश ने उसकी मानसिक जिज्ञासाओं और भावात्मक पिपासाओं को बहुत बढ़ा दिया है। मनुष्य के जीवन में एक समय आता है जब उसका अन्तरतम विक्षुब्ध हो उठता है। ऐसे समय उसे धार्मिक अनुभूति ही शांत कर सकती है। अनेक बार हमारा वातावरण हमें ऐसे कार्य करने पर मजबूर कर देता है जिसके लिए हमें लज्जा होती है, पश्चात्ताप होता है। ऐसे क्षणों में धार्मिक अनुभूति ही हमें जीवित रख सकती है, सान्त्वना दे सकती है। धार्मिक अनुभूति ही वह भावना है जो हमें धन, मान, यश आदि की प्रतिद्वन्द्वी भावनाओं से ऊपर उठा सकती है; एक उच्चतर लक्ष्य को प्रस्तुत कर एकात्मक शक्ति उत्पन्न कर सकती है। इससे हमें व्यक्तित्व के एकीकरण में सहायता मिल सकती है और हम जीवन के व्याघातों में बेहतर संतुलन स्थापित कर सकते हैं। कभी-कभी हमारे जीवन में तनाव इतना बढ़ जाता है कि उसे किसी मार्गदर्शक की आवश्यकता अनिवार्य हो जाती है।

मानव प्राणी धार्मिक अनुभव क्यों चाहते हैं, यह एक मनोरंजक प्रश्न है। शायद संस्कृति से मानव-प्रकृति का संतुलन-स्थापन ही इसका मुख्य कारण है। विभिन्न प्रकार के दबाव, एकाकीपन, प्रलोभन, चिन्ता, मानसिक संघर्ष हमारे सामाजिक जीवन का परिणाम हैं, असंतोष के द्योतक हैं और संस्कृति के साथ मानव-प्रकृति के असंतुलन को सूचित करते हैं। यदि धर्म ऐसी स्थिति में मानव मन को शान्ति प्रदान करता है, सहारा देता है, उच्च लक्ष्य पर चलने की प्रेरणा देता है तो धर्म की आवश्यकता है। अनुभूतिशील धर्म ने इस आवश्यकता को पूरा किया है। पर दुःख का विषय है कि संस्थात्मक धर्म ने संसार में अशांति, घृणा और संघर्ष की सृष्टि की है। संस्थाशील या संगठित धर्म विश्वासों पर आधारित और प्रतिगामी रहा है। धार्मिक अनुभूति इससे पृथक् चीज़ है। कुछ लोगों का ख्याल है कि हम बिना धर्म के समाज को चला सकते हैं। यह लोग धार्मिक अनुभूति को भूल जाते हैं और धार्मिक विश्वास पर चले जाते हैं।

धर्म और सामाजिक प्रश्न

व्यक्तिगत आचार धर्म का प्रमुख विषय रहा है। प्रत्येक धर्म में दया, उदारता और प्रेम की शिक्षा दी गई है। धर्म व्यक्तिगत आचरण की नैतिकता

निर्धारित करता है। क्या उसे सामाजिक ग्राचरण की नैतिकता को भी निर्धारित करना चाहिए ? व्यक्तिगत सम्पत्ति, जमींदारी, सूदखोरी, मजदूर संगठन, मज़दूरी-निर्धारण, बेकारी, बीमा, राष्ट्रीयकरण, कुछ ऐसे ही प्रश्न हैं । समस्त देशों का अनुभव यह बतलाता है कि इन प्रश्नों को हम व्यक्तिगत सदाचरण पर बल देकर नहीं सुलझा सकते। जहां विरोधी स्वार्थों का प्रश्न आता है, वहां सामूहिक कार्यवाही की जरूरत होती है। सामूहिक कार्यवाही के अभाव में यदि कुछ व्यक्ति सदाचार को, मानवता की भावना को व्यावहारिक स्वरूप देने लगें तो उनका तो दिवाला ही निकल जाय, जबकि अन्य सब लोग उनका अनुकरण नहीं कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में सामाजिक हस्ताक्षेप की आवश्यकता पड़ती है। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि धर्म ने व्यक्तिगत आचार पर बहुत बल दिया है, सामाजिक व्यवस्था में सुधार का कोई ज़िक्र नहीं किया है। इसका यही कारण है कि धर्म विद्यमान सामाजिक व्यवस्था को सत्य और सही मान लेता है। गरीबों की गरीबी और असहायता की जिम्मेदारी सामाजिक व्यवस्था पर न हो उनके भाग्य पर पड़ती है, जिससे वह केवल किसी करिश्मे द्वारा ही छुटकारा पा सकते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि सामाजिक प्रश्नों को सुलझाने में धर्म सर्वथा असफल रहा है और उसने सदा विशिष्ट शासक वर्ग के स्वार्थों का ही संरक्षण किया है। धर्म के प्रति वर्तमान उदासीनता और विरोध का यह एक बड़ा कारण है। इसीलिए पाश्चात्य देशों में तो कम-से-कम चर्च ने सामाजिक सुधार में दिलचस्पी दिखाई है। भारत में इस दृष्टि से अभी कोई जागृति दृष्टिगोचर नहीं होती और ऐसा प्रतीत होता है कि धार्मिक संस्थाएं किसी भी प्रकार के सामाजिक सुधार के सर्वथा विरुद्ध हैं।

बारहवां अध्याय

आर्थिक संस्थाएं

जीविका उपार्जन और सम्पत्तिसंचय से सम्बद्ध क्रियाएं आर्थिक संस्थाओं के अन्तर्गत हैं। हमारी संस्कृति का बड़ा भाग इन्हीं क्रियाओं से संयुक्त है। हमारे विभिन्न प्रकार के कृषिकर्म, दस्तकारी, छोटे-बड़े उद्योग, कल-कारखाने, यातायात और संवादवहन के साधन, क्रय-विक्रय, साख और मुद्रा-संस्थाएं इसका अंग हैं। इन संस्थाओं पर व्यक्तियों, साझीदारों अथवा हिस्सेदारों का स्वामित्व हो सकता है, पारस्परिक प्रतियोगिता अथवा एकाधिकार हो सकता है, सहकारी अथवा सरकारी नियन्त्रण या प्रभुत्व हो सकता है। हमारा बड़ा समय आर्थिक समस्याओं को सुलझाने और आर्थिक कर्मों को करने में चला जाता है। यह समस्याएं इतनी जटिल हैं कि उन्हें लेकर एक पृथक् विज्ञान की ही रचना हुई है जिसे कि अर्थशास्त्र कहते हैं।

हमारे आर्थिक संगठन अनेक गंभीर बुराइयों से ग्रसित हैं। निर्धनता, बेकारी, समय-समय पर आने वाली भीषण मन्दियां, आर्थिक वस्तुओं और सम्पत्ति का अत्यन्त असमान वितरण, पारस्परिक प्रातियोगिता और तज्जनित बरबादी, उपयोगी वस्तुओं की कमी रहते हुए भी विलासिता की वस्तुओं का निर्माण इनमें से मुख्य हैं। इन्हीं से सम्बद्ध पूंजीवाद की कार्यक्षमता और नियन्त्रण तथा आर्थिक संगठनों और सरकार के बीच सम्बन्धों की समस्या है। वास्तव में यह प्रश्न ठीक समाजशास्त्र के न होकर अर्थशास्त्र के हैं। पर क्योंकि आर्थिक जीवन अधिजैविक (Superorganic) के सामान्य ढांचे का ही एक हिस्सा है अतः समाजशास्त्री द्वारा इनका अध्ययन एक बेहतर और विस्तृत दृष्टि प्रदान करता है। आर्थिक समस्याओं को एकाकी नहीं सुलझाया जा सकता। आर्थिक जीवन के साथ अन्य संस्थाओं के सम्बन्ध को समझना जरूरी है। समाजशास्त्र का कार्य, समाज की सम्पूर्ण सांस्कृतिक विरासत अर्थात् विभिन्न सामाजिक संस्थाओं का जिनमें कि आर्थिक भी सम्मिलित हैं, अध्ययन करना है।

आदिकालीन अर्थव्यवस्था

आर्थिक जीवन का आरम्भ

एक सामाजिकसंस्था भौतिकसंकृति की भांति पत्थर या धातु के औज़ारों के कोई अवशेष नहीं छोड़ती, जिनके आधार पर उसके तत्कालीन रूप की कल्पना की जा सके। अधिकांश उच्च पशु भोजन-संग्रह में ही व्यस्त रहते हैं और उनकी एकमात्र सम्पत्ति एक घोंसले के अतिरिक्त और कुछ नहीं होती। इसीलिए आर्थिक जीवन के आरम्भकाल का निर्धारण करना बड़ा दुष्कर कार्य है। पालतू पशु एक रेवड़ की शक्ल में चारे की तलाश में निकलते हैं; भेड़िये किसी के नेतृत्व में एक दल बनाकर खाने की खोज में निकलते हैं। दस लाख या इससे भी अधिक सालों तक, जब तक मनुष्य का उसके वर्तमान रूप में विकास हुआ, उसका जीवन भोजन पर ही केन्द्रित था। मनुष्य जाति का वह भाग जो ठण्डे प्रदेशों में रहता था, उसे अवश्य कपड़े बनाने की भी चिन्ता हुई होगी।

पुरुष की प्रारम्भिक आर्थिक क्रियाओं का अनुमान हम उन पत्थर के औज़ारों से लगा सकते हैं जो आज हमें पृथ्वी के भूतल से प्राप्त हुए हैं। वर्तमान सरलतम प्रागक्षर संस्कृतियों के अध्ययन से भी हमें इसका थोड़ा संकेत मिलता है, किन्तु पूरी सूचना नहीं मिलती, क्योंकि जिन आदि संस्कृतियों से हम परिचित हैं वह भी बहुत विकसित हैं। किन्तु ये निस्संदेह हमें आर्थिक जीवन के विकास के सम्बन्ध में पर्याप्त ज्ञान तथा आर्थिक शुरूआत के सम्बन्ध में भी कुछ अनुमान प्रदान करती हैं।

फल-संचय और शिकार

मनुष्य के शरीर के विश्लेषण से पता चलता है कि वह मूलतः वृक्षवासी था। उसकी आदिम आर्थिक क्रियायें कन्द-मूल-फल का संचय थीं। मनुष्य को हम सर्वप्रथम फलसंचक संस्कृति में पाते हैं। उसके साथ-ही-साथ अथवा कुछ पश्चात् उसने शिकार, अर्थात् जलचर और थलचर जन्तुओं को फंसाने व मारने के प्रयत्न भी शुरू किए। उसके भोजन में मांस की तुलना में प्रायः शाक का ही अनुपात अधिक था। पर सब जगह एक सी स्थिति न थी। जहां जानवर प्रचुर संख्या में पाये जाते थे वहां पर मांसभक्षण का प्रचार अधिक होगा। उदाहरण के लिए, मैदान में रहने वाले रैंड इंडियनों का मुख्य खाद्य भैंसे हैं। इसलिए फलसंचक संस्कृतियों, जो प्रधानतया शाकाहार पर निर्भर करती हैं, और शिकारी संस्कृतियों को पृथक् करना बेहतर होगा।

स्त्री-पुरुषों में श्रम विभाजन

भोजन प्राप्त करने और पकाने का प्रारम्भिक संगठन स्त्री-पुरुषों के वीच श्रम विभाजन है। जहां शिकार भोजन का मुख्य स्रोत है वहां पुरुष प्रायः शिकार करते हैं। स्त्रियां प्रायः कन्द, मूल, फल, फलियों और गिरियों को वटोरती हैं। इस सम्वन्ध में विभिन्न जातियों में अपवाद और भिन्नताएं पायी जाती हैं।

विभिन्न शिकारी संस्कृतियां एक सी नहीं हैं। फिर भी उनमें वहुत सी वातें मिलती-जुलती हैं। एक वात ध्यान देने की है कि उन जातियों में जहां आने-जाने के साधन सीमित और भोजन को सुरक्षित रखने के साधन अविकसित हैं, शिकार और फल संचय से साल भर गुजर करना वड़ा कठिन हो जाता है। इसीलिए कभी-कभी एक वर्गमील और कहीं-कहीं पर पन्द्रह वीस वर्गमील में एक आदमी का पाया जाना आश्चर्य की वात नहीं है। शिकारी लोग प्रायः अकेले परिवारों में नहीं रहते, वह छोटे-छोटे समुदायों और समूहों में रहते हैं जो वीसियों व्यक्तियों या परिवारों से मिलकर वने होते हैं।

परिवार और समुदाय के आर्थिक कार्य

परिवार वस्तुओं के उत्पादन और उपभोग की महत्वपूर्ण संस्था है। परिवार के स्त्री-पुरुष वाहर से जो खाद्य वस्तुएं लाते हैं उन्हें रांधना प्रायः गृह-पत्नी का काम होता है और फिर केवल परिवार ही उत्पादन और उपभोग की एकान्त संस्था नहीं है। कई वार भैंसों या अन्य जानवरों का शिकार करने के लिए वहुत से, एक परिवार के सदस्यों से अधिक लोगों की ज़रूरत होती है। कभी-कभी यह शिकारी दल हफ़्तों और महीनों वाहर रहते हैं। मुख्यतया उपभोग की इकाई परिवार ही होती है, पर उत्सवों और त्यौहारों के मौकों पर सामूहिक भोजन का आयोजन होता है। इस तरह हम देखते हैं कि परिवार और समुदाय दोनों ही उत्पादन और उपभोग की इकाई का काम करते हैं।

प्रारम्भिक पूंजी

शिकारी परिवारों और समुदायों की पूंजी वहुत ही सरल और अल्प थी। भाले, तीर-कमान, मछली पकड़ने के कांटे, नावें और छद्मवेश उनमें मुख्य थे। मछली, चिड़ियों और वड़े जानवरों को पकड़ने के जालों की अनेक क़िस्में थीं।

व्यापार का उद्गम Barter.

प्रारम्भिक आरण्यक समुदाय आर्थिकदृष्टि से आत्मनिर्भर थे और परिणामतः व्यापार पर आश्रित न थे। प्रायः विभिन्न बस्तियों के बीच का फासला काफी था और यातायात के साधन अविकसित थे। शिकारियों के पास बोझा ढोने वाले पालतू जानवर प्रायः न थे। इसलिए विभिन्न कबीलों के बीच व्यापार संभव न था। व्यापार में दूसरी कठिनाई मान्य विनिमय के माध्यम का अभाव था। सजावटी किस्म के टिकाऊ पत्थर, कौड़ियां आदि मुद्रा का कार्य करती थीं। पड़ोसी कबीलों में ही कुछ व्यापार होता था जिसका आधार अदल-बदल (Barter) था। एक कबीले में मछली, गिरियों, खालों आदि की कमी व्यापार को प्रेरित करती थी। किन्तु सामान्यतः शिकारी लोगों के जीवन में व्यापार का नगण्य स्थान था।

ऐसा मालूम होता है कि कुछ शिकारी लोग व्यापार करना बिल्कुल नहीं जानते। जब गोरे व्यापारी कुछ आरण्यकों से चीजें बदलने गये तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ कि कोई उनकी वस्तुएं भी 'बदल सकता है। कुछ स्थानों में मौन-व्यापार की प्रथा प्रचलित है। एक निश्चित स्थान पर, एक दल, जो वस्तुएं वह देना चाहता है छोड़ जाता है। बाद में वह आकर देखता है कि वह वस्तुएं ग़ायब हैं और उनकी जगह दूसरी वस्तुएं रखी हुई हैं। इससे अनुमान होता है कि व्यापार मनुष्य की मूलप्रवृत्ति (Instinct), या उसके लिए प्राकृतिक चीज नहीं है। इसका आविष्कार हुआ है, यह सीखी गई है, और संस्कृति के विकास में इसका बाद में आगमन हुआ है।

उपहार विनिमय का माध्यम

बहुत से समुदायों में उपहार विनिमय के माध्यम का पार्ट अदा करते हैं। मुद्राविहीन समाजों में उपहार मुद्रा का सामाजिक पूरक है। इस तरह जब कभी किसी के यहाँ शादी-ब्याह या कोई अन्य उत्सव होता है तो लोग उसे उपहार देते हैं, बाद में उनके यहां ऐसा अवसर आने पर उन्हें भी बदले में उपहार दिये जाते थे। यह पद्धति हमारे यहां के रिवाज से बहुत मिलती-जुलती है। जैसा कि हमारे यहां भी रिवाज है, प्रारम्भिक संस्कृतियों के लोग इस बात को खूब अच्छी तरह याद रखते हैं कि कितनी कीमत की वस्तु उन्हें भेंट की गई और अगर कोई ऐसा कार्य है जो कि सामूहिक सहयोग से किया जाता है, जैसे कि छप्पर का बनाना, तो उसमें दूसरे व्यक्ति ने कितने उत्साह या आलस्य से सहयोग दिया।

और अपनी बारी आने पर उपहार या सामूहिक सहयोग देते समय इन सब बातों का ध्यान रखा जाता है।

इस तरह आरण्यक समाजों में लेन-देन विनिमय की एक प्रचलित रीति है। वस्तु का मूल्य मुद्रा के माप की सहायता के बिना प्राप्तकर्त्ता द्वारा याद रखा जाता है। वहां पर कोई मजदूरी नहीं होती, किन्तु श्रम के सम्बन्ध में यह साधारण नियम होता है कि यदि तुम मेरी मदद करोगे, तो मैं तुम्हारी मदद करूंगा।

आतिथ्य एक आर्थिक सेवा

आरण्यक जातियों में आतिथ्य सार्वभौम है। उनमें आतिथ्य वही कार्य करता है जो कि आजकल के बैंक करते हैं। उपहार की भांति आतिथ्य-प्रदान करने का कार्य भी एकतरफा न होकर दोतरफा है। प्रत्येक मुसाफिर को भोजन और आश्रय पाने का अधिकार प्राप्त होता है। जब तक कि दूसरे के पास भोजन है, किसी व्यक्ति को भूखे नहीं मरने दिया जाता। कभी-कभी बूढ़े या सख्त बीमार व्यक्तियों को मरने छोड़ दिया जाता है। किन्तु वह विशेष अवस्था है जिसमें जान-बूझ कर ऐसा किया जाता है।

आतिथ्य व्यवहार कभी-कभी अपनी चरम सीमा को पहुंच जाता है। यह अनेक प्रकार की वस्तुएं उधार लेने का अधिकार प्रदान करता है। आरण्यकों में रुपया उधार देने या कोई चीज़ किराये पर देने का रिवाज नहीं है। पारस्परिक आतिथ्य इस कमी को पूरा करता है। शिकार में इस्तेमाल होने वाले कुछ अस्त्र अवश्य उधार नहीं दिये जाते किन्तु अन्य वस्तुएं बिना स्वामी को बताये तक भी ली जा सकती हैं। टूट-फूट हो जाने पर उनकी क्षति-पूर्ति नहीं करनी पड़ती।

इस तरह हम देखते हैं कि मज़दूरी, लगान, व्याज, व्यापार और मुद्रा, प्रारम्भिक आर्थिक संगठन में नहीं पाई जातीं। यद्यपि इन द्वारा संपादित किये जाने वाले कार्य उपहारों के लेन-देन और आतिथ्य द्वारा सम्पन्न हो जाते हैं।

सम्पत्ति के प्रति प्रारम्भिक दृष्टिकोण

उपहार देने, आतिथ्य, बिना व्याज उधार लेने-देने और भूमि के सार्वजनिक प्रयोग ने ऐसी धारणा की सृष्टि की है कि आरण्यक शिकारियों में साम्यवाद विद्यमान था। यह प्रश्न कि आरण्यकों में साम्यवाद था अथवा

व्यक्तिवाद और व्यक्तिगत सम्पत्ति का व्यक्तिगत स्वामित्व था या नहीं, यह मानव-प्रकृति के अध्ययन की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। आज के पूंजीवाद में तो धन और व्यक्तिगत सम्पत्ति की तृष्णा हमारी प्रकृति का अंग प्रतीत होती है।

आरण्यक शिकारियों के आर्थिक जीवन के अध्ययन से स्पष्ट है कि उनमें सामूहिक उपभोग और व्यक्तिगत सम्पत्ति दोनों ही तत्त्व विद्यमान हैं। कपड़े, ज़ेवर, हथियार, औज़ार, बर्तन-भांडे, घर, व्यक्तिगत सम्पत्ति होते हैं। शिकार-भूमि समस्त कबीले या बिरादरी की सम्पत्ति होती है। जैसे कि हम वायु के व्यक्तिगत स्वामित्व की कल्पना नहीं कर सकते, ऐसे ही वे लोग भूमि के व्यक्तिगत स्वामित्व की कल्पना नहीं कर सकते। आरण्यकों में सामान्यतः उत्पादन के साधन और जीवन की आवश्यकताएं जैसे कि भूमि या भोजन व्यक्ति की सम्पत्ति न होकर समस्त परिवार, बिरादरी या कबीले की होती हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि सामूहिक रिवाज़ बहुत कुछ जीवन की अवस्था की उपज होते हैं। शिकार किये जाने वाले जानवरों की गतिशीलता और उन्हें पाने के लिए तय किया जाने वाला फासला शिकार-भूमि के व्यक्तिगत स्वामित्व को कठिन बना देते हैं। भौतिक आविष्कार और सम्पत्ति की तुलनात्मक न्यूनता हमारी तुलना में आरण्यक लोगों के जीवन में सम्पत्ति के महत्त्व को बहुत कम कर देते हैं। हमारी दृष्टि में धन-सम्पत्ति का बड़ा मान है। आरण्यकों में क्षमता और ख्याति की बड़ी प्रतिष्ठा है। इसीलिए आरण्यकों में निन्दा को बहुत बुरा माना जाता है और उसकी बहुत सख्त सज़ा है। बावज़ूद इसके, कभी-कभी आरण्यक एक छोटे से चाकू तक के लिए खून करते पाये गये हैं, जिससे प्रकट होता है कि वह भी सम्पत्ति के मोह से मुक्त नहीं हैं।

मृत्यु के पश्चात् सम्पत्ति का निपटारा भी सम्पत्ति के प्रति उनके दृष्टिकोण को प्रतिबिम्बित करता है। प्रायः जब कोई आरण्यक शिकारी मरता था, उसके साथ उसकी सम्पत्ति गाड़ दी जाती थी। इस रिवाज़ का मूल पुनर्जन्म में विश्वास था, इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि आरण्यकों की दृष्टि में सम्पत्ति का कोई मूल्य नहीं है। इसके विपरीत, रिवाज़ से यह प्रकट होता है कि उसे पर्याप्त महत्त्व और मान दिया जाता है। और जबकि सम्पत्ति का उत्तराधिकार इतना महत्त्वपूर्ण नहीं माना जाता था, नाम का उत्तराधिकार मान्य था, जैसाकि आजकल के राजकुलों में होता है। नाम का महत्त्व दर्शाता है कि ख्याति का कितना महत्त्व है। इस तरह ख्याति भी स्वयं एक मूल्यवान् सम्पत्ति बन सकती है।

आर्थिक प्रेरक : सम्पत्ति वनाम सम्मान

वर्तमान अर्थव्यवस्था का मूल प्रेरक धनप्राप्ति की लालसा और लाभ-अर्जन की प्रवृत्ति है। पूंजीपतियों का कहना है कि यदि लाभ की प्रेरणा न रहे तो आदमी कार्य ही क्यों करेगा; साम्यवाद सफल नहीं हो सकता क्योंकि उसमें आदमी को कार्य करने की कोई ऐसी प्रेरणा नहीं रहती। इस सम्वन्ध में आरण्यक व्यवस्था कुछ प्रकाश डाल सकती है। आरण्यक व्यवस्था में सम्पत्ति वहुत कम और उत्पादन-सम्पत्ति सामूहिक होती है।

आरण्यक संस्कृतियों में लाभ-प्राप्ति की इच्छा का लोप नहीं है। जो सवसे अधिक भोजन संचय करता है उसे सवसे अधिक भोजन मिलता है और वही सवसे वड़ी दावत दे सकता है। पर साथ ही यह भी दिखाई देता है कि सर्वोत्तम शिकारी को सवसे अधिक मांस नहीं मिलता लेकिन उसका सवसे अधिक सम्मान होता है। सुस्त शिकारी को उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता है। अल्पसम्पत्ति वाली आरण्यक जातियों में सम्पत्ति के स्थान पर सम्मान की अधिक प्रेरणा है।

उत्तरी पश्चिमी प्रशांत-तट के अमरीकन इंडियनों की पोलटाश प्रतियोगिता इसका एक मनोरंजक उदाहरण है। ये आरण्यक एक वड़े उत्सव पर एकत्रित होते हैं और उस अवसर पर कम्वल, जिन्हें कि ये सवसे कीमती समझते हैं, दूसरों को दान करते हैं। दान लेने वाले को उसमें अपनी सामर्थ्यानुसार अधिक-से-अधिक वृद्धि करके लौटाना होता है। हमारी संस्कृति के विपरीत, वहां वह आदमी सवसे वड़ा समझा जाता है जो अधिक-से-अधिक व्याज दर दे सके। ऐसी स्थिति में सम्पत्तिसंचय की कल्पना नहीं की जा सकती, जव तक कि उसका उद्देश्य तत्काल पुनर्वितरण न हो। इससे स्पष्ट है कि मानव-जीवन के लक्ष्य उस संस्कृति से निर्धारित होते हैं जिसमें कि वह रहता है।

हमारी दृष्टि से विभिन्न संस्कृतियों में आर्थिक क्रियाओं की मूल प्रेरणाएं वड़ी विचित्र हैं। लिन्टन ने जव तनानारीव के एक व्यापारी से कोई वस्तु खरीदी तो उसने उससे एक चौथाई अधिक कीमत वसूल की किन्तु जव लिन्टन ने उसी कीमत पर सारा स्टाक वेचने को कहा तो उसने साफ़ इनकार कर दिया और कहा कि वह दिन भर खाली वैठा क्या करेगा। मैक्सिको में एक अमरीकी राजदूत ने दो डालर देकर एक हाथ की वनी कुर्सी खरीदी किन्तु जव उसने वैसी ही दस कुर्सियां और खरीदने की इच्छा प्रकट की तो उसे उसकी कीमत

पच्चीस डालर बताई गयी और उसका कारण यह बताया गया कि दस कुर्सियां बनाने में बनाने वाले का दिल बहुत ऊब जायेगा।

सामान्यत: संस्कृति का आर्थिक जीवन से सम्बन्ध

ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट है कि आरण्यक समाज में आर्थिक क्रियाएं अन्य संस्थाओं से घनिष्ठतया सम्बन्वित होती हैं। पोटलास उत्सव और त्योहार से सम्बद्ध होता है। विवाह या उत्सवों पर उपहार देकर वस्तुओं के विनिमय को सम्पन्न किया जाता है। कभी-कभी शिकार धर्म और जादू-टोने से भी घनिष्ठतया संयुक्त होता है। कुछ पशु कबीले के गणचिन्ह (Totem) बन जाते हैं और वह अवध्य समझे जाते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि विनिमय, व्यापार, उत्पादन और वितरण से सम्बद्ध प्रक्रियाएं समुदाय की मान्यताओं के अनुरूप होती हैं। आरण्यक आर्थिक जीवन परिवार, धर्म, सामुदायिक परम्परा और रीति से घनिष्ठतया सम्बन्वित है।

(२) आर्थिक संस्थाओं का विकास

आर्थिक जीवन और भौतिक संस्कृति

आर्थिक जीवन केवल सामुदायिक मान्यताओं और आचार से ही सम्बन्धित नहीं है, यह औज़ारों और आविष्कारों का भी परिणाम है। दो आविष्कारों ने धीरे-धीरे शिकारी को समाप्त कर दिया और उन आर्थिक प्रक्रियाओं को तेज़ कर दिया जिनसे हम परिचित हैं। पशुओं, विशेषकर बड़े ढोरों का पालन और कृषि, यह वे दो आविष्कार थे। शिकारी लोग शिकार में सहायता के लिए कुत्ते तो पालते थे पर बड़े जानवरों के उपयोग से अपरिचित थे। पौधे लगाने और पशु पालने ने अन्य खोजों और आविष्कारों को उत्तेजित किया। हम यह कह सकते हैं कि आर्थिक संगठन का क्रम बहुत कुछ भौतिक संस्कृति के आविष्कारों पर निर्भर है।

ऐसा ख्याल किया जाता है कि स्त्रियों के प्रयत्नों से कृषि और पुरुषों के प्रयत्नों से पशुपालन का जन्म हुआ। कृषि ने खाद्यपूर्ति में पर्याप्त स्थिरता और निश्चितता ला दी। कृषि के करने के साधन पशुओं को पालने की तुलना में अधिक विस्तृत थे। इसीलिए पशुपालकों की तुलना में कृषि पर अधिक व्यक्ति निर्भर हो सके। हल के विकास और पशुपालन के प्रसार ने भोजन-प्राप्ति के दोनों तरीकों को पास ला दिया, जैसा कि इतिहास के एक काल में प्रकट हुआ।

प्रारम्भिक कृषि

स्थिरवास, निश्चित खाद्यपूर्ति और वड़े समुदाय का विकास. खेती की प्रारम्भिक अवस्था में कुदाल या अन्य कोई नोकीला औजार, न कि हल, खेती के मुख्य यन्त्र थे। कुदाल-कृषि, शिकार की तरह सरल चीज़ न थी वल्कि एक कला थी। नई अर्थ-व्यवस्था का मुख्य परिणाम भोजन की खोज में इधर-उधर घूमने के वजाय एक जगह वसना था। कृषि ने खाद्यपूर्ति को वहुत सरल और निश्चित किया, वड़े समुदायों का भरण-पोषण संभव वनाया तथा जन-संख्या के घनत्व में वृद्धि की।

भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व. कृषि ने भूमि के व्यक्तिगत स्वामित्व पर वल दिया। यद्यपि वहुत वार कृषि-संस्कृतियों में ज़मीन सारी विरादरी की होती थी और वाद को उसे अलग-अलग परिवारों में वांट दिया जाता था। फसल उन व्यक्तियों की सम्पत्ति होती थी जोकि उन्हें पैदा करते थे। कुछ कार्य जैसे वुवाई, कटाई या गहाई सामूहिक रूप से किये जाते थे। इस भांति सामूहिक रूप से कई परिवार भोजन के मालिक होते थे।

अन्य आविष्कारों को प्रोत्साहन. कृषि के स्थिर जीवन के साथ अन्य आविष्कार भी जुड़े हुए हैं। वर्तन वनाने की कला प्रायः कृषि के साथ ही उद्भूत हुई। वालों, ऊन या सूती कपड़े का वुनना भी कृषि-संस्कृतियों में प्रारम्भ हुआ। शिकारी लोग तो खालों या फरों से अपनी आच्छादन की आवश्यकता को पूरा कर लेते थे। कृषि से सम्वद्ध निश्चित निवास तथा विकसित आविष्कारों ने गृह-निर्माण की नींव डाली। यद्यपि इसके अपवाद भी मिलते हैं, जैसा कि प्रत्येक सांस्कृतिक तथ्य के साथ होता है।

श्रम-विभाजन का सूत्रपात. कपड़े, वर्तन, टोकरियों, फसलों आदि की वृद्धि के साथ सम्पत्ति जमा होने लगती है और पर्याप्त महत्त्व धारण कर लेती है। इसके अतिरिक्त, इन कार्यों द्वारा अपेक्षित विशेष योग्यता श्रम-विभाजन और विशिष्टीकरण को जन्म देती है। इस तरह विनिमय के अनुकूल स्थिति उत्पन्न होती है और व्यापार की शुरुआत होती है।

पशु-पालन

पशु-पालन से पहले की तुलना में खाद्यपूर्ति की अनिश्चितता कम हो गई। यह ठीक है कि सभी पशुपालक जातियां दूध या उसके वने पदार्थों से परिचित नहीं होतीं। उसे खोजने और अपनाने में समय लगता है। फिर भी पशु-पालन

का वड़ा लाभ यह है कि खाना सदा साथ रहता है, न तो इसमें शिकार की अनिश्चितता रहती है न फसल के मारे जाने का भय। झुंडों के वढ़ जाने के साथ विनिमय और व्यापार के लिए सम्पत्ति में वृद्धि हो जाती है। कुछ दशाओं में पशु-पालन पशुओं का झुंडों का पीछा करने से विकसित हुआ, जैसे लापाज-वासी रैंडियरों के झुंडों का अनुगमन करते हैं। ऐसी स्थिति में पशु अर्ध-जंगली अवस्था में रहते हैं।

पशु-पालन स्पष्टतः पुरुषों का कार्य है। इसी लिए पशुपालकों में प्रायः पुरुषों का प्रभुत्व होता है, जब कि कृपि-संस्कृतियों में इससे उलटा होता है।

जहां तक पशुपालक लोगों का झुंडों को लिए घूमने का सम्बन्ध है उनका जीवन एक जगह वसे कृपकों के वजाय शिकारियों से अधिक मिलता-जुलता है। वह अपने साथ अधिक वर्तनभांडे नहीं रखते। वह ऐसे मकान वनाते हैं जिन्हें वह आसानी से समेट सकें और एक जगह से दूसरी जगह ले जा सकें। वनजारे पशुपालकों में लूटपाट, पशुओं की चोरी, अनाज के भंडारों पर हमला करने की प्रवृत्ति वहुत स्वाभाविक थी। घोड़े के पालन ने इसे वहुत सरल वना दिया। घोड़े से आक्रमण कर तेजी से भाग जाना वहुत आसान था। पशुपालक संस्कृति की लड़ाई में घोड़े का वही स्थान था जो कि आजकल तोपों या हवाई जहाजों का है।

दस्तकारी का विकास

पशु पालन और अन्न पैदा करने के विकास के साथ-साथ अन्ततोगत्वा पशुपालन और कृपि संयुक्त हो गये। किसान भेड़ें, वकरियां, ढोर और घोड़े पालने लगे। विशेपतः जहां पर पशुओं द्वारा खींचे जाने वाले हलों का आविष्कार हुआ, ऐसा ही हुआ। हलधर-संस्कृति की अवस्था में सम्पत्ति पर्याप्त विकसित हुई। साथ ही खेती की जमीन, यन्त्रों और उत्पादन पर व्यक्तिगत स्वामित्व का आविर्भाव हुआ। पशुओं द्वारा संचालित हलों की खेती ने खाद्य-पूर्ति को अधिक सुनिश्चित कर दिया। कुछ स्थानों में कृपि-पदार्थ आवश्यकता से अधिक भी होने लगे। जहां नावें या घोड़े उपलब्ध थे वहां उन्हें दूर ले जाकर विक्रय करना संभव हो गया। इसी वीच विभिन्न कलाओं में भी उन्नति हुई। वर्तन वनाने में सुधार हुआ। तकली की कताई के स्थान पर चरखे का आविष्कार हुआ।

हलधर-संस्कृति के विकास तक दस्तकारी एक अच्छे उद्योग के रूप में विकसित हो गई। प्रारम्भिकतम दस्तकारी की वस्तुएं वह थीं जो जानवरों

के शिकार करने और फंसाने के काम आती थीं। यहां तक कि हिम युग में भी हमें नानाप्रकार के काटने, छेदने और घिसने के पत्थर के औजारों के दर्शन होते हैं। जब तक कुदाल का स्थान हल ने लिया विभिन्न प्रकार की दस्तकारी, उत्पादक और उपभोग्य वस्तुएं निर्मित होने लगीं। बोने, काटने, गाहने, पीसने, पशु-रक्षा, दुग्ध-पदार्थ बनाने, खाना पकाने, परसने, घर की रक्षा और सजावट करने, फर्नीचर बनाने, सीने, आग और रोशनी जलाने, कताई, बुनाई, रंगाई, टोकरियां बनाने के उपकरण इसी समय की देन थे।

दस्तकारी के विकास का आर्थिक महत्त्व

दस्तकारी के विकास का पहला परिणाम सम्पत्ति की वृद्धि था। मानव की सम्पत्ति और सम्मान की इच्छा के संघर्ष के बीच सम्पत्ति की इच्छा ज़ोर पकड़ने लगी। दूसरे, जितनी ही वस्तुओं और उनकी किस्मों की संख्या बढ़ी उतनी ही श्रम की आवश्यकता बढ़ी। इस तरह वयस और स्त्री-पुरुष के दायरे को छोड़ श्रम-विभाजन का सिद्धान्त अधिक विस्तृत हुआ।

श्रम विभाजन का विकास. तांबे, टीन, कांसे और लोहे के आविष्कार ने विशिष्टीकरण को और भी बढ़ा दिया और विभिन्न प्रकार के धातु-हथियारों, औज़ारों और जेवरों के निर्माण को प्रोत्साहित किया। बहुत-सी ऐसी चीज़ें जो पहले मिट्टी, लकड़ी, पत्थर, घास या मनकों से बनाई जाती थीं अब धातु से बनाई जाने लगीं। पहले पदार्थों की तुलना में धातु का वितरण असमान था और साथ ही इससे पक्का माल बनाने की प्रक्रिया अधिक जटिल थी जिस पर दक्षता प्राप्त करना सुगम न था। परिणामतः अधिकाधिक विशिष्टीकरण हुआ। इस विशिष्टीकरण ने विनिमय को और अधिक अनिवार्य बनाया।

दूर प्रदेशों में विनिमय का अर्थ व्यापार और यातायात में वृद्धि है। जो स्थान नदियों के समीप थे वहां नाव यातायात का अच्छा साधन सिद्ध हुई। घोड़ों के पालने के पश्चात् भी यह कायम रही। मैदानों को छोड़ कर बिना अच्छे रास्तों के जंगलों में घोड़े की सवारी सुविधाजनक न थी। मानव जाति में सड़कों का निर्माण बहुत बाद की चीज़ है।

व्यापारिक और औद्योगिक नगरों का उद्गम. दस्तकारी में विशिष्टीकरण और यातायात के विकास के साथ व्यापार में वृद्धि हुई। इसने नगरों की नींव डाली। नगरों का यह प्रमुख लक्षण है कि वह अपनी खाद्य आवश्यकताओं को स्वयं पूर्ण नहीं कर सकते। उन्हें बाहर से अन्न मंगाना पड़ता है।

इसके लिए यातायात और व्यापार अनिवार्य होता है। किन्तु नागरिक मुफ्त में अन्न नहीं पा सकते, अतः उन्हें कपड़े, धातु, चमड़े इत्यादि कच्चे माल की ऐसी वस्तुएं बनानी पड़ती हैं, जिनका कि वे विनिमय कर सकें। प्रायः जल-मार्गों पर स्थित ऐसे प्रारम्भिक शहर व्यापार के केन्द्र बन गये। प्राचीन भारत में मौर्य-काल में पाटलीपुत्र, प्रयाग, काशी, ताम्रपर्णी, ताम्रलिप्ति ऐसे ही नगर थे। वस्तुएं प्रायः किसी एक निश्चित स्थान पर एकत्रित कर दी जाती थीं वहीं पर उनका क्रय-विक्रय होता था। कई स्थानों पर इसके लिए सामयिक मेलों और पैंठों का आयोजन भी होता था। अक्सर व्यापार अदल-बदल द्वारा होता था। फिर भी कुछ ऐसी वस्तुएं, जिनकी मांग प्रायः रहती थी उनका अधिक विनिमय होता था। जो ऐसी वस्तुएं हल्की और टिकाऊ होती थीं, जैसे कि सोना-चांदी के अलंकार, उन्होंने मुद्रा का रूप धारण कर लिया। नागरिक जीवन और उसके व्यापार के अनुपात ने मुद्रा के प्रयोग को प्रोत्साहित किया।

आर्थिक संगठन का विकास

आविष्कारों द्वारा संभव उपभोग्य वस्तुओं के परिवर्तित उत्पादन ने तद्‌रूप आर्थिक संगठन को विकसित किया। भौतिक संस्कृति का जिक्र करते समय हम इनमें से कुछ आर्थिक सस्थाओं का जिक्र कर चुके हैं। आदिकाल में उत्पादन प्रायः पारिवारिक संगठन में होता था जहां आयु के अनुसार, और स्त्री-पुरुष के बीच कुछ श्रम-विभाजन अवश्य विद्यमान था। समुदाय कुछ कार्यों में जैसे कि शिकार खेलने, बोने या भूमि को वितरित करने में पारिवारिक संगठन का हाथ बटाता था। समुदाय अपने सामाजिक रिवाजों द्वारा आर्थिक तथा अन्य समस्त आचार की व्यवस्था करता था जिससे कि लोग अति स्वार्थी न हो जायं। विभिन्न संस्कृतियों में विभिन्न अनुपात में उपहारों का आदान-प्रदान, पारस्परिक सहयोग और भूमि का सामूहिक प्रयोग प्रचलित था। शिकारी अवस्था में आर्थिक जीवन पर परिवार और समुदाय का नियन्त्रण था। हलधर और पशु-पालक संस्कृतियों में परिवारसंगठन सम्मिलित खेती पर आधारित हुआ। किसान गांवों में मिल कर रहते थे, अतः वहां पर समुदाय ने उनके आर्थिक जीवन को प्रभावित किया।

सामन्तशाही संगठन

आधुनिक व्यवस्था के आगमन से पहले, विशेषकर जहां केन्द्रीय सरकार नहीं थी, लुटेरों से रक्षा के लिए सामन्तशाही व्यवस्था का जन्म हुआ। अधिक

सम्पत्ति और भूमि के मालिक बड़े किसान दूसरे निर्बल-निर्धन किसानों से कर वसूल करते थे और उन्हें बदले में रक्षा का आश्वासन देते थे। वसूल हुए कर का बड़ा अंश कुछ सशस्त्र सैनिकों को रखने में व्यय हो जाता था। सैनिकों की सहायता से सामन्त प्रभु आसपास के प्रदेशों को भी विजय करते थे और उनसे भेंटें प्राप्त करते थे। सम्पत्ति के कुछ व्यक्तियों में केन्द्रित हो जाने से श्रम विभाजन का और अधिक विकास हुआ। सामन्तशाही व्यवस्था केवल सभ्य संस्कृतियों तक ही सीमित नहीं थी। हमें प्रागक्षर संस्कृतियों में भी प्रारम्भिक या विस्तृत रूप में इसके दर्शन होते हैं।

सामन्तशाही के उदय के शीघ्र बाद ही प्रायः नगरों के आर्थिक और राजनैतिक संगठन का विकास हुआ। विशिष्टीकरण, व्यापार और याता-यात का विकास इसके मुख्य सहायक थे। नगरों में पक्के माल का निर्माण होने के कारण छोटे-छोटे कारखानों में दस्तकारों में बहुत निकट और घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित हुआ और इस तरह दस्तकारी संघों का निर्माण संभव हुआ। दस्तकारी संघ ही वर्तमान श्रमसंघों के अग्रणी थे। उस समय के दस्तकारी संघ ठीक मजदूरों के संगठन न होकर मालिकों के संगठन थे। उस समय तक मजदूर अपने औजारों के स्वयं मालिक थे और उनकी तथा उनके मालिकों की संख्या के अनुपात में बहुत अन्तर न था जैसा कि आज दिखाई देता है।

आधुनिक अर्थ-व्यवस्था

पूंजीवाद

सामन्तवाद के क्षय और औद्योगिक क्रान्ति के उद्भव ने आधुनिक पूंजीवाद की नींव डाली और मुक्त व्यापार (Free trade) तथा राज्य द्वारा अल्पतम हस्ताक्षेप के तत्कालीन उदारवादी सिद्धान्तों ने उसे पोषित किया। इंगलैण्ड औद्योगिक क्रान्ति में अग्रणी था। वाष्पपरिचालित नये यन्त्रों ने उत्पादन के अत्यन्त कुशल और कीमती साधन उपस्थित किए। इन साधनों का स्वामित्व साधारण श्रमिकों के बूते के बाहर था, अतः धनिक पूंजीपतियों ने इन्हें अपनाया। इन नये यान्त्रिक आविष्कारों की सहायता से उत्पादन अत्यन्त सस्ता और अधिक होने लगा। जो वस्तुएं किसी समय केवल कुछ गिने-चुने लोगों को उपलब्ध थीं, वह जनसाधारण के उपभोग की वस्तु बन गईं। आविष्कारों की कृपा से दस्तकारी निर्माण वाष्पयंत्रों के आगमन

से पहले ही काफी उन्नति कर चुका था। वाष्पशक्ति ने इसे नया प्रोत्साहन दिया। वस्तुओं के परिमाण और वैचित्र्य ने उपभोग और उत्पादक वस्तुओं के भेद को उत्पन्न किया।

स्वतन्त्र हाथ के कारीगर नये यन्त्रों की प्रतियोगिता के सामने न टिक सके। उन्हें अपनी जीविका के लिए बृहत् पूंजी से स्थापित कारखानों में शरण लेनी पड़ी। विपुल पूंजी का प्रयोग नई अर्थव्यवस्था का मुख्य लक्षण था अतः इसे पूंजीवाद का नाम दिया गया। विपुल पूंजी का प्रयोग ही केवल इस नई प्रवृत्ति की प्रमुख विशेषता न थी, वरन् तत्कालीन सामाजिक विचार-धारा भी इसका अभिन्न अंग बन गई। इस विचारधारा को अहस्ताक्षेप नीति का नाम दिया जाता है। इसके अनुसार व्यक्तियों और व्यापारियों की अनवरुद्ध प्रतियोगिता में ही समाज और व्यक्तियों का कल्याण निहित है। अतः राज्य को आर्थिक क्रियाओं, उपभोग, वितरण व्यापार आदि किसी भी क्षेत्र में किसी प्रकार का हस्ताक्षेप नहीं करना चाहिए।

सामन्तवाद में दस्तकारी, व्यापार, यातायात पर परिवार का स्वामित्व था। पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत एक परिवार के लिए उत्पादनयन्त्रों को जुटाना सम्भव न रहा। परिणामतः, दो या अधिक परिवारों की साझेदारी शुरू हुई। स्वभावतः उद्योग पर परिवार का प्रभुत्व घटने लगा।

उद्योगों में प्रत्येक साझीदार का अपरिमित दायित्व होता था। इसीसे साझीदारों द्वारा रुपया लेना सम्भव था। नये आविष्कारों ने उत्पादन यन्त्रों के मूल्य को और भी बढ़ा दिया और अब कुछ साझियों द्वारा भी उद्योग का चलाना सम्भव न रहा। ऐसी परिस्थिति में एक ऐसे सामाजिक आविष्कार की आवश्यकता हुई जो पूंजी की बढ़ती हुई मांग को पूरा कर सके। संयुक्त पूंजी की कम्पनियों (joint stock companies) ने इस मांग को पूरा किया। सैकड़ों, हज़ारों व्यक्तियों की थोड़ी-थोड़ी पूंजी को जोड़ कर विशाल पूंजी एकत्र हो गई। इन कम्पनियों में हिस्सेदारों का दायित्व उनके हिस्से की रक़म तक ही सीमित था। परिमित दायित्व ने बहुत लोगों को हिस्सेदार बनने को प्रोत्साहित किया। इसका उत्पादनयन्त्र के स्वामित्व पर क्रान्तिकारी प्रभाव पड़ा। इससे उत्पादनयन्त्र का स्वामित्व एक व्यक्ति के हाथ में न रह कर, सैकड़ों-हज़ारों हिस्सेदारों के हाथों में चला गया। इसका एक और भी महत्त्व-पूर्ण परिणाम यह हुआ कि उद्योग का प्रबन्ध स्वामियों के हाथ में न रह कर कुशल प्रबन्धकों के हाथ में आगया।

दूसरी ओर इससे सैंकड़ों हज़ारों मजदूरों का एक साथ काम करने का अवसर मिला। पूंजीपतियों के शोषण से बचने के लिए और अधिकतम मज़दूरी निश्चित करने के लिए मज़दूर संगठनों की आवश्यकता अनुभव हुई। तत्कालीन उदारवादी विचारधारा ने भी इसमें सहयोग दिया। इस तरह धीरे-धीरे उत्पादन यन्त्र पर पूंजीपतियों का ज़ोर घटने लगा और प्रबन्धकों और मज़दूरों का ज़ोर बढ़ने लगा। पूंजीवाद के अन्दर यह रूपान्तरण मुख्यत: पूंजीपतियों और मज़दूरों के संघर्ष का परिणाम न हो कर, उत्पादन-संगठन के नूतन यान्त्रिक परिवर्तनों का परिणाम था।

कृषि और पूंजीवाद

दस्तकारी की तुलना में पूंजीवाद ने कृषि को बहुत कम प्रभावित किया। वाष्प-शक्ति खेती के लिए अनुकूल न थी। इसलिए औद्योगिक देशों में एक लम्बे समय तक मानव पेशियों, पशुओं और वायु की शक्ति से खेती होती रही। पेट्रोल कम्बशन इंजिन के आविष्कार ने ऊबड़-खाबड़ भूमि पर यन्त्रों की सहायता से खेती को सम्भव और सस्ता बनाया। बीसवीं सदी के मध्य में अब धीरे-धीरे यान्त्रिक शक्ति खेतों में आ रही है। अमरीका, योरोप और रूस के किसान खेतों की बुवाई, कटाई और गहाई के लिए ट्रैक्टरों, सोअरों, मोअरों और थ्रैशरों का प्रयोग करने लगे हैं। फिर भी कृषि में लगी पूंजी की मात्रा बहुत कम है। अमरीका में कृषि भूमि और किसानों के मकानों की कीमत का कुल ७ प्रतिशत अंश कृषि पूंजी में लगा हुआ है। खेती में श्रमिकों की मज़दूरी के रूप में भी बहुत कम पूंजी की ज़रूरत पड़ती है, क्योंकि अधिकतर किसान अपने परिवार के सदस्यों द्वारा ही सारा काम कर लेते हैं। उन्हें बहुत कम बाहरी मज़दूरों को लगाना पड़ता है।

पूंजीवाद में उद्योग की भांति कृषि बड़ी संयुक्त पूंजी की कम्पनियों में संगठित नहीं हो सकी। यह बहुत कुछ आत्मनिर्भर है। इसी कारण इससे सम्बन्धित साख या विक्रय-संस्थाओं का समुचित विकास नहीं हुआ। यातायात के विकास ने कृषि उत्पादन को परिवार के लिए न रख कर बाजारों के लिए बना दिया, यद्यपि कृषि-फार्म अभी भी बिखरे और असंगठित रहे। परिणामत:, आर्थिक मन्दी में कृषि पर ही सबसे अधिक चोट होती है। इसके अतिरिक्त, हाल में कृषि द्वारा यन्त्रों को अपनाना, बड़ी संख्या में खेती से श्रम को हटाने की ओर संकेत कर रहा है।

पूंजीवाद में सम्पत्ति का उत्पादन

पूंजीवाद के अन्तर्गत वस्तुओं के उत्पादन में अभूतपूर्व उन्नति हुई। बड़े पैमाने के उत्पादन ने जनता के लिए उत्पादन की नींव डाली। पुरानी वस्तुओं का उत्पादन बढ़ा, नई-नई वस्तुओं का उत्पादन प्रारम्भ हुआ। विकसित यातायात और विनिमय की सुविधाओं ने उसे और भी प्रोत्साहित किया। अमरीका जैसे देश में आर्थिक प्रगति की दर का औसत २ प्रतिशत प्रतिवर्ष रहा और दो सौ वर्ष में प्रतिव्यक्ति औसत आय चार गुणा से भी अधिक बढ़ गई। इस उन्नति का श्रेय पूंजीवाद को दिया जाता है। वास्तव में जनसंख्या, प्राकृतिक साधनों और आविष्कारों पर किसी समय का उत्पादन निर्भर करता है। चूंकि पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत देशों की जनसंख्या भी पर्याप्त बढ़ी, आविष्कारों की संख्या और कार्यशक्ति भी बहुत तेज़ रफ्तार से बढ़ी, इसलिए यह स्वाभाविक था कि वस्तुओं का उत्पादन बढ़ता। पर महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या अन्य किसी सामाजिक व्यवस्था में यही जनसंख्या और आविष्कार रहने पर क्या यही या इससे उत्तम परिणाम उपलब्ध नहीं किया जा सकता था? इसका निश्चित उत्तर देना कठिन है।

भारतवर्ष में पूंजीवाद अभी पूरी तरह विकसित नहीं हो पाया है। वह अभी प्रारम्भिक अवस्था में है। अभी भी यहां कृषि और बहुत से उद्योगों में सामन्तशाही व्यवस्था के अवशेष बाकी हैं। फिर भी इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि पिछले सौ सालों में जनसंख्या की वृद्धि के बावजूद प्रतिव्यक्ति उत्पादन यहां पर बढ़ा है।

पूंजीवाद में सम्पत्ति का विभाजन

कुछ व्यक्तियों की व्यक्तिगत सम्पत्ति या पूंजी से लाभ अर्जन की प्रेरणा के अन्तर्गत बड़े पैमाने पर पूंजीवादी उत्पादन शुरू हुआ था। ऐसी स्थिति में लगान, मज़दूरी और लागत को निकालकर जो कुछ बच रहता था, वह उद्योगपति का मुनाफ़ा था। सामान्यतः उसकी मात्रा एक सामान्य मज़दूर की आय की तुलना में सैकड़ों और हज़ारों गुणा होती थी। इस तरह पूंजीवाद में व्यक्तियों की आय में अत्यन्त अधिक अन्तर विद्यमान रहता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति और उद्योगों की आय विपुल आय के मुख्य साधन हैं। विभिन्न व्यक्तियों की आयों के अत्यधिक अन्तर में योग्यता गौण और सम्पत्ति का असमान वितरण मुख्य कारण है। यह बात मार्के की है कि बराबर आय वाले विभिन्न पारिवारिक वर्गों की आय की वक्ररेखा एक समकोण त्रिभुज की भांति है, जब कि

उनके आनुवंशिक गुणों की वक्र रेखा घंटीनुमा वक्ररेखा की भांति है। इससे स्पष्ट है कि पूंजीवाद के अन्दर योग्यतानुसार आय का अन्तर नहीं है। यदि ऐसा होता तो आय की वक्ररेखा समकोण त्रिभुज के समान न होकर घंटीनुमा वक्ररेखा की भांति होती।

मुक्त उद्योगव्यवस्था और लाभ-अर्जन की मूल प्रेरणा ने आय के वितरण में बहुत असमानता ला दी। किन्तु पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था में भी प्रगतिशील आयकरपद्धति और मृत्युशुल्क के आरोप द्वारा यह असमानता पर्याप्त कम कर दी गई है। यह कहना अवश्य कठिन है कि असमान आय केवल पूंजीवादी व्यवस्था की ही विशेषता है, क्योंकि हम देखते हैं कि साम्यवादी रूस में भी व्यक्तियों की आय में पर्याप्त अन्तर विद्यमान है। भारतवर्ष में भी विभिन्न वर्गों और व्यक्तियों की आय में बहुत असमानता दृष्टिगोचर होती है।

श्रमिकों की अवस्था

पूंजीवादी अल्पतम हस्ताक्षेप नीति का प्रारम्भ में मजदूरों पर तो बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ा। उत्पादन के साधनों से वंचित असंगठित मजदूर सर्वथा असहाय थे। निर्धन और सम्पत्तिविहीन होने के कारण उनकी प्रतिरोधशक्ति शून्य थी। परिणामतः उन्हें कम-से-कम मजदूरी पर, जो उन्हें केवल ज़िन्दा रखने के लिए पर्याप्त थी, अधिक से अधिक घंटे काम करने के लिए राज़ी होना पड़ता था। अनेक तत्कालीन विचारकों ने इसे पूंजीवादी व्यवस्था का अवश्यंभावी परिणाम और स्थायी लक्षण समझा। इसी को देख कार्ल मार्क्स ने पूंजीवाद में मजदूरों की अवस्था निरन्तर गिरने की भविष्यवाणी की। पर धीरे-धीरे अवस्था परिवर्तित हुई, जिस अल्पतम हस्ताक्षेप नीति ने प्रारम्भ में पूंजीपतियों को श्रमिकों के शोषण की स्वाधीनता प्रदान की थी, उसी ने बाद में मजदूरों को संगठित होने का अवसर प्रदान किया। श्रमसंघों की स्वीकृति और विकास से मजदूरों की प्रतिरोध-शक्ति और सौदा करने की शक्ति बहुत बढ़ गई। इससे मजदूर भी पूंजीवाद की बढ़ती समृद्धि में साझेदार हो सके। उनका रहन-सहन का दर्जा गिरने के बजाय बराबर उन्नत होता गया। फिर भी इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि संगठित उद्योगपतियों की तुलना में संगठित श्रम की प्रतिरोध शक्ति कम ही रहती है। मजदूर अधिक समय खाली नहीं बैठ सकते, जब कि पूंजीपति काफ़ी समय खाली बैठकर खा सकते हैं।

व्यापार चक्र

लाभ-प्राप्ति की मूल प्रेरणा पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था की मुख्य परि-

चालिका है : प्रत्येक व्यवसायी कम लाभ से अधिक लाभ वाले व्यवसाय में और प्रत्येक मजदूर कम मजदूरी से अधिक मज़दूरी वाले स्थान में स्थानान्तरित होने की चेष्टा में निरन्तर संलग्न है। इस भांति वह, पूंजीवादी विचारकों के अनुसार, व्यक्तिलाभ में वृद्धि कर साथ-ही-साथ सामाजिक कल्याण में वृद्धि करता है। लाभ का प्रलोभन और हानि का भय ही अधिकाधिक कार्य-क्षमता और कर्मशीलता को प्रोत्साहित करता है। व्यापारियों और उत्पादकों की पारस्परिक प्रतियोगिता द्वारा उचिततम मूल्य तथा मालिकों और मजदूरों की प्रतियोगिता द्वारा उचिततम मजदूरी निर्धारित होती है।

परन्तु पूंजीवादी व्यवस्था सब समय इस आदर्श के अनुसार नहीं चलती। एक समय ऐसी आर्थिक और मानसिक स्थिति आती है कि व्यवसायी किसी उद्योग में रुपया लगाना लाभप्रद नहीं समझता। यह भावना छूत की बीमारी की तरह समस्त व्यवसायी वर्ग को आक्रान्त कर लेती है। इसका परिणाम होता है कि विनियोग रुक जाता है; उत्पादन गिर जाता है; व्यापार ठप्प हो जाता है; मजदूर बेकार हो जाते हैं; राष्ट्रीय आय गिर जाती है और सामाजिक असंतोष की वृद्धि होती है। ऐसे समय पूंजीवादी व्यवस्था की कमजोरी स्पष्टतया दिखाई देने लगती है। ऐसा प्रतीत होता है कि सामयिक आर्थिक मन्दियां अनियन्त्रित अर्थ-व्यवस्था का अभिन्न अंग हैं। १९२९ में ऐसी ही भीषण मन्दी ने संसार के पूंजीवादी देशों को आ घेरा था। यह मन्दी ३-४ साल तक रही और इसने बहुत आर्थिक और सामाजिक हानि पहुंचाई।

पूंजीवाद के समर्थकों का कहना है कि यदि मन्दी के आने पर कीमतों और मज़दूरी को स्थिर करने का प्रयत्न न किया जाय तो वस्तुओं की मांग न गिरे और मन्दी दूर होने में समय न लगे। जो भी हो व्यवहार में ऐसा नहीं होता। गिरी हुई पूंजीवादी व्यवस्था स्वयं शीघ्र नहीं उठ पाती। उसे बाह्य उत्तेजना की जरूरत पड़ती है। इसी तरह, संकटकाल में या वस्तुओं के भीषण अभाव की अवस्था में पारस्परिक प्रतियोगिता का खेल नहीं खेला जा सकता। उस समय आवश्यकता होती है, कि कोई प्रतिनिधि-सामाजिक संस्था उसका नियन्त्रण करे और सामाजिक हित में उसका प्रयोग करे। ऐसे समय ही आयोजन की पुकार होती है।

बेकारी. अनियन्त्रित पूंजीवादी व्यवस्था में बिना इस बात का ध्यान करे कि इसका रोजगार पर क्या प्रभाव पड़ेगा, केवल व्यक्तिगत लाभ की प्रेरणा के अन्तर्गत नये यन्त्रों को अपनाया जाता है। परिणामतः समय-समय पर

भीषण यान्त्रिक बेकारी की सृष्टि होती है। इसके अतिरिक्त मन्दी के समय लाभ की सम्भावना न रहने से मजदूरों की मांग गिर जाती है और बेकारी फैलने लगती है। इस तरह अनियन्त्रित पूंजीवादी व्यवस्था रोज़गार की समस्या को सुलझाने में असमर्थ रहती है।

एकाधिकार (Monopoly)

अविकसित प्रारम्भिक अवस्था में पूंजीवादी उद्योग प्रतियोगिता के सिद्धांत पर कार्य करता रहा। व्यापरियों की पारस्परिक प्रतियोगिता बहुत अंशों में मज़दूरों और उपभोक्ताओं के लिए कम मज़दूरी और अत्यधिक कीमत के विरुद्ध अच्छा संरक्षण थी। पर धीरे-धीरे व्यवसायियों ने यह अनुभव किया कि यह अधिक अच्छा हो कि वह आपसी प्रतियोगिता बन्द कर कार्य करें। इस तरह वह अधिक मुनाफ़ा कमा सकते हैं। उद्योगों के स्थानीकरण और केन्द्रीकरण ने इसे संभव भी बना दिया। इस तरह प्रतियोगी पूंजीवादी व्यवस्था के भीतर एकाधिकारी पूंजीवादी व्यवस्था प्रकट हुई। आजकल पूंजीवाद का रुख प्रतियोगिता से हट एकाधिकार की ही ओर है। उद्योगों में यह प्रवृत्ति प्रबल है। कृषि में असंख्य छोटे-छोटे और बिखरे उत्पादकों के कारण यह सम्भव नहीं है।

यह भी सत्य है कि एकाधिकार कभी भी स्थाई या पूर्ण नहीं होता। नये आविष्कार तथा कुछ व्यवसायियों का विरोध उसे समय-समय पर तोड़ते रहते हैं।

'प्रतियोगिता से दूर और एकाधिकार की ओर', इस प्रवृत्ति को प्रायः बहुत चिन्ता से देखा जा रहा है और स्वभावतः एकाधिकारों के शोषण से बचने के लिए उनके सामाजिक नियन्त्रण की मांग हो रही है। इस तरह हम धीरे-धीरे अल्पतम हस्ताक्षेप नीति को तिलांजलि दे रहे हैं।

कुछ दशाओं में तो सामाजिक एकाधिकार निःसंदेह प्रतियोगिता से श्रेष्ठ है। पूंजीवाद के समर्थकों तक ने कुछ सामाजिक एकाधिकारों का समर्थन किया है। जनउपयोगी सेवाएं इसी श्रेणी में आती हैं, रेल, जल विद्युत, डाक, तार, टेलीफोन आदि सेवाएं ऐसी ही हैं। इसमें कोई सार नहीं कि एक ही शहर में पांच टेलीफोन की लाइनें हों। अतः यही बेहतर है कि एक ही कम्पनी उस कार्य को करे और उस पर सरकारी नियन्त्रण हो।

उद्योगों का सामाजिक नियन्त्रण

अनियन्त्रित पूंजीवादी व्यवस्था की कमियों को रोकने के लिए पूंजीवाद

के विकास के साथ ही साथ जोरदार आन्दोलन हुआ है। कट्टर से कट्टर पूंजीवाद के पोषक देशों को इस आन्दोलन के आगे झुकना पड़ा है। उद्योगों में सामाजिक नियन्त्रण की शुरुआत जनोपयोगी सेवाओं के नियन्त्रण से हुई है। धीरे-धीरे सामाजिक नियन्त्रण का क्षेत्र बराबर विस्तृत होता जा रहा है। आर्थिक जीवन का शायद ही कोई ऐसा भाग हो जहां नियन्त्रण का हाथ नहीं पहुंचा है। संकटकाल और युद्धकाल में तो इसका विस्तार और भी बढ़ गया है। श्रमिक और फ़ैक्टरी कानून, मजदूरी और मुनाफे का नियन्त्रण, आय और सम्पत्ति पर कर का आरोपण, वस्तुओं के वितरण की मात्रा और मूल्यों का नियन्त्रण, आयात-निर्यात पर प्रतिबन्ध, मुद्रा के मूल्य का निर्धारण, इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

समुदाय द्वारा आर्थिक जीवन का नियन्त्रण कोई नई चीज नहीं है। स्वभावत: यह आर्थिक संगठन जितना ही पुराना है। वास्तव में पूंजीवादी अल्पतम हस्ताक्षेप नीति एक माध्यमिक अवस्था थी। यह विश्वास कि वर्तमान संस्थाएं स्थायी हैं भारी भ्रम है। कोई भी सामाजिक संस्था परिवर्तित हुए बिना नहीं रहती, यही हाल पूंजीवाद का है।

आयोजित अर्थ-व्यवस्था

ऐसा प्रतीत होता है कि आयोजित अर्थव्यवस्था नियन्त्रित पूंजीवाद से अगली सीढ़ी है, जिस पर हमें आगे बढ़ना है। यों तो पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था में एक प्रकार का आयोजन निहित है। प्रत्येक व्यवसायी अपनी पृथक् उत्पादन व वितरण योजनाएं बनाता है। किन्तु अनियन्त्रित व्यवस्था में एक व्यवसायी का दूसरे व्यवसायी की योजना पर कोई काबू नहीं होता। इसी लिए प्राय: उसकी योजना अन्य व्यवसायियों की योजना से रद्द हो जाती है। पृथक्-पृथक् योजनाओं में एकीकरण या समन्वय न होने के कारण ही ऐसा होता है। इसके विपरीत, आयोजित अर्थ-व्यवस्था में समस्त छोटी-छोटी पृथक् योजनाएं एक बृहत् योजना का अंग होती हैं, उनमें आपस में कोई विरोध नहीं होता, एक दूसरे को नष्ट करने का खतरा विद्यमान नहीं होता। लाभप्रवृत्ति और उत्पादन के साधनों में व्यक्तिगत स्वामित्व के रहते हुए एक सार्वजनिक योजना नहीं बनाई जा सकती। अतः आयोजित अर्थव्यवस्था में उत्पादन यन्त्रों पर यदि कानूनी नहीं, तो कम से कम व्यावहारिक सामाजिक स्वामित्व की तो अवश्य आवश्यकता पड़ती है। ऐसी स्थिति में वही वस्तुएं उत्पन्न की जाती हैं और उन्हीं के उत्पादन को प्राथमिकता दी जाती है जिन की मांग निश्चित है, जो

सामाजिक हित की दृष्टि से उपयोगी और आवश्यक हैं। यहां पारस्परिक प्रतियोगिता समाप्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त, उत्पादन यन्त्रों पर समाज का स्वामित्व होने के कारण सम्पत्ति जनित आय के भीषण अन्तर आयोजित अवस्था में समाप्त हो जाते हैं। कुशलताजन्य मज़दूरी के अन्तर अवश्य कायम रहते हैं। इस तरह आयोजित अर्थ-व्यवस्था में आर्थिक विषमता प्रायः कम रहती है।

निःसंदेह उत्पादन, उपभोग, वितरण, विनिमय-यन्त्र और विनियोग तथा वचत पर पूर्ण नियन्त्रण होने के कारण आयोजित अर्थ-व्यवस्था में आर्थिक यन्त्र को सामाजिक हित में परिचालित करने की सुविधा रहती है। पूंजीवाद के भीतर विद्यमान सामयिक मन्दियों का संकट प्रायः समाप्त हो जाता है। यही कारण है कि जब अमरीका और इंगलैण्ड जैसे पूंजीवादी राज्यों में १९३०-३२ में भीषण वेकारी फैली हुई थी, रूस और जर्मनी में मज़दूरों की कमी थी।

पूंजीवाद के अन्दर उत्पादन, आर्थिक प्रगति और सम्पत्ति का विभाजन उत्पादकों और व्यापारियों की परिवर्तनशील मानसिक स्थिति, मालिकों और मज़दूरों तथा ज़मींदारों की आपसी खेंचातानी का परिमाण होते हैं, परन्तु आयोजित व्यवस्था के अन्दर वह एक पूर्व-नियोजित योजना और सामाजिक संस्था के निर्धारण का परिणाम होते हैं। यहां पर कीमतें घटने से किसी के व्यक्तिगत लाभ में कमी नहीं पड़ती; मज़दूरी घटने से किसी की व्यक्तिगत आय में वृद्धि नहीं होती। इस तरह व्यक्तिगत स्वार्थों का संघर्ष वहुत कुछ समाप्त हो जाता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि आयोजित अर्थ-व्यवस्था में कोई आर्थिक समस्याएं नहीं उठतीं, उठती हैं अवश्य; आयोजकों के अनुमान ग़लत हो सकते हैं। आयोजन कोई रामवाण औषध नहीं है। चौवीस साल पहले रूस ने सर्वप्रथम आयोजन की ओर कदम उठाया। वारह साल के अल्पकाल में उसने औद्योगीकरण रोजगार में असाधारण उन्नति की और संसार का ध्यान आयोजन की ओर आकृष्ट किया। मन्दी और युद्ध ने आयोजन के प्रति दिल-चस्पी को वढ़ाया और युद्धकाल में अल्पाधिक रूप में सभी राष्ट्रों ने इसे अपनाया।

तेरहवां अध्याय

राजनैतिक संगठन

व्यक्ति और राज्य

राज्य हमारे जीवन का एक महत्वपूर्ण तथ्य है। बालक का जन्म होते ही इसकी सूचना सरकार को देनी पड़ती है। कुछ बड़े होने पर सरकारी स्कूल हमें शिक्षा की सुविधा प्रदान करते हैं। घर बनाते समय हमें उसके नक्शे को सरकार से पास कराना पड़ता है। आय का एक निश्चित अंश हमें सरकार को करों के रूप में देना होता है। सरकारी नीति खाने-पीने की चीजों, कपड़े आदि अन्य व्यवहारोपयोगी वस्तुओं के दाम व मकान के किरायों की दर को प्रभावित करती है। सरकार अनेक बार हमारे मनोरंजन को भी नियन्त्रित करती है और यह तक निर्धारित करती है कि हम क्या करें और क्या नहीं। कुछ देशों में यह चिकित्सा की सुविधा प्रदान करती है, बच्चों को स्कूलों में भेजने को बाध्य करती है। देश से बाहर जाने के लिए हमें सरकार की अनुमति प्राप्त करनी होती है। यहां तक कि यदि एक पति-पत्नी एक दूसरे से पृथक् होना चाहें तो वह भी राज्य की स्वीकृति के बिना पृथक् नहीं हो सकते, पुनर्विवाह नहीं कर सकते। बहुत से राज्य बेरोजगार होने की दशा में अथवा बुढ़ापे में अपने नागरिकों को आर्थिक सहायता प्रदान करते हैं। हमारे मरने तक की खबर सरकार को पहुंचानी पड़ती है। इस तरह हम देखते हैं कि राज्य बचपन से बुढ़ापे तक हमारा पीछा नहीं छोड़ता। वह हमारे समस्त जीवन पर छाया हुआ है। प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में हम रोज ही उसके सम्पर्क में आते हैं।

सरकार के स्वरूपों की विभिन्नता

सरकार के उपर्युक्त या अन्य कार्यों को विभिन्न राष्ट्रीय, प्रान्तीय या स्थानीय सरकारें सम्पन्न करती हैं। कई बार उनका स्वरूप लोकतन्त्रीय तथा कई बार अधिनायकतन्त्रीय होता है। कुछ राज्यों में राज्य का उद्देश्य व्यक्ति की रक्षा, कुछ में उसका उद्देश्य राष्ट्र की रक्षा होता है। राज्य के कार्यों के बारे में भी पर्याप्त विभिन्नताएं पाई जाती हैं, जिनका हम यथास्थान वर्णन करेंगे।

राज्य के प्रति समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण

राज्य और सरकार राजनीतिशास्त्र के अध्ययन का विषय हैं। एक समाजशास्त्री की हैसियत से हमें संविधानों और सरकार के स्वरूपों तथा किस भांति राज्य अपने कार्यों को सम्पन्न करते हैं, इसमें दिलचस्पी नहीं । हम तो उसे एक विशिष्ट प्रकार की समिति समझते हैं और उसके समाजशास्त्रीय स्वरूप को पहचानने और सामाजिक व्यवस्था के अन्य भागों से उसके विशेष सम्बन्धों को वताने की कोशिश करते हैं। वड़ी-वड़ी समितियों या संस्थाओं ने पृथक् विज्ञानों को जन्म दिया है। समाजशास्त्र इनका स्थानापन्न नहीं वन सकता।

जटिल समाजों में राजनैतिक और आर्थिक संगठन की संस्थाएं सामाजिक वुनियाद का एक विस्तृत ढांचा वन जाती हैं। वह जटिलतम सम्वन्धों में प्रसार करती हैं और राष्ट्र और धर्म की सीमा को पार कर जाती हैं।

राज्य और समुदाय

वास्तव में राज्य भी अन्य समितियों की भांति एक समिति है। यद्यपि हम साधारण भाषा में प्रायः इस शब्द का दुरुपयोग करते हैं। हम वहुत वार कहते हैं, भारत ने अमरीका से संधि की । इस भांति हम भारतवर्ष और अमरीका की समस्त जनता को मिला एक सार्वभौम साझेदारी की कल्पना करते हैं, जो कि भ्रान्त है।

यह सोचना ग़लत है कि राज्य वास्तव में हमारे अधिकांश सामाजिक सम्बन्धों को नियन्त्रित करता है; और उसे वैधानिकतया उससे भी अधिक अंश को नियन्त्रित करने की सामर्थ्य है। यह भी कहा जाता है कि यदि वह स्वयं ऐसा नहीं करता, तो अन्य संस्थाएं उसकी इच्छानुरूप उसे सम्पन्न करती हैं। पर यदि यह भी मान लिया जाय, तव भी हम नियन्त्रक को नियन्त्रित से नहीं मिला सकते। एक सामाजिक प्राणी की हैसियत से हम नागरिक भर ही नहीं हैं। हम वहुत से सम्वन्धों में शरीक होते हैं, हम वहुत से सामाजिक कार्य करते हैं, एक राज्य के सदस्य की हैसियत से नहीं, वल्कि एक सामाजिक प्राणी, एक प्रेमी, एक मित्र, एक परिवार, एक सम्प्रदाय, एक क्लव या अन्य वर्ग के सदस्य की हैसियत से। अतः राज्य से समुदाय को मिलाना वहुत अनुचित है। आजकल तो अधिकांश संविधान राज्य की शक्तियों पर अंकुश लगा देते हैं; उसके लिए वहुत सी वातों का निषेध कर देते हैं।

अतः राज्य सामाजिक ढांचे का एक आवश्यक अंग है, सम्पूर्ण शरीर नहीं। यह समाज की एक संस्था है जिसके हाथ में अनेक विस्तृत और महत्त्व-पूर्ण कार्य हैं, फिर भी इसकी शक्तियां परिसीमित हैं। यह अन्य संस्थाओं का स्थान नहीं लेता और न ले सकता है। परिवार का अपना स्थान है, श्रम संघ का अपना स्थान है, विभिन्न समितियों का अपना स्थान है। राज्य को कहां तक और कैसे अन्य समितियों को नियन्त्रित करना चाहिए, यह एक विस्तृत प्रश्न है, जिसके उत्तर में बहुत मतभेद की गुंजाइश है।

सरल संस्कृतियों में सरकार

आज पाई जाने वाली आरण्यक जातियों में जो भौतिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में हैं, सरकार अति सरल और कठिनाई से नज़र आती है। अन्दमान द्वीपवासी व टेराडेलफ्यूगो निवासी, बुशमैन और शोशोन इसी श्रेणी में आते हैं। इनमें कोई विशेष गठित सरकार नहीं है, कोई निश्चित शासक, मुखिया या नेता नहीं है। विशेष जरूरत पड़ने पर यह एक अस्थायी नेता चुन लेते हैं। उदाहरण के लिए, किसी का कत्ल हो जाने पर कत्ल होने वाले व्यक्ति का कोई निकट-सम्बन्धी बदला लेने वाले दल का नेतृत्व करता है, किन्तु वह काम समाप्त होते ही उसका नेतृत्व भी समाप्त हो जाता है।

नेतृत्व का तथ्य. इन समाजों में भी कुछ व्यक्ति निःसन्देह अन्य व्यक्तियों को प्रभावित करते हैं। प्रागक्षर समाजों में बूढ़े प्रायः ऐतिहासिक वृत्तान्तों, पुराणों और धार्मिक ज्ञान के संरक्षक होते हैं। शिकार का लम्बा अनुभव उन्हें और भी प्रतिष्ठा प्रदान करता है। इसलिए महत्त्वपूर्ण मामलों में उनकी सलाह ली जाती है। उनका प्रभाव समुदाय में व्यवस्था और शान्ति कायम रखने का अच्छा साधन बन जाता है।

पुनरावृत्ति का तथ्य. बार-बार किसी एक ही काम को करने से किसी व्यक्ति, वर्ग या सम्प्रदाय के कामों में एक व्यवस्थितता आ जाती है। हमारी बुनियादी आवश्यकताएं, जैसे कि भूख और नींद दुहराई जाने वाली हैं। इसी प्रकार एक समुदाय द्वारा एक ही कार्य की पुनरावृत्ति द्वारा उसमें व्यवस्थितता आ जाती है।

इस तरह सरल संस्कृतियों में नेतृत्व और पुनरावृत्ति व्यवस्था कायम रखने में योग देते हैं। यह कहा जा सकता है कि जहां नेतृत्व व्यवस्था कायम करता है वहां वह प्रतियोगिता की सृष्टि कर अशान्ति और अव्यवस्था को भी जन्म देता है। कुछ अंशों में यह ठीक भी है। फिर भी जब तक नेतृत्व

और पुनरावृत्ति किसी समुदाय में व्यवस्थित जीवन प्रदान करते हैं, तब तक उसे निःसन्देह किसी सरकार की आवश्यकता नहीं होती।

सरल संस्कृतियों में सरकार की सीमित आवश्यकता के कारण

१. वर्ग का छोटा स्वरूप. शिकारियों या कन्द-मूल इकट्ठा करने वाले कबीलों की सदस्य-संख्या बहुत ही कम होती है। उसमें १५-२० से लेकर अधिकतम १५०-२०० व्यक्ति होते हैं। और फिर प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे को जानता है। परिणामतः, वर्ग की सामुदयिक चर्चा (Gossip) और जनमत सामाजिक दवाव के साधन के रूप में प्राप्त होता है। वैयक्तिक सम्पर्क-विहीन विशाल समुदाय में ऐसा नहीं हो पाता। एक बड़े शहर के लिए तो सब नगरवासियों की सम्पत्ति की देखभाल करने के लिए पुलिस की व्यवस्था ही एक बड़ी समस्या है।

२. विकृत (Abnormal) व्यक्तियों की अल्प-संख्या. यद्यपि आदिम और सभ्य समाजों में अपराध और रोगों को प्रभावित करने वाले विकृत व्यक्तियों को ठीक-ठीक संख्या उपलब्ध नहीं है फिर भी इसमें संदेह नहीं कि सभ्य समाज उन्हें संरक्षण प्रदान करता है। शिकारी अवस्था में एक कमजोर आंख वाला और मन्दधी व्यक्ति जीवित नहीं रह सकता। और फिर आदिम समाजों में विकृत व्यक्ति एक संकट या समस्या नहीं माने जाते। उनका धर्म उन्हें सामाजिक प्रतिष्ठा प्रदान करता है। एक मिरगी पीड़ित व्यक्ति को रक्षक माना जाता है। ओझा, पुरोहित, शमन ऐसे ही लोग बनते हैं। अन्ततः, जादू-टोना ऐसे व्यक्तियों के व्यवस्थापन में पर्याप्त सहयोग देता है।

३. संस्कृति की अगतिशीलता. आदिम समाजों में सामाजिक संस्थाएं दीर्घकाल तक एक-सी ही अवस्था में रहती हैं। इसी कारण समुदाय के सदस्य शीघ्र ही अपने-अपने कर्तव्य सीख जाते हैं। इस तरह एकतत्त्वीय (Homogenous) संस्कृति की सृष्टि होती है और सब लोगों के मत एक-दूसरे से मिलते हैं। एक विभिन्नतत्त्वीय (Heterogenous) परिवर्तनशील संस्कृति में, इसके विपरीत, लोगों के विभिन्न मत और भले-बुरे के विभिन्न मापदण्ड होते हैं। परिणामतः, एक जटिल समाज में अपराधों को अधिक प्रोत्साहन मिलता है।

४. सम्पत्ति का अभाव. सभ्य समाजों में अधिकांश अपराध सम्पत्ति को लेकर होते है। सरल समाजों में सम्पत्ति की राशि बहुत कम होती है और

वह भी समुदाय छोटा होने के कारण उसके सदस्यों को आपस में ज्ञात होती है। ऐसी स्थिति में विशेषकर जब कि व्यापार और यात्रा की सुविधाएं न हों, चोरी करना एक कठिन समस्या हो जाती है।

उपर्युक्त विवेचना से हम यह धारणा नहीं बना सकते कि शिकारियों में दुराचरण या अपराध नहीं होते। वहां पर भी वे होते हैं पर उनका विस्तार और क्षेत्र बहुत सीमित होता है। उदाहरण के लिए, वहाँ पर भी यौन-अनियमितताएं होती हैं, दूसरों की बुराइयां होती हैं; रुचि और व्यक्तित्व की विभिन्नताओं के कारण झगड़े-फिसाद होते हैं; धार्मिक नियमों का उल्लंघन होता है। बावजूद अनुकूल परिस्थितियों के शान्तिस्थापना की समस्या वहां भी उपस्थित होती है।

सरल संस्कृतियों में सामाजिक नियन्त्रण के साधन

१. परिवार. किसी समुदाय में शासनसंस्था सदैव राज्य ही नहीं होती। हमारे युग में शासन की प्रमुख संस्थाएं अदालत और पुलिस के रूप में प्रकट होती हैं। आरण्यकों में परिवार आचार-नियन्त्रण की जबर्दस्त संस्था थी जैसा कि कुछ अंशों में आज के सभ्य समाजों में भी है। पारिवारिक शासन की शक्ति की सबसे बड़ी साक्षी पारिवारिक लड़ाइयां (Feuds) हैं। आरण्यकों में किसी परिवार के सदस्य से अपराध होने पर, आहत परिवार के सदस्यों का यह पुनीत कर्तव्य हो जाता था कि वह उसका बदला लें। अफ्रीका के कबीलों के अपवाद को छोड़ कर अपराध का दण्ड देने की यह प्रथा लगभग समस्त आरण्यकों में प्रचलित थी। यहां तक कि योरोप और एशिया के विभिन्न देशों में यह अभी हाल तक कायम रही। भारत में भी अभी कुछ ऐसी उपजातियां हैं, जो अपने झगड़े बिना कानून की सहायता के अपने-आप निपटाने में गौरव समझती हैं।

२. बिरादरी. अनेक बार शासन का काम एक अर्ध-पारिवारिक संगठन के हाथों में होता है जिसे बिरादरी कहते हैं। बिरादरी के सदस्य कई गांवों में फैले हो सकते हैं। वह या तो रक्त सम्बन्ध से जुड़े होते हैं या अपने को एक ही पूर्वज की संतान मानते हैं। बिरादरी का एक महत्वपूर्ण कार्य विवाहों का नियन्त्रण होता है। बिरादरी कई सामाजिक सेवाओं को भी प्रदान करती है। स्वभावतः आखेट समाजों में बिरादरी का संगठन बाद में विकसित हुआ।

३. विभिन्न समितियां. परिवार और बिरादरी के अतिरिक्त, सम-

वयस्कों, समलिंगियों, या विशिष्ट सदस्यों की गुप्त समितियां भी निम्न सरल संस्कृतियों में शासन का कार्य करतीं हैं। उदाहरणार्थ, उत्तरी न्यूगिनी के काई तामी, यावीम और वाकुआ कबीलों के कुछ आदमी एक ऐसे धार्मिक भ्रातृत्व में दीक्षित होते हैं जिसे वृषभ—नाद कहते हैं। इसका मुख्य कार्य स्त्रियों और अदीक्षित पुरुषों के आचार व्यवहार पर अनुशासन करना होता है।

यह कहा जा सकता है कि निम्न आखेट-संस्कृतियों में विभिन्न संगठन अपराध का शमन करते और अनुशासन कायम रखते हैं। परन्तु महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या उनके यहां आजकल की भांति कोई ऐसा पृथक् संगठन था जिसका मुख्य कार्य शासन करना था ? क्या उन संस्कृतियों में राज्य संस्था थी ? क्या राज्य सदा हमारे साथ रहा है ? अथवा यह एक सामाजिक आविष्कार है, जो आखेट युग के बाद हुआ है ? यदि यह सामाजिक आविष्कार है तो इसका जन्म कैसे हुआ ?

राज्य की विशेषताएं

उपर्युक्त विवेचना में यह मान लिया गया है कि राज्य का मुख्य कार्य शांति और सुरक्षा कायम रखना और न्याय प्रदान करना है। कई बार यह युद्धों का संचालन करता है, मनोरंजन की व्यवस्था करता है, आर्थिक सहायता की व्यवस्था करता है। पर क्या राज्यों का कोई ऐसा भी कार्य है जो सब राज्यों में समान है ? हम देख चुके हैं कि परिवार और बिरादरी भी शांति और व्यवस्थास्थापन में योग देते हैं। पर राज्य और इन संस्थाओं में मुख्य अन्तर यही है कि इसका नियन्त्रण सर्वोपरि और सार्वभौम (Sovereign) है। राज्य की कल्पना में एक दूसरा विचार एक निश्चित भौगोलिक सीमा है, जिस तक इसकी सार्वभौमता विस्तृत है।

राज्य एक ऐसा संगठन है जिसके कुछ विशेष गुण हैं, विशेष यन्त्र हैं, विशेष शक्ति है, जो कि इसे अन्य संगठनों से पृथक् करती है। यह यन्त्र राजनैतिक कानून का यन्त्र है। इसके आदेश के साथ बिना शर्त बाध्यता जुड़ी हुई है। इसके आदेश, बिना किसी अपवाद के, एक भौगोलिक क्षेत्र में लागू होते हैं। इसके नियमों को सबसे अधिक श्रेष्ठता प्रदान करनी पड़ती है। अतः इसके नियम उस क्षेत्र में लागू नहीं हो सकते जिस क्षेत्र में कि उसके सदस्य मतभेद का दावा रखते हों। राज्य का मुख्य आधार शक्ति है, इसकी अपील की शक्ति सीमित है। अन्य समितियां, जिनके कि व्यक्ति स्वेच्छा से सदस्य बनते

हैं, मत भेद की अवस्था में केवल समझाने-बुझाने का ही सहारा ले सकती हैं। यों तो राज्य भी अपने नागरिकों से अपील कर सकता है, प्रचार के समस्त साधनों को अपने हाथों में ले जनता को प्रभावित कर सकता है, पर उसकी अपील के पीछे भी बाध्यता-दण्ड का भय रहता है। अन्य समितियों के सदस्य समिति की नीति से असन्तुष्ट होने पर उसे छोड़ सकते हैं। समिति भंग या विभक्त होसकती है, पर राज्य के सम्बन्ध में ऐसी कोई बात नहीं घटती। पुराने ज़माने में राज की नीति से असंतुष्ट वर्ग पृथक् हो सकता था किन्तु आज के केन्द्रित राज्य में यह असम्भव हो गया है।

इस विवेचना से यह भी नतीजा निकलता है कि कुछ काम ऐसे हैं जो कि समस्त जनता के लिए समान महत्त्व रखते हैं, जिन्हें राज्य ही अच्छी तरह सम्पन्न कर सकता है। स्वतन्त्र समितियां विशिष्ट स्वार्थों और रुचियों की रक्षा के लिए उपयुक्त हैं, जब कि राज्य सामान्य कार्यों के लिए। यह सामान्य कार्य क्या हों, यह राज्य की परिस्थिति पर निर्भर है। कभी राज्य प्रभुताप्राप्त शोषक वर्ग की इच्छापूर्ति का साधन थे। परन्तु हाल में राज्य का नया पहलू कल्याण-राज्य (Welfare state) के रूप में प्रकट हो रहा है।

राज्य का उद्गम

मनोवैज्ञानिक और संस्थायिक कारण. राज्य के उद्गम के विषय में अभी तक हमारा ज्ञान बहुत अधूरा है। कुछ विद्वानों के मत में कुछ मनोवैज्ञानिक तथ्य तथा कुछ के मत में कुछ सामाजिक संस्थाएं इसके जन्म के लिए उत्तरदायी हैं। मोर्ले कहता है कि "राज्य उन अवस्थाओं की स्वीकृति है जो मानव में अन्तर्हित सामाजिकता से उत्पन्न हुई और मानव सुविधा की सहज खोज में विकसित हुई हैं।"

रक्त सम्बन्ध. एक दूसरा लेखक वर्ग है जो कि मनोवैज्ञानिक तथ्यों की उपेक्षा तो नहीं करता पर संस्थाओं पर अधिक बल देता है। विल्सन इसी मत का प्रतिपादक है। उसके अनुसार "समस्त सभ्य जातियों में सरकार का इतिहास बहुत कुछ एक सा ही होना चाहिए। यह पारिवारिक अनुशासन में शुरू हुई होगी।" और जहां तक ऐतिहासिक केन्द्रीय राज्यों के बारे में ज्ञात है उससे स्पष्ट है कि सरकार बिरादरी से शुरू हुई जिसकी मौलिक एकता का बंधन वास्तविक और कल्पित रक्तसम्बन्ध ही था।

व्यक्तिगत सम्पत्ति. प्रसिद्ध लेखक कामन्स राज्य के उद्गम के सम्बन्ध में अन्य प्रवृत्तियों की ओर संकेत करता है। उसके शब्दों में "राज्य समाज की

एक बाध्य करने वाली संस्था है। वह समाज पर लादी गई कोई आदर्श इकाई नहीं है, किन्तु ऐसे विभिन्न वर्गों के बीच हुए समझौतों का एक एकत्रित क्रम है, जिनमें से प्रत्येक ही व्यक्तिगत सम्पत्ति पर अपना नियन्त्रण चाहता है,...राज्य व्यक्तिगत सम्पत्ति की सन्तान है।"

युद्ध और विजय. कामन्स से मिलता-जुलता ही गुम्पलोविज़ का मत है। उसका कहना है कि "राज्य कभी भी एक जाति या कई जातियों द्वारा मिलकर अन्य जाति के दासत्व बिना उत्पन्न नहीं हुआ।" वास्तव में यह कहना काफी हद तक ठीक मालूम होता है। एक वर्ग के अन्दर संकट उत्पन्न होने पर अनुशासन की कल्पना उद्भूत हो सकती है। वर्गों की भीषण प्रतियोगिता राज्य के उद्गम के अनुकूल है। बुशमैनों के उदाहरण से यह बात स्पष्ट की जा सकती है कि किस तरह वहां दासता शुरू होती है। हौटनटौट और काफ़िरों के आक्रमण से अपनी रक्षा करने के लिए वह संगठित होते हैं। युद्ध राज्य के उद्-गम के अनुकूल स्थिति है ऐसा अनेक लेखकों का मत है।

युद्ध बाद की चीज़. युद्ध पशुओं में एक सहजप्रेरित और सामान्य क्रिया है जब कि मनुष्य में यह एक संगठित क्रिया है, जिसे सीखने में समय लगता है। मैलिनोवस्की ने ठीक कहा है, "सब झगड़े फिसादों, टूटे दान्तों और फूटी आखों को युद्ध का नाम देना भ्रामक है। युद्ध शक्ति का संगठित उपयोग है। इस अर्थ में मानव समाजों में इसका प्रवेश और आविष्कार काफी देर में हुआ, ऐसा मानना होगा।"

युद्ध का जन्म. विभिन्न वर्गों में लड़ाई युद्ध को जन्म देती है। बहुत बार इसकी शुरुआत प्रतिशोध से होती थी। पारिवारिक दुश्मनियां युद्ध का रूप धारण कर लेती थीं। कभी-कभी युद्ध बिना खूंखारी के भी सम्पन्न हो जाते थे। सम्पत्ति के विकास ने युद्ध के अनुकूल स्थिति उत्पन्न की। यह भी सत्य है कि आक्रमण सदा सम्पति के लिए ही नहीं हुए। प्रारम्भिक अवस्था में ज़मीन का हथियाना युद्धों का उद्देश्य नहीं कहा जा सकता। कृषि के प्रारम्भ से ही भूमि एक मूल्यवान् वस्तु समझी जाने लगी है।

राज्य का विकास

राज्यों का रेखांकित विकास नहीं. प्राचीनकाल से लेकर आज के राष्ट्रीय राज्यों तक किसी एक निश्चित पद्धति से राज्यों का विकास नहीं हुआ है। सामाजिक संस्थाएं किसी एक समान क्रम में नही बढ़तीं। उदाहरण के

लिए, रैड इंडियनों में कोई राज्यसंस्था नहीं है, किन्तु अफ्रीकी कबीलों में, जो संस्कृति में उनसे ऊंचे नहीं हैं, सूक्ष्म राज्यसंस्था हैं। १९वीं शती के शुरू में जुलुओं के विख्यात मुखिया चाका ने एक सुदृढ़ निरंकुश शासन खड़ा किया। १५,००० आदमियों की सहायता से उसने अफ्रीका में जुलु को एक विशाल शक्ति बना दिया। इसी तरह अफ्रीका के युगान्डा, शिलुक और बुशांगो आदि अन्य कबीलों में भी विस्तृत सरकारें हैं।

राज्यों से सम्बद्ध परिस्थितियों का बताना सम्भव. यद्यपि राज्य के विकास को नहीं ढूंढा जा सकता. पर उन कारणों और परिस्थितियों का बताना सम्भव है जोकि राज्य की कल्पना से सम्बद्ध हैं। कई कारणों और परिस्थितियों की ओर हम राज्य के उद्गम की विवेचना करते समय संकेत कर चुके हैं। नेता, आखेट दल, रक्षा-समितियां, सम्पत्ति, युद्ध, दासता, सामाजिक कार्य और वर्ग उनमें मुख्य थे। विभिन्न परिस्थितियों के विभिन्न मिश्रणों ने विभिन्न समाजों में विभिन्न प्रकार की सरकारों को पैदा किया।

सामन्तशाही सरकार

धनी, शक्तिशाली कृषक का उत्कर्ष. सरकार की स्थापना में एक कारण समान संस्कृति वाले कृपकों के हाथों में शक्ति और सम्पत्ति की वृद्धि भी रहा है। यह स्वाभाविक था कि गुलामों, रैयत, अनुचरों और मजदूरों से युक्त कृपक उन पर किसी प्रकार की हकूमत चलाते। यही धनी लोग सरदार या सामन्त बन बैठे। उस युग में पुलिस का कोई प्रबन्ध नहीं था, लूटमार, लड़ाई-झगड़े आम बात थी। एक सरदार दूसरे सरदार को हरा कर उससे हरजाना वसूल करता था, जिसकी एक बड़ी राशि वह अपने सैनिकों पर खर्च कर देता था। एक समय में भूमियों और अनुचरों के संगठन का का कार्य सम्पन्न हो गया। धनी और लड़ाका कृपकों ने बड़े पैमाने पर सरकारों की स्थापना की।

भारत, चीन, एशिया और योरोप के मध्यकालीन इतिहास के छात्र इस से परिचित हैं। यह एक रोचक तथ्य है कि सामन्तशाही पद्धति संसार के कुछ प्रागक्षर लोगों में भी, जैसे कि पेरू, मेक्सिको, अफ्रीका और पोलीनेशिया के अनेक कबीलों में पायी जाती है। जिन आरण्यकों में सम्पत्ति अच्छी तरह विकसित हुई वहां भी सामन्तवाद पाया जाता है, क्योंकि मुखिया को सदा वस्तुओं के रूप में कर की अदायगी की जाती है। सामन्तशाही व्यवस्था में धनिकों या कुलीनों और सामान्य जनता के बीच सदा एक श्रेणीविभाजन रहता है।

सामन्तवाद के क्षय के कारण. विभिन्न देशों में सामन्तवाद के क्षय के विभिन्न कारण थे। भारत में औद्योगीकरण का आगमनऔर प्रगति, लोक तन्त्र का विकास, जमींदारी प्रथा का उन्मूलन सामन्तवाद के ह्रास के मुख्य कारण हैं। विभिन्न वोली वोलने वाले कवीलों में एकीकरण एक धीमी प्रक्रिया थी। इस परिर्वतन में मुद्रा-व्यवस्था ने भी भाग लिया। मुद्रा के रूप में करों का संग्रह, सामन्तवादी व्यवस्था में विद्यमान फसल के हिस्से के संग्रह की तुलना में वहुत सुगम था। उधर वारुद के आविष्कार ने संरक्षण के तरीकों को प्रभावित किया। यातायात के साधनों का विकास एक और महत्त्वपूर्ण कारण था जिसने शासन के विस्तृत क्षेत्र और शक्तिशाली वर्ग निर्मित किए। संस्कृति में स्वयं ही ऐसे विकास हुए जिन्हों ने सामन्तवाद को विशृङ्खल कर दिया।

सामन्तवाद का अध्ययन करते समय एक वात और ध्यान देने योग्य है कि स्थानीय शक्तिशालियों की प्रतियोगिता सदैव एक वड़े राजा को जो उन सवों पर राज्य कर सके, जन्म नहीं देती। कभी-कभी यह शक्तिशाली सरदार एक संघीय सरकार की स्थापना कर लेते हैं। उत्तरी-पूर्वी अमरीका के रैड इंडियनों ने विभिन्न कवीलों और राष्ट्रों का एक संघ स्थापित किया। आइसलैण्ड के आदिवासियों ने भी ऐसा ही किया।

नगर राज्य

ऊपर हम जिन सरकारों की विवेचना कर चुके हैं वह छोटे गांवों और कृषि-प्रदेशों से सम्बद्ध थीं। किन्तु प्राचीन समय में कुछ वड़े शहर भी थे जिनकी आस-पास की भूमि पर प्रभुता थी और जो नगर राज्य कहलाते थे। कुछ नगरों की शक्ति विशाल क्षेत्र पर विस्तृत थी, विशेषकर जहां कि जल या थल यातायात पर्याप्त विकसित था। ऐथिन्स और रोम ऐसे ही नगर थे। जव कि इन नगरों द्वारा शासित प्रदेश वहुत विस्तृत होते थे, वह साम्राज्य कहलाते थे जैसा कि रोम में हुआ। यह नगर प्रायः जलमार्गों पर विकसित हुए और व्यापार द्वारा समृद्ध हुए। इन नगरों में भूमि के रूप में उतनी सम्पत्ति नहीं थी जितनी कि वस्तुओं के रूप में। भूमि एक स्थायी सम्पत्ति है अतः उसका वंशपरम्परा द्वारा संक्रमण सुगम है। जहां किले रक्षा के प्रधान साधन होते हैं वहां अनुचरों और सैनिकों को भूमि द्वारा आजीविका प्राप्त करने में विशेष सुविधा होती थी। भूमिपतियों में वंशानुगत कुलीनता का जन्म इसका स्वाभाविक विकास था। किन्तु नगरों में जहां का आर्थिक जीवन

अधिक अस्थिर था, वहां कृषि की तुलना में वंशानुक्रम सिद्धान्त कम सुरक्षित था। ग्रामीण इलाकों की तुलना में शहरों में परिवार और विरादरी व्यवस्था कम महत्त्वपूर्ण थी और इस लिए भी वंशानुगत शासन कठिन था। इसके अतिरिक्त, नगर परिवर्तन से शीघ्र प्रभावित होते थे; विदेशी व्यापारी दूसरे देशों से नये-नये विचारों को यहां पर लाते थे । प्रारम्भ में धनी लोग और लड़ाके नगरराज्यों में शासक वन गये किन्तु धीरे-धीरे यहां पर नागरिकता का विचार भी विकसित होने लगा। नगरशासन को चलाने के लिए सम्पत्ति अधिकतर व्यापारियों और दस्तकारों से आती थी, यद्यपि नगर की सेनाएं और नौसेनाएं पास के इलाकों को जीत उनपर भी कर लगाती थीं। चूंकि धन नागरिकों के पास से आता था और नगर का भाग्य नागरिकों के भाग्य को निर्धारित करता था अतः यह स्वाभाविक था कि नागरिक शासनक्रिया में अधिकाधिक हिस्सा लें । इस तरह नगरों में लोकतन्त्र की शुरुआत हुई।

राजतन्त्र का पतन : संसदों की स्थापना

आधुनिक युग का मुख्य लक्षण निरंकुश राजतन्त्रों की समाप्ति और उनके स्थान पर सीमित राजतन्त्रों अथवा प्रजातन्त्रों की स्थापना है। सम्राट्, वादशाह, ज़ार और कैसर भूमि-अर्थव्यवस्था से सम्बद्ध थे। वह कृषि-प्रधान अवस्था अथवा पूंजीवाद की प्रारम्भिक अवस्था तक कायम रहे । बहुत वार राजतन्त्र को क्रान्ति द्वारा समाप्त कर दिया गया और उसके स्थान पर विना राजा के चुने हुए अधिकारी भी नियुक्त किये गये, जैसा की फ्रांस में हुआ । बहुत वार राजा नाम को कायम रहे पर उनकी शक्तियां बहुत सीमित कर दी गईं, जैसा कि इंग्लैण्ड में हुआ। यह कार्य संसद् (पार्लियामेन्ट) की स्थापना से संभव हो सका। संसद् का राजस्व के साधनों पर नियन्त्रण होने के कारण राजा और उसका दरबार उस पर आश्रित हो गये। प्रारम्भ में राजा अपना राजस्व वनी सामन्तों, कृषकों और जागीरदारों से प्राप्त किया करते थे, किन्तु पूंजीवाद के आगमन से सम्पत्ति के नये साधन और धनिकों की नई श्रेणी सामने आयी। अव राजा की समस्या फसल का एक भाग पाना नहीं प्रत्युत, धन का एक भाग पाना हो गई । कर व्यवस्था विकसित हुई और उसके साथ संसदों का भी विकास हुआ। व्यापारी वर्ग के हाथों में धनराशि आजाने के कारण राजा के लिए उन्हें विधिनिर्माण में अधिकाधिक हिस्सा देना जरूरी हो गया । क्योंकि व्यापारी वर्ग अव राजा की शक्ति छीनने में समर्थ था।

प्रजातन्त्र

राजा की शक्ति समाप्त होते ही तत्काल प्रजातन्त्र स्थापित नहीं हो गये। प्रायः शक्ति उन लोगों के हाथों में चली गई जिनके पास सम्पत्ति थी। जनता अर्थात् समस्त वयस्क नागरिकों के पास, जिसमें अमीर, ग़रीब सभी सम्मिलित थे, यह शक्ति एकदम नहीं आई। यद्यपि कभी-कभी यह परिवर्तन सीधा भी हुआ। राजा के हाथ से शक्ति निकलते ही जनता के हाथों में चली गई। १७९३ में फ्रांस की राज्यक्रान्ति के बाद ऐसा ही हुआ, यद्यपि साधारण जनता अपने हाथों में शक्ति न रख सकी क्योंकि नैपोलियन ने अपने को राजा घोषित कर दिया। १८वीं शती के अन्त में यह विचार कि साधारण जनता कानून बनाये और शासन चलाये बहुत क्रान्तिकारी और असाधारण समझा जाता था। उस समय राजा अपने दैवीय अधिकारों की दुहाई देते और उसका दावा करते थे। उस समय की सरकार कुलीनतन्त्र पर आधारित थी। १६वें लूई और जहांगीर के दरबार उस समय की स्थिति पर अच्छा प्रकाश डालते हैं।

ऐथिन्स, स्पार्टा या भारत के गणराज्यों में राज्य की नीति को निर्धारित करने वाले नागरिकों की संख्या बहुत अल्प थी। प्लेटो, सुकरात, कौटिल्य और मनु राजतन्त्र के समर्थक थे; रोम में यद्यपि एक समय गणराज्य था पर लोकतन्त्र वहां ऐथिन्स से भी कमज़ोर था। इंग्लैण्ड और संयुक्त राज्य अमेरिका में समस्त नागरिकों को मताधिकार प्राप्त करने में एक लम्बा समय लगा। भारत में १९०९ में १ प्रतिशत से कम, १९१९ में ३ प्रतिशत, १९३५ के विधान में १४ प्रतिशत लोगों को मत देने का अधिकार था। १९५० में प्रथमबार भारत के समस्त वयस्क नागरिकों को मत देने का अधिकार प्राप्त हुआ। वर्तमान समय में विस्तृत शिक्षा और उच्चतर रहन-सहन के दर्जे से प्रजातन्त्र को बल और लोकप्रियता मिली है। पर बहुत से पिछड़े देशों में यह विस्तृत शिक्षा और उच्चतर रहन-सहन, संघर्ष का परिणाम न होकर केवल विधान-निर्माताओं की लेखनी के ज़ोर से ही संभव हुआ है। भारतवर्ष इसका अच्छा उदाहरण है।

राज्य की आधुनिक समस्याएं

लोकतन्त्र में जनमत का ह्रास

अब्राहम लिंकन ने प्रजातन्त्र को 'जनता का शासन, जनता द्वारा शासन, जनता के लिए शासन' कह कर परिभाषित किया था। प्रजातन्त्र की कल्पना के अनुसार प्रत्येक नागरिक राज्य के शासन में, उसकी नीति निर्धारित करने में

सक्रिय भाग लेता है। किन्तु प्रजातन्त्र की कल्पना और उसके व्यावहारिक स्वरूप में बड़ा अन्तर दिखाई देता है। प्रजातन्त्र ने बहुत से देशों में समस्त वयस्कों को मताधिकार अवश्य दिया है, किन्तु उनका राज्य के शासन में कुछ भी हाथ नहीं है। न तो अधिकांश लोगों के पास इतना समय है, न ही उन्हें इतनी रुचि है और न उन्हें इतना ज्ञान ही है कि वह आज के राज्य के शासन-सूत्र को चला सकें। एक छोटे गांव में तो प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र चल सकता है जहां कि थोड़ी जनसंख्या है, सरल समस्याएं हैं, लोगों के सोचने के एक से तरीके हैं। वहां पर सब लोग एक स्थान पर एकत्रित होकर किसी मसले पर अपनी राय दे सकते हैं, किन्तु वर्तमान विकसित राज्य में यह सर्वथा असंभव है।

कुछ देशों में जनता को कानून बनाने में हिस्सा देने के लिए तथा विधानमण्डल द्वारा बनाये कानून पर उनका नियन्त्रण रखने के लिए कुछ तरीके निकाले गये हैं। प्रस्ताव (Initiative), अर्थात् मतदाताओं को विधेयक उपस्थित करने का अधिकार तथा विधानमण्डल द्वारा पास किये गये विधेयक पर मतदान (Referendum) मतदाताओं की अन्तिम स्वीकृति या अस्वीकृति देने का अधिकार ऐसे ही कदम हैं। स्विटज़रलैण्ड में यह रीति प्रचलित है। स्विटज़रलैण्ड जैसे छोटे देश में तो यह कुछ संभव भी है, पर वहां भी इसकी विशेष उपादेयता नहीं है क्योंकि अधिकांश मतदाता उनके सम्मुख रखे प्रश्नों में कोई दिलचस्पी नहीं लेते। प्रत्यक्ष कानून निर्माण के एक गंभीर गवेषक का यह कहना है कि मुश्किल से सौ में से एक आदमी ऐसा होता है जो उन कानूनों को पढ़ता है जिन पर वह मत दे रहा है। यदि कानून जटिल होते हैं, जैसा कि प्रायः होता है, मतदाता उन्हें नहीं समझते और फिर मतदाता अपनी स्वतन्त्र विचार शक्ति का प्रयोग न कर बाहरी प्रचार, सुझाव और पटाने से बहुत प्रभावित होते हैं। इस तरह शक्ति जनता के हाथ में न रह कर उन लोगों के हाथ में रहती है जो अधिकाधिक प्रचार से उसे अपनी मुट्ठी में कर सकते हैं।

प्रायः जनता किसी कानून पर अपना मत नहीं देती, न ही वह आदेशों को कार्यान्वित करती है। वह इन कार्यों को संसद् या विधानमण्डल में अपने प्रतिनिधियों या कार्यकारी अधिकारियों को सुपुर्द कर देती है। यहां तक कि इन मामलों में भी जनता की इच्छा नहीं जानी जाती। निर्वाचन उन व्यक्तियों द्वारा नियन्त्रित किया जा सकता है जो कि उस समय पद पर आसीन हों न कि जनता द्वारा। ऐसे बहुत से तरीके हैं जिनसे निर्वाचन नियन्त्रित किए जा सकते हैं। यद्यपि मतदाता लाखों करोड़ों होते हैं किन्तु शक्ति कुछ लोगों के हाथ में ही

जाती है। शुम्पीटर ने ठीक ही कहा है, "आज का प्रजातन्त्र वैकल्पिक नेतृत्व के चुनाव के अतिरिक्त कुछ नहीं है। मतदाता एक निश्चित अवधि के बाद एक नेतृत्व से असन्तुष्ट हो उसे हटा सकते हैं, पर एक बार एक नेतृत्व को चुन लेने पर वास्तविक शक्ति नेतृत्व के हाथों में ही चली जाती है।"

आज के जटिल समाज में यह सर्वथा स्वाभाविक है। यद्यपि प्रजातन्त्र आज नागरिकों को स्वयं अपने नियम बनाने और शासन चलाने का अधिकार नहीं देता, तथापि वह उसे निकम्मे शासकों को बर्खास्त करने का अधिकार देता है अतः आज का प्रजातन्त्र इस दृष्टि से अधिनायकतन्त्र की तुलना में अवश्य श्रेष्ठ है।

हमारे चुनावों की कमियां

हमारे चुनावों में बहुत बार वोटों को खरीदा जाता है; प्रचार-साधनों और अखबारों की सहायता से मतदाताओं को प्रायः गुमराह किया जाता है और उन पर पानी की तरह रुपया बहाया जाता है; वास्तविक तथ्यों और समस्याओं को ताक पर रख लोगों की भावनाएं भड़काई जाती हैं; पार्टी—हाई कमाण्डों द्वारा ऐसे लोगों को मनोनीत किया जाता है, जो बहुत बार जनता के वास्तविक प्रतिनिधि नहीं होते, किन्तु किसी दलविशेष का सदस्य होने के ही कारण तथा अन्य कोई विकल्प न होने के कारण मजबूरी में उन्हें उसे वोट देना पड़ता है।

मतदाताओं की उदासीनता. हमारे चुनावों की सबसे बड़ी कमी चुनावों के प्रति सामान्य जनता की उदासीनता है। चुनाव तो कुल दिये गये मतों के आधार पर ही होते हैं। परन्तु बहुत बार $\frac{1}{2}$ मतदाता भी अपना वोट नहीं देते और इस प्रकार $\frac{1}{5}$ से भी कम मतदाता $\frac{4}{5}$ मतदाताओं की इच्छा को कुचल सकते हैं। भारत के प्रथम वयस्कनिर्वाचन में भी हमें यह बात दिखाई देती है। कुछ भागों में तो २० प्रतिशत मतदाताओं ने भी वोट नहीं दिये। इस तरह अल्पसंख्यक वोटों से ही कुछ लोग जनता के प्रतिनिधि चुन लिये गये।

लोग वोट क्यों नहीं देते ?

मतदाताओं के एक बड़े भाग का मताधिकार का प्रयोग न करना सच्चे प्रजातन्त्र के विकास में एक बड़ी बाधा है। लोगों के वोट न देने में जबर्दस्ती रुकावट एक गौण कारण है। वोट न देने का सबसे प्रधान कारण उसके मूल्य और उपयोगिता में लोगों का सन्देह है। बहुत-से लोग सोचते हैं, कि एक

वोट से क्या होगा, सारे ही उम्मीदवार या दल चोर हैं, क्यों व्यर्थ में अपना समय वर्बाद कर अपनी मजदूरी या कुछ समय की आय खोदी जाय। सामान्यतः स्त्रियां घर को ही अपना क्षेत्र समझने तथा राजनैतिक बातों से सर्वथा अनभिज्ञ होने के कारण बहुत कम मताधिकार का प्रयोग करती हैं। सामान्य जनता भी राजनैतिक समस्याओं को नहीं समझती, उम्मीदवारों की योग्यता और चरित्र से परिचित नहीं होती और न ही उन्हें जानने में समय लगाती है। वैदेशिक नीति, कर प्रस्ताव, उद्योगों का संरक्षण आदि ऐसे पेचीदे मसले हैं जिन पर एक साधारण नागरिक अपना मत नहीं दे सकता और प्रायः जनता इन मसलों पर मत देते हुए अपनी शक्ति का बुद्धिमत्ता से प्रयोग नहीं करती। किन्तु बावजूद इसके सरल और अतिमहत्त्वपूर्ण मसलों पर उनकी शक्ति प्रभावक और निर्णायक होती है, इस तरह शासन पर उनका अन्तिम अंकुश होता है।

प्रजातन्त्र और स्वार्थी वर्ग

प्रजातन्त्र का उद्देश्य धनिकों या कुलीनों के हाथ से शक्ति छीन कर सामान्य जनता को उसे प्रदान कर देना था। एकतत्त्वीय समाज में, जहां एक ही वर्ग के लोग थे तथा जहां शासन की समस्याएं बहुत सरल थीं, प्रजातन्त्र आराम से चला।

समाज परिवर्तनशील है। पूंजीवाद और औद्योगीकरण के विकास ने समाज में विचित्र विभिन्नतत्त्वीयता उत्पन्न कर दी है। आज केवल किसानों और व्यापारियों का ही वर्ग नहीं है, उद्योगपति और मजदूर हैं, जमींदार और किसान हैं, बौद्धिक वर्ग और यातायात साधनों के स्वामी वर्ग हैं, विभिन्न प्रान्तों, धर्मों, भाषाओं, और संस्कृतियों के लोग एक प्रजातन्त्र के सदस्य हैं। उनकी न समान शिक्षा है, न समान रिवाज हैं, न समान धारणाएं हैं। उनके बीच भीषण मतभेद होना स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त सरकार द्वारा विचारणीय प्रश्नों की सूची बराबर बढ़ती जा रही है और वह प्रश्न ऐसे नहीं जिन्हें कि एक चौपाल में बैठ कर हल किया जा सके। इन्हीं कारणों से प्रजातन्त्र का काम करना बहुत कठिन हो गया है।

प्रारम्भ में विभिन्नतत्त्वीयता (Heterogeneity) मुख्यतः भौगोलिक थी। भौगोलिक निर्वाचनक्षेत्रों का निर्माण कर उसे हल करने की कोशिश की जाती थी। किन्तु आजकल विभिन्नतत्त्वीयता पेशों और आर्थिक धन्धों पर आधारित हैं। यह नये सामाजिक वर्ग स्थानविशेषों में केन्द्रित न

हो, सब जगह फैले हुए हैं; और इन सामाजिक वर्गों के स्वार्थ भिन्न-भिन्न, और बहुत बार परस्परविरोधी भी होते हैं।

वास्तव में आजकल प्रजातन्त्रों में विभिन्न दल जनता के नाम पर विशिष्ट स्वार्थों के लिए सरकार चलाते हैं। जूट पर ड्यूटी लगने पर, चीनी का दाम घटाने पर, कपड़े का नियन्त्रण करने पर, खाद्यान्न का आयात नियन्त्रित करने पर, मजदूरी बढ़ाने पर विभिन्न वर्गों में विभिन्न प्रतिक्रिया होती है और ऐसी स्थिति में विभिन्न वर्ग अपने स्वार्थ के पक्ष में सरकार पर दबाव डालने की कोशिश करते हैं। अमरीका आदि देशों में लाबिंग द्वारा स्वार्थीवर्ग विधान-मण्डल की गैलरी में सदस्यों को प्रभावित करके यह कार्य सम्पन्न करते हैं। यह ठीक है कि स्वार्थीवर्ग सरकार पर अपने पक्ष में दबाव डालते हैं पर कोई भी स्वार्थीवर्ग समस्त वर्गों के विरुद्ध सदा सरकार को नियन्त्रित नहीं कर सकता।

सरकार के कार्य

सरकार के नियन्त्रण की समस्या ही आज राजनीति की प्रमुख समस्या नहीं है। आज यह प्रश्न भी अत्यधिक महत्त्व का है कि सरकार को क्या-क्या कार्य करने चाहिए। अल्पतमहस्ताक्षेपनीति के हिमायतियों का कहना है कि जो सरकार जितना कम शासन करती है वह उतनी ही श्रेष्ठ है। उनके अनुसार न्याय, सुरक्षा तथा कुछ अन्यकार्य ही राज्य के मुख्य कार्य हैं। मध्यकाल में सरकार प्रायः निरंकुश शासन से सम्बद्ध थी। अतः यह स्वाभाविक था कि लोग सरकार के हाथ में अधिक शक्ति देते हुए डरें। उधर उदीयमान उद्योग-पति भी यह चाहते थे कि राज्य आर्थिक और अन्य मामलों में कम से कम दखल दे।

इसमें संदेह नहीं कि शांतिव्यवस्था की स्थापना राज्य का विशिष्ट कार्य है। राज्य ही एक ऐसी संस्था है जिसका कानून उसकी सीमा में रहने वाले सभी व्यक्तियों पर समान रूप से लागू होता है और जिसके पालन के लिए सब को बाध्य किया जा सकता है। अतः राज्य ही ऐसी संस्था है जो सुचारुरूप से शांति व्यवस्था स्थापित कर सकती है। इसके अतिरिक्त, माप, तोल, गुण और मूल्यों के मान, रहन-सहन का कम से कम दर्जा, विभिन्न संस्थाओं और समितियों के अधिकार क्षेत्र को निर्धारित कर सकने वाली भी राज्य ही एकमात्र संस्था है।

राज्य केवल व्यवस्था कायम कर ही संतुष्ट नहीं हो जाता। और फिर निरंकुश और प्रजातन्त्र की व्यवस्था स्थापना में भी सदैव अन्तर होता है।

शांतिव्यवस्था में व्यवस्थापकों की प्रतिष्ठा और पद का भी प्रभाव होता है इसके अतिरिक्त वह विभिन्न अवसरों पर उपयुक्त समझे जाने वाले व्यवहार पर भी आधारित होती है। इसके अन्दर सदैव कोई न कोई न्याय का सिद्धान्त निहित रहता है। केवल कानून के सम्मुख समानता द्वारा नागरिकों के अधिकारों को संरक्षित नहीं किया जा सकता। अनातोले फ्रांस ने ठीक ही लिखा है "अपनी शान में समानता गरीब-अमीर दोनों को सड़कों पर सोने और भीख मांगने का निषेध करती है।" वास्तव में किसी राज्य की व्यवस्था बहुत कुछ वहां की सम्पत्ति-पद्धति पर निर्भर होती है। साम्पत्तिक अधिकार प्रकृति द्वारा निर्धारित नहीं होते अतः उनकी व्याख्या करने के लिए किसी अधिकारी की जरूरत पड़ती है।

सरकार के उपयुक्त कार्य

वैसे तो उन कार्यों की जिन्हें सरकार सुचारु रूप से सम्पन्न कर सकती है, सूची तैयार करना असंभव है, फिर भी कुछ कार्य ऐसे हैं जिनके लिए सरकार विशेषरूप से उपयुक्त है। व्यक्ति दीर्घकालीन दृष्टि नहीं रखते, उनके स्वार्थ अनेक बार सार्वजनिक हित की उपेक्षा कर बैठते हैं। उदाहरण के लिए प्राकृतिक साधनों—जंगलों, खनिज पदार्थों और पशु धन का संरक्षण ऐसी ही समस्याएं हैं। जहां व्यक्तिगत प्रतियोगिता या एकाधिकार सामाजिक हित को हानि पहुंचाते हैं वहां पर सरकार का हस्ताक्षेप उचित हो जाता है। जनता की शिक्षा भी ऐसा विषय है जिसका सार्वजनिक कल्याण से सम्बन्ध है। अतः बेहतर है कि राज्य उसका उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले और उसे संकीर्ण स्वार्थों से पृथक् करे। ऐसे ही सामाजिक नीति निर्धारित करने के लिए भी यह जरूरी है कि जनसंख्या आदि महत्त्वपूर्ण तथ्यों और आंकड़ों का संग्रह करे। जैसा कि हम पहले भी कह चुके हैं कि इस बात की कोई पूर्व-निर्धारित सीमा नहीं है कि राज्य क्या करे और क्या न करे।

सरकार के अनुपयुक्त कार्य

राज्य के अन्दर विद्यमान विभिन्न समितियां इस बात की साक्षी हैं कि राज्य अपने नागरिकों की अनन्त आवश्यकताओं, रुचियों, रुस्तों को पूरा नहीं कर सकता। राज्य समस्त समुदाय की संस्था है। अतः यह बेहतर है कि वह उन्हीं बातों को अपने नियन्त्रण में ले जिन पर सामान्यतः नागरिकों म एकमत पाया जाता है तथा जिनका सार्वजनिक महत्त्व है। परन्तु धर्म, साहित्य, कला, वैज्ञानिक विवेचना, व्यक्तिगत रुचियां कुछ ऐसे ही विषय हैं जिन पर राज्य का नियंत्रण अनुचित है। निःसंदेह विश्वास, कला, साहित्य, संस्कृ

सरकार से प्रभावित होते हैं, किन्तु इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि इन की जीवनशक्ति और प्रेरणा का स्रोत जनता में निहित है जो राज्य की निर्धारण शक्ति के परे है।

सरकार की कार्यक्षमता

विशेषकर पिछले पचास सालों में सरकार का कार्यक्षेत्र बराबर बढ़ता जा रहा है।। बहुत से व्यक्तियों को इसमें कोई मौलिक आपत्ति नहीं है पर उनका मुख्य संदेह सरकार के कार्यों को बढ़ाने में सरकारी कार्यक्षमता का है। भारतवर्ष में ही विद्यमान सरकारी कर्मचारियों में फैली हुई रिश्वतखोरी, भ्रष्टाचार, आरामतलबी और फिजूलखर्ची की प्रवृत्तियों को देखते हुए, यह बहुत कुछ स्वाभाविक भी है। कुछ व्यक्तियों का यह भी कहना है कि सरकारी कर्मचारी अपना निजी कार्य या लाभ न होने के कारण सरकारी काम को उतनी मेहनत या लगन से नहीं करते जितना कि वह किसी निजी कार्य को करते। सरकारी सेवा में जाते ही उनकी कार्यप्रेरणा मारी जाती है। इस सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त है कि सब जगह और सब समय सरकारी सेवाओं में ऐसा नहीं होता। शिक्षा, जनमत और दण्ड की सहायता से बहुत कुछ कार्यक्षमता को उन्नत किया जा सकता है। हम देखते हैं कि इंग्लैंड और रूस में सरकारी कर्मचारियों की कार्यक्षमता व्यक्तिगत कर्मचारियों से किसी कद्र कम नहीं कही जा सकती। फिर सरकार के सभी विभाग आज भी एक सी कार्यक्षमता प्रदर्शित नहीं कर रहे हैं। बहुत बार सरकारी उद्योगों का संगठन बहुत श्रेष्ठ होता है। पोस्टल विभाग का संचालन बहुत उत्तम है। तो क्या कारण है कि हम अन्य कार्यों में भी ऐसी ही कार्यक्षमता प्राप्त नहीं कर सकते ?

आज के युग में राज्य का अधिकाधिक उत्तरदायित्व अनिवार्य

१६ वीं सदी की अल्पतमहस्ताक्षेप नीति द्वारा पोषित अर्थव्यवस्था ने आर्थिक जीवन में भीषण अव्यवस्था की सृष्टि की। मन्दियां, बेकारी, सम्पत्ति की बर्बादी, विनाशकारी प्रतियोगिता इसका अभिन्न अंग हो गये। जनता को रोजगार देने, राष्ट्र की उत्पादन और वितरण प्रणाली को ठीक करने के लिए, राज्य का हस्ताक्षेप ही नहीं, प्रत्युत आर्थिक जीवन का आयोजन आवश्यक हो गया है। इन समस्याओं को व्यक्तिगत प्रयत्नों से सुलझाना आज असम्भव प्रतीत होता है। आर्थिक जीवन में सामंजस्य और एकीकरण स्थापित करने के ए यह आवश्यक हो गया है कि राज्य की सार्वजनिक संस्था ही इस कार्य को

अपने कंधे पर ले। इस तरह हम देखते हैं, कि राज्य का उत्तरदायित्व दिन पर दिन बढ़ता जा रहा है।

सरकार और सामाजिक परिवर्तन

वर्तमान जटिल जगत् में अनन्त कार्यों में संलग्न सरकार में प्रजातन्त्र का संचालन सुगम नहीं है। सामाजिक परिवर्तन का तथ्य भी इससे जुड़ा हुआ है। वास्तव में प्रजातन्त्र का संगठन उस अवस्था के अनुकूल है जहां सरल समस्याएं हों और जनता को शिक्षित करने का पर्याप्त समय हो। किन्तु प्रजातन्त्रीय व्यवस्थायें उस संकट अवस्था के अनुकूल नहीं हैं जहां कि शीघ्र निर्णय की आवश्यकता होती है। युद्ध और आजकल की आर्थिक मन्दियां ऐसे ही संकट हैं। ऐसी स्थिति में हमें कार्यकारिणी को विस्तृत अधिकार देने पड़ते हैं। भारत के संविधान में भी संकट काल में राष्ट्रपति को विस्तृत अधिकार प्रदान किए गये हैं। युद्ध और मन्दी एक असाधारण अवस्था है। ऐसे अवसर पर शीघ्र कार्यवाही का बड़ा महत्त्व है। शीघ्र परिवर्तनशील समाज में बहुत सी समस्याएं एक संकट का रूप धारण कर उपस्थित होती हैं। प्रजातन्त्र की मैशीन कम गतिशील समाज के लिए अधिक उपयुक्त है। यदि इसकी रफ्तार को तेज परिवर्तनों के अनुरूप न ढाला गया, तो कोई आश्चर्य नहीं कि उसकी जगह कोई दूसरी मैशीन अपनानी पड़े। अधिनायकों की गति निर्विवाद रूप से विधान-मण्डलों से तेज होती है।

सर्वेसर्वा राज्य (Totalitarian States)

फ्रेंच राज्यक्रान्ति के बाद प्रजातन्त्र के स्वरूप में अनेक परिवर्तन हुए हैं। परिवर्तनशील जगत् में प्रजातन्त्र में परिवर्तन स्वाभाविक बात है। हाल ही में विशेषतः प्रथम महायुद्ध के बाद एक नई प्रकार की सरकार का उद्भव हुआ है जिसे कि सर्वेसर्वा राज्य कहते हैं। युद्ध के बाद अनेक देशों में, विशेषतः पराजित राष्ट्रों में भीषण बेकारी फैल गई। प्रजातन्त्रीय सरकारें विद्यमान संकट का मुकाबिला करने में असमर्थ रहीं। ऐसे समय जनता मुक्तिदाता अधिनायकों की ओर आकर्षित हुई। जर्मनी में प्रजातन्त्रीय तरीके से ही सर्वेसर्वा सरकार की स्थापना हुई। वहां अल्प समय में सर्वेसर्वा सरकार ने युद्धयन्त्र का निर्माण किया। रूस में सर्वेसर्वा सरकार ने अपनी पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा दस सालों में असाधारण उद्योगीकरण को सम्पन्न किया। सर्वेसर्वा राज्य की सफलताएं उस पर विचार करने के लिये मजबूर करती हैं। वास्तव में सर्वेसर्वा राज्य प्रजातन्त्र के लिए जबर्दस्त चुनौती हैं।

सर्वेसर्वा राज्य जैसा कि उसके नाम से ही प्रकट है प्रत्येक कार्य में सर्वोपरि होता है। उसके कार्य बहुमुखी होते हैं; उसका नियन्त्रण सार्वभौम होता है। जहां तक वस्तुओं के उत्पादन का सम्बन्ध है उसकी अवस्था बहुत कुछ राज्य-समाजवाद से मिलती-जुलती है। निम्न अन्य विशेषताएं भी उसमें हो सकती हैं–(१) विधानमण्डल की बर्खास्तगी, (२) शासक द्वारा अधिनायक तन्त्रीय शक्ति (Dictatorial Powers) का ग्रहण करना, (३) मतदाताओं द्वारा मताधिकार का अल्प प्रयोग, (४) व्यक्तिगत स्वाधीनता पर पर्याप्त पाबन्दियां।

संकटकालीन उपादेयता. यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि संकट-काल में यह विशेषताएं प्रजातन्त्रीय राज्यों में भी दिखाई देती हैं। प्रजातन्त्रीय देशों के राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री संकटकाल में अधिनायकतन्त्रीय शक्तियां ग्रहण कर लेते हैं। प्रायः उन देशों का संविधान भी उन्हें इस बात की छूट देता है। भारत के संविधान में भी संकटकाल में राष्ट्रपति को विस्तृत अधिकार प्रदान किये गये हैं। ऐसी स्थिति में विधानमण्डलों की शक्ति बहुत सीमित हो जाती है, दलगत भावना बहुत दब जाती है। चुनाव प्रायः स्थगित हो जाते हैं; सरकार अनेक नये कार्यों को अपने हाथों में ले लेती है। निःसंदेह संकट-कालीन अवस्था सर्वेसर्वा राज्य के बहुत अनुकूल है। युद्ध की तैयारी में व्यस्त राज्य, सर्वेसर्वावाद की ओर अग्रसर होते हैं। सर्वेसर्वा राज्य को युद्धकालीन राज्य कहा जा सकता है।

अब प्रश्न यह है कि युद्ध की आशंका या योजनाएं शांत और समाप्त होने पर क्या सर्वेसर्वा राज्य पुनः प्रजातन्त्र की ओर अग्रसर होंगे? इस सम्बन्ध में हम यही कह सकते हैं कि उन देशों में जहां प्रजातन्त्र की परम्परा नहीं है, निःसंदेह सर्वेसर्वा राज्य की अवधि पर्याप्त लम्बी रहेगी। किसी चीज़ के कायम रहने में अभ्यास का बड़ा हाथ होता है, अतः कोई आश्चर्य नहीं कि दीर्घकाल तक सर्वेसर्वा सरकार के अभ्यस्त नागरिक आसानी से उसे छोड़ना पसंद न करें।

१९२० से पहले राज्यों का रुख प्रजातन्त्र की ओर था। निरंकुश सरकारें समाप्त होकर प्रजातन्त्रीय सरकारें कायम हो रही थीं। क्या सर्वेसर्वा सरकारों के वर्तमान उद्भव ने उस प्रवृत्ति को बदल दिया है, अथवा यह एक अस्थायी व्यतिक्रम है?

दिन पर दिन यह स्पष्ट होता जा रहा है कि द्रुतगति से परिवर्तनशील

और परस्पर अतिनिर्भर राज्य में विशुद्ध प्रजातन्त्र का संचालन असंभव है, राज्य के कर्तव्यों का बढ़ना स्वाभाविक है। अतः हम कह सकते हैं कि सर्वेसर्वा राज्य की समाप्ति के बाद भी सर्वेसर्वा राज्य द्वारा अपनायी हुई बहुत सी चीजें बहुत समय तक चलती रहेंगी। उदाहरण के लिए, उत्पादन, वितरण, संचय, विनियोग, आयात-निर्यात पर नियन्त्रण तथा अन्य ऐसे ही विषय जिन पर कि तत्काल निर्णय आवश्यक है, नई प्रजातन्त्रीय सरकारों को भी अपने हाथ में लेने पड़ेंगे तथा वह सर्वेसर्वा सरकार के ढांचे को पूर्णतः विनष्ट नहीं करेंगी।

स्वाधीनता बनाम संगठन

प्रजातन्त्र और सर्वेसर्वावाद की बहस को हम स्वाधीनता बनाम संगठन का झगड़ा कह सकते हैं। आज की पेचीदा आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक समस्याएं संगठन द्वारा ही सुलझाई जा सकती हैं। किसी चीज का संगठन करने में स्वाधीनता को अवश्य कुछ सीमित करना पड़ता है। आज की जटिल सामाजिक समस्याएं संगठन द्वारा ही सुलझायी जा सकती हैं। इनमें से मुख्य समस्याएं आर्थिक और औद्योगिक हैं। आज की सरकार के सामने एक महत्त्व-पूर्ण प्रश्न यह भी है कि उसका उद्योग के साथ क्या सम्बन्ध हो। ऐसे प्रश्न बहुत कुछ संकटकालीन बन गये हैं। इनको तत्काल सुलझाना आवश्यक है। इन्हें स्थगित करना बहुत खतरनाक सिद्ध हो सकता है।

राज्य का भविष्य·

शुरू से लेकर आज तक राज्य-संस्था में बराबर परिवर्तन होते आ रहे हैं। राजतन्त्र के स्थान पर सर्वेसर्वा राज्यों का उद्भव हो रहा है। इस परिवर्तन और विकास में एक बात स्पष्ट परिलक्षित हो रही है कि सरकार की सत्ता का चाहे कोई भी स्वरूप क्यों न रहे, पर उसके उत्तरदायित्व और कार्य निरन्तर बढ़ते जा रहे हैं।

प्रसिद्ध साम्यवादी कार्ल मार्क्स का विचार था कि कम-से-कम साम्यवादी समाज में राज्य अन्ततोगत्वा विलुप्त हो जाएगा। आजके समाजवादी राज्यों पर यदि दृष्टि डालें तो प्रकट होगा कि वहां ऐसे कोई आसार नजर नहीं आते। इसके विपरीत, राज्य की शक्ति बराबर सुदृढ़ और प्रबल होती जा रही है; हमारे आर्थिक, सामाजिक और नैतिक जीवन में राज्य का अधिकाधिक प्रवेश होता प्रतीत होता है।

राज्यसंस्था पर युद्ध के साधनों का भी जबर्दस्त प्रभाव होता है। जब

तक बन्दूक या पिस्तौल लड़ाई के मुख्य साधन थे तबतक जनक्रान्तियां बहुत सुगम थीं। बन्दूक और पिस्तौलधारियों की संख्या बहुत कुछ संघर्ष का निर्णय करती थी। किन्तु आज के जल-थल-आकाश युद्ध के नये साधनों ने जनक्रान्ति की सम्भावनाओं को एक अंश में समाप्त कर दिया है। आधुनिक शस्त्रों का अधिकार राज्यसत्ताप्राप्त व्यक्तियों को असाधारण अन्याय की शक्ति प्रदान करता है और अल्पसंख्यक समुदाय को अपना शासन कायम रखने में समर्थ बनाता है।

राज्य और बृहत् समाज

राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध. अभी तक हमने राज्यों की सीमा में उसके परिवर्तनों और कार्यों का अध्ययन किया है। हमें यह न भूलना चाहिए कि समाज का बृहत् क्षेत्र राज्य की सीमा के बाहर भी फैला हुआ है। कोई एक राज्य सभ्यता के साम्राज्य को नहीं घेरता। निःसंदेह राज्यों के आर्थिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध उन्हें निरन्तर निकट ला रहे हैं और वर्तमान सभ्यता एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की मांग करती है। राज्यों की व्यक्तिगत संधियों और समझौतों द्वारा यह कार्य कुछ अंशों में सम्पन्न होता है, किन्तु दूसरी ओर प्रलयंकर युद्धों ने एक महान् संकट उत्पन्न कर दिया है। राज्य की सीमा के अन्दर शक्ति का प्रयोग संरक्षण का आश्वासन है, साथ ही समुदाय द्वारा नियन्त्रित भी है। किन्तु राज्य की सीमा के बाहर इसका बिल्कुल दूसरा अर्थ है। बिना अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्व और संरक्षण के यह भीषण विनाश की सृष्टि करता है। परिणामतः इस विरोधाभास का सामना करना पड़ता है : राज्य राष्ट्रीय दृष्टि से सामाजिक सुरक्षा का महायन्त्र है; अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से वह सुरक्षा के लिए एक महान् संकट है।

आर्थिक और सामाजिक परस्परनिर्भरता के बढ़ने के साथ-साथ यह समस्या अपनी परिधि और उग्रता में बराबर बढ़ती जा रही है। इसने विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय-सुरक्षा की योजनाओं को हमारे सम्मुख रखा है। इसका एक तरीका विभिन्न राज्यों के बीच मैत्री-सम्बन्ध की स्थापना है। वर्तमान पश्चिमी संघ जिसमें पश्चिम योरोप के समस्त प्रमुख राज्य सम्मिलित हैं; एक ऐसा ही संगठन है। ब्रिटिश कामनवैल्थ का संगठन, पैसिफिक ब्लाक का प्रस्ताव, सोवियट ब्लाक ऐसी ही योजनाएं हैं। विभिन्न ब्लाकों का उद्देश्य शक्ति-संतुलन स्थापित करना, अपनी प्रभुता के क्षेत्र को विस्तृत करना होता है। शांति स्थापना के लिए विरोधी ब्लाकों का निर्माण सही कदम नहीं कहा

जा सकता। यह केवल विभिन्न पृथक् राज्यों के छोटे-छोटे युद्धों के स्थान पर कई सम्मिलित राज्यों के एक महान् युद्ध के आवाहन का अग्रदूत है।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् विभिन्न राष्ट्रों ने संयुक्तराष्ट्रसंघ के रूप में वृहत् समाज की ओर बढ़ने का एक नया प्रयत्न किया है। संयुक्तराष्ट्रसंघ का मुख्य कार्य विभिन्न राज्यों के झगड़ों को शांतिपूर्वक निपटाना है। राष्ट्रसंघ के कोई भी निर्णय तीन बड़े राष्ट्रों के, जिन्हें निषेधाधिकार (Right of veto) प्राप्त है, एकमत के बिना नहीं हो सकते। ऐसी स्थिति भी बड़े राष्ट्रों के बीच के झगड़े निपटाने में अभी असमर्थ है। इसके अतिरिक्त, दक्षिणी अफ्रीका, काश्मीर, कोरिया के झगड़ों को निपटाने में भी संयुक्तराष्ट्रसंघ को विशेष सफलता नहीं मिली है। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि किसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के न होने से कुछ कमियों वाली एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का होना उपयोगी है।

चौदहवां अध्याय

क्रीड़ा, मनोरंजन और शिक्षण-संस्थाएं

क्रीड़ा का कार्य और महत्त्व

क्रीड़ा एक मानवसुलभ सहज प्रवृत्ति है। बाल्यावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक यह विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होती है। क्रीड़ा की इस प्रवृत्ति को परितृप्त करने के लिए बालक, युवा और वृद्ध, स्त्री और पुरुष विभिन्न प्रकार के क्रीड़ा समूहों, साधनों और संस्थाओं का आश्रय लेते हैं।

क्रीड़ा समूह एक प्रारम्भिक समूह है। आनन्द, उद्दीपन, उत्तेजना, मनोरंजन इसकी क्रियाओं की विशेषताएं हैं। क्रीड़ा में मनुष्य अपने दैनिक कार्यों की तुलना में अधिक शक्ति का व्यय कर सकते हैं और उसकी समाप्ति पर एक अद्भुत तृप्ति और आनन्द का अनुभव कर सकते हैं। क्रीड़ा में समय व्यतीत होता पता नहीं चलता। क्रीड़ा में मनुष्य सबसे अधिक तन्मय और निश्चिन्त होता है। इस समय उसके व्यक्तित्व के दबे हुए गुणों को सरलता से उद्दीप्त किया जा सकता है।

क्रीड़ा-समूह, कार्य-समूह का पूरक है। क्रीड़ा व्यक्तित्व के विकास को संतुलन प्रदान करती है। काम के घंटे कम हो जाने पर क्रीड़ा ही व्यक्तित्व की आवश्यकताओं को पूरा करती है। यदि संसार अधिकाधिक अवकाश की ओर अग्रसर हो रहा है, तो हमें उसकी शून्यता, उसके निठल्लेपन को भरने के लिए क्रीड़ा की और भी अधिक आवश्यकता होगी, अन्यथा खाली व्यक्तियों के व्यक्तित्वों के विशृङ्खल होने का संकट सदैव हमारे सम्मुख उपस्थित रहेगा।

अवकाश के समय व्यक्तित्वों के निर्माण और सामुदायिक जीवन की समृद्धि में क्रीड़ा का वही महत्त्व है जो कि व्यस्त समय में धर्म, शिक्षा, स्वास्थ्य और कार्य का है। क्रीड़ा को इतना ऊंचा स्थान देने का एक और भी कारण है। क्रीड़ा कार्य का स्थानापन्न बन सकती है; यह जीवन में स्फूर्ति लाती है; व्यक्तित्व के विकास में सहायता करती है; समूह में अनुशासन और साहस कायम रखती है; लोगों में उत्साह की वृद्धि करती है और उन्हें मिलकर सामूहिक जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा दे सकती है।

पारिवारिक जीवन, पेशेगत कार्य और क्रीड़ा, यह तीनों ही तत्त्व व्यक्तित्व के विकास के लिए अपेक्षित हैं। जैसे-जैसे यान्त्रिक आविष्कारों और सामाजिक विधानों के परिणामस्वरूप अवकाश की अवधि बढ़ती जा रही है, क्रीड़ा को जीवन के एक महत्त्वपूर्ण अंग और क्रिया के रूप में स्वीकार किया जा रहा है। इस प्रकार दैनिक कार्य की समस्याओं की तुलना में अवकाश की समस्याएं अधिक वेग से बढ़ रही हैं।

यों तो मनोरंजन ने सदैव ही मनुष्य का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया है, पर आज तो स्वास्थ्य, कार्यकुशलता और सामाजिक व्यवहार को दृष्टि में रख जीवन की योजना में इसे एक प्रमुख स्थान प्रदान किया जा चुका है। क्रीड़ा के प्रति आज यह अभिरुचि इतनी अधिक बढ़ चुकी है कि आज मनुष्य के समय, शक्ति और सम्पत्ति का बड़ा अंश मनोरंजन पर व्यय हो रहा है।

क्रीड़ासमूह एक प्रारम्भिक समूह है जिसमें बच्चे की प्रारम्भिकतम धारणाएं विकसित होती हैं। इसका जन्म प्रायः परिवार में होता है, जो कि स्वयं ही एक प्रारम्भिक समूह है। पड़ोस के बच्चे या परिवार में रहने वाले अन्य बच्चे ही एक व्यक्ति का प्रारम्भिकतम क्रीड़ासमूह होते हैं। सामान्य परिस्थितियों में बाल्यावस्था और किशोरावस्था की प्रधान पृष्ठभूमि क्रीड़ा समूह का जीवन है। यद्यपि क्रीड़ा सम्बन्धी धारणाएं सारे जीवन भर सामान्य ही रहती हैं।

क्रीड़ा समूह का महत्व उसकी प्रसन्नता-प्रदायक प्रकृति में निहित है। यह रोचक उद्दीपनों से परिपूर्ण है। यह सजीव है। एक क्रीड़ासमूह आनन्द-दायक वातावरण, उद्दीपक घटनाओं और क्रिया के परिवर्तित दृश्यों का एक आदर्श समन्वय है। इसमें व्यक्ति साधारणतया अपने से बड़ों के साथ भाग न लेकर अपने बराबर वालों, अथवा ऐसे व्यक्तियों के साथ जो उससे बराबर वालों जैसा ही व्यवहार कर रहे हों, भाग लेता है। क्रीड़ा बन्धुत्व प्रदान करती है।

क्रीड़ा और मनोरंजन का इतिहास मानवजाति के बराबर ही पुराना है। सरल आरण्यक समुदायों से लेकर आज के जटिल औद्योगिक समाज में यह निरन्तर विद्यमान रहा है। यद्यपि विभिन्न कालों, विभिन्न देशों और विभिन्न जातियों में इसके विभिन्न प्रकार रहे हैं, फिर भी क्रीड़ा के मूल तत्त्व बेतकल्लुफ़ी, समानता, सक्रियता, उद्दीपन, वैचित्र्य, आदर्शों और धारणाओं के निर्माण और परिवर्तन का कार्य सदैव ही उपस्थित रहे हैं।

क्रीड़ा के प्रति विभिन्न धारणाएं

विभिन्न समाजों और एक ही समाज में विभिन्न कालों में क्रीड़ा के प्रति पृथक्-पृथक् धारणाएं रही हैं। आरण्यकसंस्कृतियों के लोगों ने कार्य और क्रीड़ा को पृथक् करके नहीं देखा। ग्रीक लोगों में प्रतियोगिता, एक दूसरे से आगे बढ़ने की होड़ की भावना ने, क्रीड़ा को लोकप्रिय बनाया।

हमारे देश में युद्ध विद्या के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के खेलों में दक्षता प्राप्त करना विशेषरूप से क्षत्रियों का धर्म समझा जाता था। मध्यकाल में वैराग्यवाद के उदय ने क्रीड़ा के प्रति उच्च वर्गों में उपेक्षा की भावना पैदा करने का प्रयत्न किया। फिर भी सामान्यतः क्रीड़ा हमारी सामान्य जनता के जीवन का सभी कालों में एक अभिन्न अंग रही और उसे उन्होंने कभी भी निन्दनीय नहीं समझा। इसका एक और भी कारण था कि हमारे यहां खेल-कूद, नृत्य-गान, अभिनय और नाटक आदि क्रीड़ा और मनोरंजन के साधन धार्मिक उत्सवों से घनिष्ठतया सम्वन्वित रहे हैं। परिणामतः धार्मिक उत्सव क्रीड़ा की सहज प्रवृत्ति की सुन्दर और स्वाभाविक अभिव्यक्ति के उपयुक्त अवसर बन गये हैं। वर्तमान काल में हमारे ऊपर पाश्चात्य संस्कृति के प्रबल प्रभाव के होते हुए भी, गांवों में क्रीड़ा का धार्मिकरूप अभी तक विद्यमान है। नगरों में अवश्य क्रीड़ा के पाश्चात्य साधन दिन-प्रतिदिन लोकप्रिय होते जा रहे हैं।

क्रीड़ा के सिद्धान्त

विद्वानों ने क्रीड़ा के उद्गम के विभिन्न कारण प्रस्तुत किए हैं।

१. **अतिरिक्त शक्ति.** इस सम्बन्ध में उन्नीसवीं शती के अन्त में हर्बर्ट स्पेन्सर ने अतिरिक्त शक्ति (Surplus Energy) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उसके अनुसार ज्योंही बच्चे में अतिरिक्त शक्ति का संचार होता है, वह खेलने लगता है। यह सिद्धान्त सर्कस में काम करने वाली उस लड़की पर लागू नहीं होता जो भभकते पैंट्रोल के कुएं में कूद, थक कर अपने प्राण दे देती है। हर्बर्ट स्पेन्सर का सिद्धान्त क्रीड़ा के एक अंश को ही समझा सकता है।

२. **पुनरावृत्ति.** जान फिस्के ने क्रीड़ा के पुनरावृत्ति (Recapitulation) सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उसके अनुसार बच्चा क्रीड़ा में मानव विकास की एक के बाद एक सीढ़ी शीघ्रता से पार करता चला जाता है। जानवरों को सताने या दल बना कर लड़ने से लेकर वह सुनियंत्रित

सामाजिक क्रीड़ा की ओर अग्रसर होता है। यह सिद्धान्त भी अपूर्ण है और क्रीड़ा के केवल एक पक्ष की ही व्याख्या करता है।

३. **सहज प्रेरित शिक्षण.** ग्रूस के अनुसार क्रीड़ा जीवन के लिए एक सहज प्रेरित तैयारी है। एक बिल्ली का एक लकड़ी के टुकड़े के साथ खेलना उसे चूहे पकड़ने की शिक्षा देता है और एक बच्चे का खेल उसे वस्तुएं बनाने और जुटाने की शिक्षा प्रदान करता है। एक नन्ही लड़की का अपनी गुड़िया से खेल उसे मातृत्व के लिए तैयार करता है। इसमें बहुत कुछ सत्य है। इसके अतिरिक्त क्रीड़ा अनुशासन और नियमपालन के प्रति सम्मान पैदा करती है। यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि क्रीड़ा जीवन के लिए तैयारी ही नहीं, वरन् उत्कृष्ट जीवन के लिए तैयारी है। यह सिद्धान्त भी सब प्रकार की क्रीड़ाओं की व्याख्या करने में असमर्थ है।

४. **व्यक्तित्व की स्वाभाविक अभिव्यक्ति.** जान ड्यूई ने क्रीड़ा को व्यक्तित्व की स्वाभाविक अभिव्यक्ति कहा है। क्रीड़ा और कार्य का अन्तर केवल समय का है। क्रीड़ा में साध्य और साधन सीधे संयुक्त होते हैं। अतः क्रीड़ा में आकर्षण प्रत्यक्ष होता है।

निष्कर्ष. उपर्युक्त कोई भी सिद्धान्त अपने आपमें पूर्ण नहीं है, किन्तु प्रत्येक में ही कुछ सत्य का अंश निहित है। क्रीड़ा की सम्पूर्ण व्याख्या में हमें इन सभी सिद्धान्तों के सही तत्त्वों को नये तत्त्वों के साथ सम्मिलित करना होगा। क्रीड़ा की व्याख्या के लिए विस्तृत और संतुलित सिद्धान्त की आवश्यकता है।

क्रीड़ा में उन सब क्रियाओं का समावेश है जो कि बिना किसी पुरस्कार के प्रलोभन के केवल स्वान्तःसुखाय सम्पन्न की जाती हैं। उनका उद्दीपन उनमें स्वयं अन्तर्हित है। बच्चों को खेल खिलाने के लिए पुरस्कारों की आवश्यकता नहीं पड़ती। जब हम क्रीड़ा का लक्ष्य पुरस्कारों को रख देते हैं तो खेल का उद्देश्य वस्तुगत हो जाता है और क्रीड़ा स्वयं एक कार्य बन जाती है।

अवकाश के उपयोग में मुनाफ़ावृत्ति

आधुनिक युग में मुनाफ़ाखोर व्यापारियों ने मनुष्य की मनोरंजन प्रवृत्ति का पूरा फायदा उठाया है। आज करोड़ों रुपया इस कार्य में व्यय किया जा रहा है। थियेटर, सिनेमा, सर्कस, क्रिकेट, फुटबाल, नृत्य, गान, प्रभृति क्रीड़ाएं आज मुनाफ़ाखोर व्यापारियों के हाथ में चली गई हैं।

हमने केवल व्यक्तिगत लाभ के लिए, मनुष्य की मनोरंजन प्रवृत्ति के शोषण के लिए ही नहीं छोड़ दिया है, बल्कि स्वार्थी संचालकों को अपने इस व्यापार में सैकड़ों हजारों व्यक्तियों को लगाकर उनके नैतिक स्तर को नीचे गिराने और उनकी कला का दुरुपयोग करने और उनके श्रम का शोषण करने की भी स्वतन्त्रता प्रदान की है। इस अनियंत्रित व्यक्तिवादी व्यवस्था में हम व्यक्तित्व के विकास और सामाजिक कल्याण की क्या आशा कर सकते हैं ?

पिछले तीस सालों से हमारे अवकाश व मनोरंजनों पर पूंजीपतियों का आधिपत्य दिन पर दिन बढ़ता जा रहा है। जनता की गाढ़ी कमाई के करोड़ों रुपये प्रतिवर्ष उनकी जेबों में जा रहे हैं। मनुष्य की क्रीड़ा प्रवृत्ति का प्रयोग सार्वजनिक कल्याण या व्यक्तित्व के निर्माण में न होकर रुपया बनाने में हो रहा है। सर्वत्र मनोरंजन के सस्ते और निम्न साधन जुटाए जा रहे हैं। जनता की क्रीड़ा प्रवृत्ति को अश्लील और भड़कीले विज्ञापनों द्वारा तथा सनसनीपूर्ण मनोरंजन जुटा कर तृप्त किया जा रहा है। लोग भी थोड़े से पैसे खर्च कर यहां पर इतनी उत्तेजना पाते हैं कि एक बार उसका मज़ा चख उन्हें उनका चस्का पड़ जाता है।

सिनेमा

शहरों और कस्बों में सिनेमा आज मनोरंजन का प्रमुख साधन बन चुका है। दिन प्रतिदिन इसके प्रति जनता की अभिरुचि बढ़ती जा रही है। इसके प्रभाव का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि क्या गलियों के आवारा बच्चे, और क्या भद्र परिवारों के शिक्षित बच्चे, सभी को ही आप कोई न कोई सिनेमा का नवीनतम, निरर्थक, बेसुरा गाना गुनगुनाते पायेंगे। कालिजों और क्लबों में विद्यार्थियों और सभ्य सदस्यों की चर्चा का विषय भी मुख्यतया सिनेमा उसके अभिनेता और अभिनेत्रियां ही होते हैं। सिनेमासम्बन्धी पत्रिकाओं का प्रचार भी खूब बढ़ता जा रहा है।

भारतवर्ष में आज ६० स्टूडियो हैं जहां प्रतिवर्ष लगभग २७५ चित्रों का निर्माण होता है; ३२५० सिनेमाहाल हैं, जहां लगभग ६० से ७५ करोड़ व्यक्ति प्रतिवर्ष फिल्म देखते हैं। संसार के फिल्म उत्पादन में आज भारतवर्ष का दूसरा स्थान है। सिनेमा उद्योग में हमारा लगभग ४० करोड़ रुपया लगा हुआ है और लगभग ७० हजार व्यक्ति संलग्न हैं। संघ और राज्य सरकारों को सिनेमा के मनोरंजन-कर से प्रायः ५½ करोड़ रुपये प्रतिवर्ष की आय होती है। उसे काट-कर सिनेमा उद्योग को लगभग २० करोड़ वार्षिक आय होती है।

सिनेमा की लोकप्रियता के कारण. विभिन्न व्यक्तियों द्वारा सिनेमा की लोकप्रियता के अनेक कारण उपस्थित किए गये हैं जिनमें से प्रमुख यह हैं : (१) इसमें दिखलाई जाने वाली वस्तु की अपरिचितता का आकर्षण प्रवल है। (२) इसमें समय की कोई पावन्दी नहीं है, जो जब चाहे जाकर बैठ सकता और उठ कर चला आ सकता है। (३) इसके लिए किसी बात के प्रति किसी विशेष दृष्टिकोण और विश्वास की आवश्यकता नहीं पड़ती। यहां तक कि किसी भाषा तक का ज्ञान अनिवार्य नहीं होता। (४) यह हमारी भावनाओं को अपील करता है। चाहे वह बच्चों के प्रति प्रीति हो, घर के प्रति आकर्षण हो, झंडे के प्रति आदर हो, साहस की प्रशंसा हो या प्रेम के लिए बलिदान हो, यह सब हमारी भावनाओं को उद्वेल्लित करते हैं। सिनेमा में इन भावनाओं को कई वार सुन्दरता से तो अनेक वार भद्देपन से प्रस्तुत किया जाता है, हमारी कामुकता की भावनाओं को उभारने का प्रयत्न किया जाता है। (५) सामान्य जनता के लिए यह एक सस्ता और सुलभ मनोरंजन का साधन है जहां कि वह अकेले अथवा मित्रों या बच्चों के साथ सरलता से जा सकती है।

जैसे-जैसे सिनेमा की टैकनीक उन्नत होती जा रही है, उसका प्रभाव और अपील भी बढ़ती जा रही है। वास्तविक ध्वनि और टेक्नीकलर चित्रों ने तो सिनेमा की सजीवता और यथार्थता में असाधारण वृद्धि कर दी है। संसार की शायद ही कोई ऐसी घटना हो जिसे कि आज यथार्थ रूप में सिनेमा के पर्दे पर नहीं दिखाया जा सकता। इसके अतिरिक्त, उदाहरणार्थ वाल्ट डिज्ने के व्यंग चित्रों ने सिनेमा को एक नई दिशा दिखाई है। यह चित्र यथार्थवादी चित्रों से भी अधिक तृप्ति प्रदान करते हैं, क्योंकि यह दर्शक को जीवन की कठोर वास्तविकताओं से दूर भागने, और अपने को विस्मृत करने में सहायता प्रदान करते हैं।

सिनेमा-नियन्त्रण की आवश्यकता. सिनेमा अप्रत्यक्ष सुझाव (Indirect suggestion) का जवर्दस्त हथियार है। पूंजीवादी देशों में पैसा कमाने और तानाशाही देशों में प्रचार के लिए इसका वड़े पैमाने पर प्रयोग हुआ है। सिनेमा एक ऐसा शक्तिशाली हथियार है जिसका रचनात्मक और विनाशात्मक दोनों उद्देश्यों के लिए प्रयोग किया जा सकता है। रचनात्मक या सृजनात्मक प्रवृत्तियां सौहार्द, क्रीड़ा, कला, नैतिकता, सौन्दर्य और सामाजिकता को मजबूत करती हैं। इसके विपरीत विनाशात्मक या पतित प्रवृत्तियां घृणा, सस्ते मनोरंजन, अनैतिकता, अश्लीलता और समाजविरोधी प्रवृत्तियों को बढ़ावा देती

हैं। ऐसी स्थिति में कोई भी उत्तरदायी सरकार सिनेमा जैसे प्रभावशाली साधन को स्वतन्त्र नहीं छोड़ सकती। सिनेमा जैसे अत्यन्त लोकप्रिय मनोरंजन का नियन्त्रण अनिवार्य प्रतीत होता है। इसीलिए प्रत्येक प्रजातान्त्रिक सभ्य राष्ट्र भी आज सिनेमा के सेन्सर की पद्धति को अपना रहा है। इसके विपरीत तानाशाही राज्यों ने आर्थिक व्यवस्था और शिक्षा के साथ सिनेमा को भी पूर्णरूपेण अपनी नीति को प्रचारित करने का साधन बना लिया है।

एक प्रसिद्ध लेखक के शब्दों में हम अपने देश की स्थिति को इस तरह व्यक्त कर सकते हैं: "हम आज मनोरंजन के नाम पर संसार की प्रत्येक अनैतिकता को खुले आम अपने बच्चों के सम्मुख प्रदर्शित कर रहे हैं।....अपराध को मनोरंजन के लिए प्रयुक्त किया जा रहा है।....चित्र एक सजीव और संपूर्ण कहानी होती है, जिसे कि वास्तविकता की तुलना में समझना सौ गुणा सुगम होता है...एक दुराचारी के जीवन को एक घंटा आकर्षक रूप से प्रस्तुत करने के बाद एक मिनिट के लिए यह कह देना कि यह भूल है, ऐसे प्रदर्शन को क्षम्य नहीं बना सकता।"

आज हमारे यहां अच्छे-बुरे सभी प्रकार के चित्र बनाए जा रहे हैं। पर इनमें सस्ते और निम्न स्तर के चित्रों का अनुपात ही अधिक है। इनमें से अधिकांश तथाकथित मनोरंजक चित्रों में किसी लड़के-लड़की की कहानी, आठ-दस सस्ते भद्दे गाने और भोंड़े नाच अथवा मद्यपान और मारकाट, या बेहूदे तरीके से दिखाई गई पौराणिक या धार्मिक गाथाएं होती हैं। इस प्रकार सिनेमाप्रदर्शक सामान्य अर्धशिक्षित जनता की वासनात्मक व आक्रमणात्मक अपराधवृत्ति अथवा धार्मिक भावनाओं का पूरा-पूरा दुरुपयोग करते हैं।

एक प्रमुख चलचित्र निर्माता के अनुसार सबसे अधिक दर्शकों को आकर्षित करने वाले चित्र वह हैं जो कि एक किशोर के मानसिक स्तर को व्यक्त करते हैं। सामान्य चित्रों का यही बौद्धिक स्तर होता है। वे निर्माता जो कि उच्च कलात्मक या शिक्षात्मक महत्त्व और मूल्य के चित्र बनाने का प्रयत्न करते हैं, बहुत ही थोड़े दर्शकों को आकर्षित कर पाते हैं। यही कारण है कि 'खिड़की' या 'बहार' जैसे सस्ते चित्र जहां एक-एक शहर में साल साल भर चल जाते हैं, वहां 'डा. कोटनिस' या 'छोटा भाई' जैसे सुन्दर चित्रों का एक सप्ताह चलना भी कठिन हो जाता है। ऐसी स्थिति में अच्छे चित्रों का निर्माण जिनमें अल्प-लाभ या आर्थिक हानि की पूरी सभावना हो सर्वथा असंभव है।

इन सब बातों को देखते हुए हमें नैतिकता विरोधी गन्दे चित्रों के उत्पादन और प्रदर्शन की रोकथाम युक्तिसंगत प्रतीत होती है। पर इस सम्बन्ध में दो प्रश्न विचारणीय हैं : (१) चित्रों का नियन्त्रण उनके उत्पादन से पहले हो या बाद में और (२) क्या सरकार को चित्रों के निर्माण को स्वयं संचालित करना चाहिए। वास्तव में नियन्त्रण की समस्या बड़ी ही जटिल है, इसका सरल उत्तर देना कठिन है। गन्दे चित्रों की रोक और अच्छे चित्रों का प्रोत्साहन आवश्यक है, पर साथ ही चित्रों के निर्माण की स्वाधीनता तथा सामाजिक प्रश्नों पर विरोधी मत प्रकाशन की स्वतन्त्रता भी महत्त्वपूर्ण हैं। इस प्रकार एक अच्छा नियन्त्रण राजकीय आदेशानुसार निर्मित चित्रों से भिन्न वस्तु है।

अवकाश के नये उपयोग

मनुष्य ने बहुत अवकाश से अपनी यात्रा प्रारम्भ की। दासता और सामान्तवाद के युग में समाज के एक वर्ग के भाग्य में समस्त अवकाश और दूसरे वर्ग के भाग्य में समस्त कार्य आ पड़ा। दैनिक श्रम से राहत पाने का एक मात्र मार्ग निष्क्रियता, मद्यपान या नीचे दर्जे का नाच-गान था। आज से डेढ़ सौ वर्ष पहले वाष्पशक्ति के विकास ने फ़ैक्टरी-व्यवस्था को जन्म दिया। उच्च वर्ग को अत्यधिक अवकाश और श्रमिक वर्ग को पुनः अल्प-अवकाश था। किन्तु मैशीनों के अधिकाधिक प्रसार, श्रमिकों के संगठन और सरकारी व सामाजिक कानूनों ने, श्रमिकों के काम करने के घंटों में पर्याप्त कमी कर दी और उनके अवकाश में बहुत वृद्धि कर दी। आधुनिक आविष्कारकों का तो यहां तक कहना है कि वह दिन अधिक दूर नहीं जब कि मनुष्य को अपनी समस्त प्रकार की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए चार घण्टा प्रति दिन से अधिक काम नहीं करना पड़ेगा।

आधुनिक नगर ने सामाजिक स्थिति में एक विराट् परिवर्तन उपस्थित कर दिया है। पहले तो बच्चे अपने गांवों में पहाड़ी, चरागाहों, खेतों, बाड़ों में पर्याप्त खेल-कूद कर सकते थे। पर आजकल के शहरों में भीषण स्थानाभाव के कारण यह असम्भव हो गया है और क्रीड़ा के कृत्रिम और अल्पस्थानीय साधन ही हमारे पास रह गये हैं। संयुक्त परिवार के विगठन और व्यक्तिवादी भावना के विकास ने अपरिपक्व अवस्था के किशोर युवक-युवतियों को स्वतन्त्र जीविका-अर्जन और परिणामतः अपनी इच्छानुसार अपनी आय को उड़ाने की सुविधाएं प्रदान कर दी हैं।

आधुनिक सामाजिक व्यवस्था का झुकाव अधिकाधिक अवकाश की ओर

है। आज का युग सप्ताह में कमसे कम एक छुट्टी तो अवश्य प्रदान करता है। आठ घण्टे कार्य, आठ घण्टे विश्राम और आठ घण्टे अवकाश के आदर्श के निकट तो हम अभी भी पहुंच रहे हैं। इस भांति अवकाश के उचित उपयोग की समस्याएं हमारे लिए अधिकाधिक गम्भीर होती जा रही हैं।

अवकाश की समस्या जीवन के एक तिहाई समय की समस्या है। अवकाश के घण्टे कार्य के घण्टों के बराबर महत्त्वपूर्ण बनते जा रहे हैं। बल्कि एक अर्थ में यह उनसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण हैं; क्योंकि कार्य के समय में तो किसी न किसी प्रकार की नियमितता और समानता रहती ही है, किन्तु अवकाश के घण्टों में पर्याप्त अव्यवस्था और समय की बर्बादी हो सकती है। यह समस्या तब और भी विकट रूप धारण कर लेती है जब कि हम व्यापारिक स्वार्थों को जनता के अवकाश-समय को, निजी लाभ-अर्जन का साधन बनाने, उसमें उत्तेजना उत्पन्न करने, उन्हें अयोग्य और नशीला बनाने तथा उनकी बचत को बटोरने में तत्पर पाते हैं।

अवकाश का अर्थ कार्य की थकान से मुक्ति और ताज़गी अथवा बुरी आदतों का चस्का, शरीर या मन की स्फूर्ति अथवा आत्मनाश दोनों ही हो सकते हैं। छत्तीस करोड़ व्यक्तियों के अवकाश का समुचित नियन्त्रण आज एक महान् राष्ट्रीय समस्या बन गया है।

क्या हमारा अवकाश व्यापारिक स्वार्थों द्वारा हड़प लिया जायेगा या अवकाश का समाज के हित में उपयोग हो सकेगा? दूसरे शब्दों में, हमारे अवकाश का व्यापारीकरण होगा अथवा समाजीकरण? व्यक्तित्व के समुचित विकास और सामाजिक कल्याण की वृद्धि के लिए अवकाश-नियन्त्रण की आवश्यकता आज सभी समझदार व्यक्ति स्वीकार करते हैं।

अवकाश को व्यापारी के हाथों में छोड़ जनता के धन और चरित्र को नष्ट करने का साधन बनाया जा सकता है; अथवा यों ही बर्बाद होने, आवारागर्दी करने, फालतू गप्पें मारने और बैठकर दिल बहलाने का अवसर बनाया जा सकता है; अथवा सामुदायिक क्रीड़ा और स्वस्थ मनोरंजन में व्यतीत किया जा सकता है। सामाजिक हित और व्यक्तित्व के सम्पूर्ण विकास के लिए हमारे लिए अवकाश के अन्तिम उद्देश्य को ही अपनाना उचित होगा।

अवकाश के सामाजिक उपयोग

अवकाश के सामाजिक उपयोग के औचित्य को आज लगभग स्वीकार

किया जा चुका है। विभिन्न देशों में इस सम्बन्ध में विभिन्न उत्तम योजनाएं प्रस्तुत और कार्यान्वित की जा चुकी है। भारत जैसे देश में भी अवकाश के सामाजिक उपयोग की एक व्यावहारिक योजना बनाने की परम आवश्यकता है। जैकोस्लोवाकिया का सामुदायिक-परिकल्पना-आंदोलन (Community Project Movement) और अमरीका का क्रीड़ाक्षेत्र आन्दोलन (Playground Movement) इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य हैं।

अमरीका, के क्रीड़ाक्षेत्र-आंदोलन को सात अवस्थाओं में बांटा जा सकता है। प्रथम अवस्था बालू के बगीचे से शुरु होती है जिसमें बच्चों के लिए एक बक्स और बालू के ढेर की व्यवस्था होती है। दूसरी अवस्था में प्रति दस हज़ार व्यक्तियों पर एक आदर्श क्रीड़ा-क्षेत्र का निर्माण होता है। तीसरी अवस्था कुछ थोड़े लोगों के लिए सैर करने, बैठने और कुछ खेल जुटाने की है। चौथी अवस्था प्रदर्शनों और व्याख्यानों के लिए सार्वजनिक और स्कूल हाल के निर्माण द्वारा मनोरंजन केन्द्र की स्थापना है। पांचवीं अवस्था नागरिक कला और कल्याण की है जिसमें सौंदर्यात्मक पहलुओं और जन-चेतना पर बल दिया जाता है। छठी अवस्था पड़ोसी-संगठन की है जिसमें पड़ोसी विस्तृत और सक्रिय भाग लेकर एक ठोस चेतना विकसित करते हैं। सातवीं अवस्था सामुदायिक सेवा की है जिसमें आपत्काल में जनता की सेवा का समावेश है। भारतवर्ष में भी इस लाइन पर एक राष्ट्रीय क्रीड़ा योजना बनाई जा सकती है। इसके अतिरिक्त, जनता को क्रीड़ा के सिद्धान्तों की शिक्षा, संघ, राज्य, ज़िला, कस्बा और ग्राम क्रीड़ा-समितियों का निर्माण, गृह-मनोरंजन का विकास, छोटे बच्चों और बड़ों के लिए क्रीड़ा-क्षेत्रों का विस्तार, मुनाफ़े के लिए चलाये जानेवाले मनोरंजनों का नियन्त्रण, निरीक्षण और दमन, सामुदायिक या सहकारी क्रीड़ा को प्रोत्साहन, एक अच्छी अवकाश-उपयोग योजना के अंग होने चाहिएं।

अवकाश-समस्याओं के प्रख्यात लेखक लिन्डमैन ने आधुनिक अवकाश से स्वस्थ शरीरों और व्यक्तित्वों के गठन, सामान्य कार्यकुशलता की वृद्धि, कलाओं में योगदान, प्रकृति से परिचय, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के सम्बन्ध में सामान्य ज्ञान, मनन, और सामूहिक अनुभव, इन सात आवश्यकताओं की पूर्ति की आशा की है।

शिक्षण संस्थाएं

शिक्षा की परिभाषा, कार्य, रूप और महत्त्व

प्रत्येक समाज अपने सदस्यों से एक विशिष्ट व्यवहार और आचार की आशा करता है। इसके सीखने और सिखाने के लिए वह विभिन्न विशेष और सामान्य साधन प्रस्तुत करता है। परिवार, पेशेगत समितियां, धार्मिक व क्रीड़ा संस्थाएं सामान्य शिक्षा संस्थाएं हैं। वह प्रत्यक्षरूप से शिक्षा नहीं देतीं। परोक्षरूप से सुझाव दे वह एक वातावरण की सृष्टि करती हैं, स्थायी प्रभावों को छोड़ती हैं, और जीवन और तथ्यों के प्रति एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत करने में योग प्रदान करती हैं। इसके विपरीत, कुछ ऐसी संस्थाएं हैं, एकमात्र शिक्षा देना ही जिनका उद्देश्य है; पाठशाला, स्कूल, कालिज, विश्वविद्यालय ऐसी ही विशेष शिक्षणसंस्थाएं हैं। इसके अतिरिक्त समाचारपत्र, रेडियो, सिनेमा और पुस्तकालय भी आज शिक्षा का शक्तिशाली साधन बनते जा रहे हैं।

विशिष्ट शिक्षा की निम्न परिभाषा दी जा सकती है: यह समुदाय या व्यक्तियों द्वारा परिचालित वह सामाजिक प्रक्रिया है जो समाज को उस के द्वारा स्वीकृत मूल्यों और मान्यताओं की ओर अग्रसर करती है।

एक अर्थ में शिक्षा उन हज़ारों सालों के अनुभव की देन है जिस में कि एक व्यक्ति पैदा हुआ है। इन अनुभवों में उसकी सांस्कृतिक विरासत छिपी हुई है। वर्णमाला, भाषा, लिपि, साहित्य परम्पराएं रीति रिवाज़ और आविष्कार सभी का इसमें समावेश है। सांस्कृतिक विरासत और जीवन के ज्ञान का अर्जन ही शिक्षा है।

सामाजिक दृष्टि से सांस्कृतिक विरासत का ज्ञान, मानसिक विश्लेषण की पद्धतियों की क्षमता प्राप्त करना तथा सांस्कृतिक विरासत का एक समालोचक और सुधारक बनना शिक्षा का कार्य कहा जा सकता है।

किसी संस्कृति के प्रधान तत्त्व उसकी जनश्रुति, लोकगीतों और साहित्य में विद्यमान रहते हैं। साहित्य "मानव ज्ञान की सर्वोत्तम लिपिबद्ध अभिव्यक्ति है।" आदिकालीन समाजों में ओझा और पुरोहित विशिष्ट शिक्षक थे। वह कबीले के इतिहास के संरक्षक और कबीले के सरदारों के प्रशस्ति-

गायक थे। यही लोकगीतों का प्रारम्भ था। इस भांति धार्मिक जनश्रुति या ग्रन्थ और युद्ध गीत शिक्षा के प्रारम्भतम साधन थे।

मनुष्य विचार करने से पहले अनुभव करता है। अतः पहले कविता का उदय हुआ। पर विचार शक्ति के विकास के साथ शिक्षा के लिए गद्य का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। गद्य द्वारा ही विचारों को बारीकी से प्रस्तुत करना तथा विभिन्न तथ्यों का विश्लेषण सम्भव था। इसने वक्तृत्व कला के महत्त्व को बहुत बढ़ा दिया। पन्द्रहवीं शती तक वक्तृता, संभाषण, उपदेश ही शिक्षा का प्रधान साधन रहे। आधुनिक मुद्रण यन्त्रों के आविष्कार ने सस्ते और विस्तृत साहित्य के सृजन और प्रचार को संभव बनाया। रेडियो और टेलीविज़न के आविष्कारों ने शिक्षा में एक नई क्रान्ति ला दी।

किसी भी समाज के लिए विशिष्ट शिक्षा का महान् महत्त्व है। विस्तृत अर्थों में शिक्षा में साहित्य, जो व्यक्ति के भावों की, और विज्ञान जो व्यक्ति के बौद्धिक विकास की अभिव्यक्ति है, दोनों पक्षों का समावेश है। एक अच्छी शिक्षाप्रणाली में दोनों पक्षों का उचित संतुलन और समन्वय आवश्यक है।

अच्छी शिक्षा व्यक्ति को केवल अनुभव करना और सोचना ही नहीं सिखाती बल्कि उसे विशेष कार्य करने की प्रेरणा देती है। यह सत्य है अभीतक हमारे व्यवहार को नियंत्रित करने में शिक्षा पर्याप्त दुर्बल सिद्ध हुई है। यही कारण है कि आज हमें शिक्षा ने प्रजातन्त्र के बारे में सोचना तो सिखा दिया है पर व्यवहार में लाना नहीं। बावजूद इसके एक स्वस्थ संतुलित और वैज्ञानिक शिक्षा चाहे वह विशिष्ट हो अथवा सामान्य, चाहे परिवार, पेशे, धर्म या स्कूल कहीं से भी मिले, हमारे व्यक्तित्व के कल्पनात्मक, ज्ञानात्मक और क्रियात्मक तीनों ही पक्षों में एक संतुलन-स्थापन पर बल देती है। अन्यथा शिक्षा अपूर्ण व्यक्तित्वों और संकुचित दृष्टिकोण वाले वर्गों का ही निर्माण करती है।

भारत में शिक्षा

समाज की सांस्कृतिक अवस्था के शिक्षा पर प्रभाव जानने, और आधुनिक शिक्षा-समस्याओं को समझने और उनके समाधानों के संधान के लिए भारत में शिक्षा-संस्था के परिवर्तित स्वरूपों और पद्धतियों का अध्ययन उपयोगी सिद्ध होगा।

प्राचीन काल. वैदिककालीन लोग कृषक और पशुपालक थे। उन्होंने

गुरुकुल शिक्षा पद्धति का सूत्रपात किया । शिक्षक के परिवार (कुल) में शिष्य परिवार के एक सदस्य की हैसियत से रहता था और धार्मिक ग्रन्थों, दर्शन और युद्ध कला की शिक्षा प्राप्त करना उसका मुख्य उद्देश्य होता था। प्रायः एक गुरुकुल में बहुत थोड़े ही छात्र शिक्षा प्राप्त करते थे । संभवतः उनकी संख्या पन्द्रह-बीस से अधिक न होती होगी । विद्यार्थी बहुत ही छोटी अवस्था में गुरुकुल में प्रवेश लेते थे । सात वर्ष से लेकर पच्चीस वर्ष की आयु शिक्षा की अवधि मानी जाती थी । वहां पर पढ़ने के लिए किसी प्रकार की फीस न देनी पड़ती थी विद्यार्थी खाली समय में पास के गांव में जाकर गृहस्थों से भिक्षा मांग लाते थे जिससे शिक्षक के परिवार और उनका गुज़र और खर्च चलता था । शिक्षार्थियों को अन्न, वस्त्र और उपयोगी वस्तुओं की भिक्षा देना गृहस्थ अपना परम कर्तव्य समझते थे । शिक्षक और छात्र बहुत ही कठोर, सरल जीवन यापन करते थे । शिक्षक और शिष्य के आत्मीय सम्बन्ध, प्रकृति से निकटता, परिवार जैसा वातावरण, निःशुल्क शिक्षा इस प्रणाली की प्रमुखविशेषताएं थीं । व्यक्तित्व के संतुलित विकास के लिए कृषक-पालक, दानभावना प्रेरित सरल समाज के लिए यह प्रणाली पर्याप्त उपयुक्त थी ।

वैदिक कर्मकाण्ड के ह्रास के साथ हमारे यहां बौद्ध धर्म का उदय हुआ और उस समय बौद्ध विहार शिक्षा का केन्द्र बन गये । छोटे पैमाने पर अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा केन्द्रों का उदय हुआ जहां पर कि देश-विदेश के छात्र आकर शिक्षा प्राप्त करते थे । यह अन्तर्राष्ट्रीय विद्यालय इस युग की विशेषता थी । नालन्दा और तक्षशिला दर्शन और चिकित्सा की शिक्षा के प्रसिद्ध विद्यालय थे, यद्यपि इनमें पढ़ने वाले छात्रों की संख्या आजकल के विश्वविद्यालयों की तुलना में बहुत ही नगण्य थी । बौद्ध शिक्षाप्रणाली और गुरुकुल प्रणाली के संगठन में विशेष अन्तर न था, अन्तर केवल पाठ्यक्रम और उद्देश्यों का था ।

मध्यकाल. इस समय तक शिक्षा का अधिकार केवल कुछ विशिष्ट व्यक्तियों, तथाकथित ब्राह्मणों के हाथ में ही सीमित हो गया । अन्य जातियां और स्त्रियां शास्त्रीय शिक्षा से वंचित होगईं । इसी समय भारत में इस्लाम का आगमन हुआ और तत्कालीन धर्माधिकारियों की छत्रछाया में पाठशाला या टोल जो कि मन्दिरों से लगे होते थे और धनियों के दान से चलते थे तथा मकतब और मदरसे जो कि मस्जिदों से लगे होते थे और बादशाहों की सहायता और वक्फ से चलते थे, शिक्षा के प्रधान साधन हुए ।

इस तरह हम देखते हैं कि मध्यकाल तक शिक्षा पर धर्म और साम्प्र-

दायिकता का प्रवल प्रभाव था। शिक्षा मुख्यतः वेद-पुराण और कुरान-हदीस के अध्ययन तक ही सीमित थी।

आधुनिक शिक्षा. भारत में आधुनिक ऐहिक (Secular) शिक्षा के सूत्रपात का श्रेय अंग्रेजों को है। उन्नीसवीं शती के मध्य में यहां पर पाश्चात्य ढंग पर भारत के प्रधान नगरों में विश्वविद्यालयों की स्थापना की गई। इस नई प्रणाली का मूल उद्देश्य तो अंग्रेजी शासन को सुचारु रूप से चलाने के लिए छोटे अफसर और क्लर्क तैयार करना तथा अंग्रेजों और भारतीयों को एक दूसरे के निकट लाना था। यह कार्य तो इसने किया ही पर अंग्रेजी शिक्षा ने प्रजातन्त्र और स्वाधीनता के विचारों के प्रसार में भी बड़ा योग दिया। अंग्रेजी शिक्षा ने जहां हमें अंग्रेजी साम्राज्य की सेवा सुचारु रूप से करने की सामर्थ्य प्रदान की वहां इसने हमें एक नई बौद्धिक चेतना, एक नई आकांक्षा, एक नई दिशा प्रदान की। संक्षेप में उसने हमें संसार के साहित्य और आधुनिक विज्ञान से संयुक्त कर दिया। हमें प्रजातान्त्रिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से सोचने पर वाधित किया।

उपर्युक्त लाभों के होते हुए भी इस प्रणाली में कई मूलभूत दोष थे, जिनका प्रत्यक्ष प्रभाव हमारी शिक्षा के विकास और उसके परिणामों पर पड़ा। १९४७ में अंग्रेजी साम्राज्य का सूर्य तो अस्त हो गया पर उनके द्वारा प्रदत्त शिक्षाप्रणाली आज भी बहुत अंश में हमारे साथ है, यद्यपि उसमें परिवर्तन और संशोधन की चारों ओर पुकार है। पर किन नये सिद्धान्तों पर इसका पुनर्निर्माण हो इस विषय में पर्याप्त मतभेद है। १९५१ के विश्वविद्यालय-आयोग ने उच्च शिक्षा के सम्बन्ध में अनेक रचनात्मक सुझाव दिये हैं परन्तु वे अभी तक कार्यान्वित नहीं हुए हैं।

विद्यमान शिक्षाप्रणाली के दोष

१. विदेशी माध्यम. प्रारम्भिक चार कक्षाओं को छोड़ हमारे यहां प्रायः सभी प्रान्तों में अंग्रेजी एक अनिवार्य विषय तथा उच्च कक्षाओं में सभी विषयों के अध्ययन का माध्यम है। सभी विद्यार्थियों को अनिवार्य रूप से अंग्रेजी पढ़ाना निरर्थक है और उच्च कक्षाओं में उसका माध्यम विषय को जानने में अनावश्यक श्रम की अपेक्षा करता है।

२. खर्चीली शिक्षा. वर्तमान शिक्षा इतनी अधिक खर्चीली है कि मध्यवित्त के लोग भी अपने एक-दो बच्चों को उच्च शिक्षा नहीं दे सकते।

सामान्य जनता के लिए तो प्रारम्भिक शिक्षा पाना भी दुष्कर है । विद्यार्थियों की ऊंची फीसें और नगरों में उनके रहन-सहन का ऊंचा व्यय माता-पिताओं के लिए एक अवहनीय भार है ।

३. व्यावहारिक जीवन में निरर्थकता. साधारण स्कूलों और कालिजों में जो ज्ञान हम अर्जित करते हैं अथवा जो विषय हम पढ़ते हैं, वास्तविक जीवन में उनका बहुत ही कम उपयोग और मूल्य है । इसी कारण पढ़े-लिखों की बेकारी की समस्या हमारे यहां दिन पर दिन उग्रतर रूप धारण करती जा रही है ।

४. व्यक्तित्व निर्माण की उपेक्षा. इसके अतिरिक्त हमारी वर्तमान शिक्षा केवल कुछ पाठ्य पुस्तकों के कुछ तथ्यों को कण्ठस्थ करने तथा कुछ घंटे नियमित रूप से एक कक्षा में बैठने, पढ़ने अथवा नोट उतारने तक ही सीमित है । अध्यापकों और विद्यार्थियों के सम्बन्ध बहुत ही निर्वैयक्तिक (Impersonal) हैं । हमारे विद्यार्थियों के स्कूल और पाठ्यक्रम से बाहर के कृत्यों का किसी प्रकार का आयोजन नहीं है, उन पर किसी प्रकार का नियंत्रण नहीं है । यही कारण है कि वर्तमान शिक्षा संतुलित व्यक्तित्व के निर्माण में बहुत असमर्थ रही है ।

५. सामाजिक दृष्टिकाण का अभाव. हमारी शिक्षाप्रणाली बहुत कुछ व्यक्तिवादी विचारधाराओं और मुनाफाखोर प्रवृत्तियों का शिकार रही है । सरकारी पद अथवा व्यक्तिगत आर्थिक सफलता की भावनाएं ही इसकी प्रधान प्रेरक हैं । सामूहिक कल्याण और सामाजिक सेवा की प्रवृत्ति का इस में अभाव है । संक्षेप में, हमारी शिक्षा सामाजिक दृष्टिकोण से शून्य है ।

सुधार के सुझाव

वर्तमान शिक्षाप्रणाली के दोषों को दूर करने के लिए कुछ निम्न सुझाव दिये जा सकते हैं ।

१. मातृभाषा का माध्यम. हमें यदि जनता तक शिक्षा को पहुंचाना है, उसे कम कष्टसाध्य, सुगम और उपयोगी बनाना है तो अविलम्ब मातृभाषा को शिक्षा के माध्यम के रूप में स्वीकार करना होगा । संक्रमणकाल में उच्च कक्षाओं में चार-पांच साल के लिए, अंग्रेजी को रखा जाना आवश्यक है, परन्तु इस अवधि में मातृभाषा में आवश्यक प्रामाणिक ग्रन्थ और मातृभाषा के माध्यम से पढ़ाने वाले अध्यापक तैयार हो जाने चाहिएं ।

२. निःशुल्क और सर्वसुलभ शिक्षा की व्यवस्था. शिक्षा के प्रसार के लिए राज्य को प्रारम्भिक शिक्षा तो सब के लिए निःशुल्क ही कर देनी चाहिए। इसके अतिरिक्त माध्यमिक और उच्च शिक्षा को भी कम से कम खर्चीली बनाने का प्रयत्न होना चाहिए और योग्य निर्धन छात्रों के लिए तो उच्चतम शिक्षा भी निःशुल्क होनी चाहिए। तभी हम अपने देश की विस्तृत पर व्यर्थ जाने वाली प्रतिभा का समुचित उपयोग कर सकेंगे।

३. शिक्षा की व्यावहारिकता में वृद्धि. हमें इस बात का भी प्रयत्न करना होगा कि हमारी शिक्षा हमारे व्यावहारिक जीवन में अधिकाधिक काम आये। अभी तक हमारी शिक्षा अधिकांश में साहित्यिक है, उसमें उपयोगी कलाओं, शिल्पों और उद्योगों के व्यावहारिक ज्ञान का समावेश आवश्यक है जिससे कि छात्र अपनी विशिष्ट शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् सांसारिक जीवन में उसका लाभ उठा सकें।

४. व्यक्तित्व-निर्माण पर ध्यान. हमारी शिक्षा को केवल स्कूल और कालिजों की चाहरदीवारी तक सीमित न होकर विद्यार्थियों के अवकाश के समय को समुचित रीति से प्रयुक्त करने पर भी ध्यान देना होगा। इसके लिए हमें पढ़ाई-लिखाई के अतिरिक्त सामूहिक और सहकारी क्रीड़ा, मनोरंजन, साहित्यिक और सांस्कृतिक क्रियाओं के प्रोत्साहन और आयोजन का प्रयत्न कर न होगा।

५. सामाजिक दृष्टिकोण की सृष्टि. एक आदर्श शिक्षाप्रणाली की आधारशिला व्यक्तिगत स्वार्थ की भावना पर नहीं रखी जा सकती। इसके लिए एक साथ कार्य करने, एक साथ कष्ट सहने तथा एक साथ दूसरों के कष्टों का निवारण करने की सामाजिक भावना का विकास करना आवश्यक है। सामाजिक सेवा शिक्षा का अभिन्न अंग होनी चाहिए। इसके लिए हमें अपने पाठ्यक्रम और अध्यापकों की ओर भी ध्यान देना होगा। उत्तम साहित्य और निःस्वार्थ सामाजिक भावना से प्रेरित शिक्षकों का चुनाव भी सामाजिक दृष्टिकोण की सृष्टि के लिए आवश्यक है।

धार्मिक शिक्षा बनाम ऐहिक शिक्षा

आज से सौ साल पहले तक धर्म शिक्षा का घनिष्ट सहचर रहा है। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि धर्म का उपदेश देना ही उस समय की मुख्य शिक्षा थी। उस धार्मिक शिक्षा ने स्वभावतः संकुचित और साम्प्रदायिक दृष्टिकोणों को जन्म दिया, घृणा, अन्धविश्वास और कट्टरता को बल दिया और

साहित्यके आनन्द और विज्ञान के प्रकाश से जनता को दूर रखा। ऐहिक शिक्षा ने शिक्षा को एक नई दिशा दी, नया और उदार दृष्टिकोण दिया। मनुष्य की ज्ञानवृद्धि, कल्पना की तृप्ति और विचारों की समृद्धि में ऐहिक शिक्षा एक निश्चत प्रगति थी। पर उसने सदाचार और नैतिकता की कहां तक वृद्धि की अथवा व्यक्तित्व को कहां तक अधिक संतुलित बनाया यह एक विवादग्रस्त प्रश्न है।

शिक्षा को संस्थात्मक धर्म से पृथक् करना एक सही कदम था। पर धार्मिक अन्धविश्वास के रिक्त स्थान पर एक नैतिक विश्वास को प्रस्थापित करना भी जरूरी था। हमने धर्म को तो शिक्षा से निकाल फेंका पर दूसरा कार्य नहीं किया। इस विश्वास की कमी ने शिक्षित मनुष्य को एक अजीब असमंजस में डाल दिया है। उसके पास आज भगवान् जैसी किसी अमूर्तकल्पना का सहारा नहीं है जिससे कि वह विपत्ति और चिन्ता में अपने को सांत्वना दे सके। अतः ऐहिक शिक्षा के साथ शिक्षा का एक नैतिक और भावात्मक आदर्श होना भी आवश्यक है।

शिक्षा की नई धारणाएं

बुनियादी शिक्षा. गाँधी जी ने राजनैतिक समस्याओं के अतिरिक्त देश की शिक्षा-समस्याओं में भी दिलचस्पी ली और डा. जाकिर हुसैन ने उनके विचारों के आधार पर बुनियादी शिक्षा की योजना प्रस्तुत की। बुनियादी शिक्षा विद्यमान शिक्षाप्रणाली के दोषों से मुक्त होने का दावा करती है। स्वावलम्बन, सहयोग, सृजन, सरलता और व्यावहारिक उपयोगिता इसकी मुख्य विशेषताएं हैं। इसमें शिल्प और उद्योग की सहायता से स्वयं अपने हाथ से काम सीखने पर बल दिया जाता है।

हमारे देश के प्रारम्भिक स्कूलों के लिए बुनियादी शिक्षा बहुत उपयुक्त है। भारतीय संघ के कई राज्यों ने तो इसे अपने यहाँ अपना लिया है। बुनियादी शिक्षाप्राप्त व्यक्ति जीवन-निर्वाह के लिए नौकरी पर निर्भर न रह कर कोई दस्तकारी शुरू कर सकते हैं। बुनियादी शिक्षा कुटीर-उद्योगों के प्रसार के लिए तो अनुकूल है, पर यदि हम देश में बड़े पैमाने का औद्योगीकरण चाहते हैं तो हमें इसकी व्यावहारिक शिल्प-शिक्षा में तदनुसार परिवर्तन करना होगा।

अमरीका का प्रगतिशील शिक्षा-आंदोलन. प्रगतिशील स्कूल में "बच्चे के विकास" पर जोर दिया जाता है। इसमें बच्चे को एक समूह का कार्यशील

सदस्य मान लिया जाता है और शिक्षक को उसका 'सहायक'। इसका उद्देश्य बच्चे के गले कुछ बने-बनाये तथ्य उतारने के बजाय उसमें सृजनात्मक अभिव्यक्ति की वृद्धि करना होता है।

प्रगतिशील शिक्षा लचकदार और प्रजातान्त्रिक होती है। इसमें दैनिक कार्यों के चुनाव में भी बच्चों की आवाज सुनी जाती है। वह स्वयं सामग्री का चुनाव करते हैं। वह इधर उधर मेजों पर बैठते हैं और स्वाधीनतापूर्वक विचरण करते हैं। कतारों में अध्यापक के सामने बैठने और शिक्षक के आदेश पर पढ़ने की पुरानी प्रणाली उन्होंने छोड़ दी है।

कुछ लोगों को भय है कि प्रगतिशील शिक्षा आवश्यक ज्ञान के अर्जन में बाधक हो सकती है, उसकी परिकल्पित क्रियाओं में असंतुलन हो सकता है। अनुशासन भी एक समस्या है। कई बार बच्चों को सामूहिक नियंत्रण द्वारा संभालना संभव नहीं होता। फिर भी यह आशा की जा सकती है कि प्रगतिशील शिक्षा के अधिक परिपक्व होने पर स्वभावतः यह कमियां उसमें नहीं रहेंगी।

शिक्षा के अन्य आधुनिक साधन

समाचारपत्र.

एक प्रभावशाली शिक्षा साधन. स्कूल एक संगठित शिक्षणसंस्था है जब कि समाचारपत्र को एक असंगठित शिक्षण संस्था कहा जा सकता है। प्रतिदिन समाचारपत्रों के लाखों-करोड़ों पाठक अपने प्रिय समाचारपत्र से संसार की घटनाओं और समस्याओं का ज्ञान प्राप्त करते हैं। यह पाठक जनता प्रायः प्रौढ़ होती है। हमारे देश में यद्यपि समाचारपत्र-पाठकों की संख्या अभी बहुत अधिक नहीं है पर फिर भी भविष्य में इसकी निरन्तर वृद्धि की आशा की जा सकती है। समाचारपत्रों का प्रचार दिन प्रति दिन बढ़ता जा रहा है।

समाचारपत्रों का पतन. पैसा कमाने और स्वार्थी राजनैतिक दलों के प्रचार का साधन होने और अपनी आय के लिए विज्ञापनदाताओं पर प्रधानतः निर्भर होने के कारण अधिकतर समाचारपत्र अपने उच्च आदर्श से गिर गये हैं। राजनैतिक दलदल में फंस जाने के कारण इन्होंने स्वाधीन चिन्तन को समाप्त कर दिया है।

जनमत-निर्माण का शक्तिशाली साधन. तार, टेलीफोन, रेडियो और टेलीविजन के साथ मिलकर समाचारपत्र ने एक नई सामाजिक चेतना को विकसित किया है। संसार के समस्त स्थान, उनकी जनता और उनकी समस्याएं

आज इनके ारा एक दूसरे के वहुत निकट आ गई हैं। आज एक महत्वपूर्ण घटना को समस्त संसार की जनता सम्भवतः एक ही समय पढ़ती है। इस भांति एक पाठक एक विचित्र सामाजिक समूह का सदस्य वन जाता है। परिणामतः समाचारपत्र आज जनमत को वनाने का शक्तिशाली साधन वन गये हैं।

पूंजीपतियों का आधिपत्य. आज एक वड़े दैनिकसमाचारपत्र को निकालने के लिए पन्द्रह-वीस लाख रुपए से कम पूंजी की ज़रूरत नहीं पड़ती। पूंजीपति स्वामी ने पहले के सम्पादक स्वामी का स्थान ले लिया है। आज अधिकांश सम्पादक समाचार पत्र के स्वामियों के हाथों विके हुए हैं और उनसे स्वामियों के दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने की आशा की जाती है।

लाभवृत्ति का शिकार. व्यवसायीकरण ने समाचारपत्र की स्वाधीनता पर प्रवल आघात किया है। लाभ की मात्रा किसी समाचारपत्र के सफल मुद्रण का मापदण्ड वन गई है। इस भाँति प्रायः सार्वजनिक कल्याण पर लाभ-वृत्ति हावी हो जाती है। इसका एक वड़ा कारण यह है कि समाचारपत्रों की आय का वड़ा अंश विज्ञापनों से आता है। अतः वह विज्ञापनदाताओं की इच्छा के विरुद्ध नहीं चल सकते। वह वड़ी वड़ी कम्पनियाँ जो विज्ञापन देती हैं, समाचारपत्रों के कार्यालय में 'पवित्र गायें' कहलाती हैं। समाचारपत्र में ऐसी कोई चीज नहीं छापी जाती जो कि इन "पवित्र गायों" को नाराज़ करे। ऐडवर्ड रॉस ने ठीक ही चेतावनी दी है कि आज के वड़े समाचारपत्र का एक ऐसा कारखाना वनने का खतरा सदैव मौजूद है जहाँ कागज और स्याही और वुद्धि को मिलाकर उसे अधिकाधिक विकने वाली वस्तु के रूप में तैयार किया जाता है।

समाचारों का प्रकाशन. सूचनाओं के सम्वन्ध में समाचारपत्र विश्वास योग्य भी हो सकता है और नहीं भी। यह वहुतसी महत्त्वपूर्ण या वहुतसी फालतू वातों की ओर ध्यान आकर्षित कर सकता है अथवा उन्हें सही रूप में या तोड़मरोड़ कर प्रस्तुत कर सकता है।

सुधार के सुझाव. इससे स्पष्ट है कि हमें ऐसे समाचारपत्रों की जरूरत है जो विज्ञापनदाताओं के घातक प्रभाव से मुक्त हों और जिनके स्वामी राजनैतिक प्रचारकों का कार्य न करें और सच्चे समाचारों को छापने में किसी का भी लिहाज़ न करें। विद्यमान अवस्था में यह कठिन कार्य कैसे सम्पन्न हो, यह एक विकट समस्या है। कुछ लोगों ने एक राष्ट्रीय प्रेस का प्रस्ताव रखा है जिसका कि समाचारपत्रों पर एकाधिकार हो। किन्तु सरकारी प्रेस भी कोई

अमोघ औषधि नहीं है। सर्वसर्वा राज्यों में समाचारपत्र विशिष्ट व्यक्तियों और शासक दल के प्रचार का निर्लज्ज साधन बन गये हैं। लिखने, छापने और सभा करने की स्वाधीनता वहाँ समाप्त हो चुकी है। अतः सरकारी प्रेस भी तभी सच्चाई से कार्य कर सकता है जब कि उस पर जनता का प्रत्यक्ष नियंत्रण हो।

रेडियो

शक्ति और प्रयोग. समृद्ध देशों में रेडियो ने विशाल जनसमूहों की सृष्टि कर दी है। एक व्याख्यान अथवा संगीत के श्रोता प्रायः हज़ारों मील के क्षेत्र में फैले होते हैं। यदि प्रत्येक घर में एक रेडियो सेट हो, जैसी स्थिति कि आज अमरीका जैसे देशों की है, तो रेडियो द्वारा किसी देश की समस्त जनता में एक प्रारम्भिक समूह-भावना को संचारित किया जा सकता है।

रेडियो राष्ट्रीय और विश्वचेतना के विकास में परम सहायक सिद्ध हो सकता है। किसी देश के श्रेष्ठतम संगीत, नाटक और नृत्य रेडियो द्वारा प्रसारित किए जाते हैं। इसके अतिरिक्त संसार-समाचार, शिक्षा, धर्म और खेलों के लिए पृथक् कार्यक्रम होते हैं। इस भांति रेडियो की अपील सार्वभौम होती जा रही है।

अन्तर्राष्ट्रीय ब्राडकास्टिंग. अभी तक रेडियो-प्रसारण (ब्राडकास्टिंग) का रूप प्रधानतः राष्ट्रीय ही है। सर्वसर्वा राज्यों ने अन्तर्राष्ट्रीय ब्राडकास्टिंग के मार्ग में रुकावट डाली है, केवल यही नहीं उन्होंने अन्य राज्यों के कार्यक्रमों को सुनने पर पाबन्दी तक लगा दी है। ऐसी स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय ब्राडकास्टिंग का विकास नहीं हो सका। फिर भी यदि इस दिशा में प्रयत्न किया जाय और समान विश्व-केन्द्रों से अन्तर्राष्ट्रीय कार्य-क्रम प्रसारित किये जायं तो इससे अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना को बढ़ाने में बड़ा योग मिलेगा।

टेलीविज़न. सिनेमा एक शक्तिशाली शिक्षा साधन है जिसके प्रभाव का हम पीछे ज़िक्र कर चुके हैं। इसके अतिरिक्त, टेलीविज़न के विकास ने शिक्षा और मनोरंजन के क्षेत्र में नवीन प्रवृत्तियों का सूत्रपात किया है। टेलीविज़न ने रेडियो के अदृश्य कार्यक्रमों को मूर्त बना दिया है। इसका एक महत्त्वपूर्ण प्रभाव सिनेमा को घर में लाना है।

रेडियो-टेलीविज़न का नियन्त्रण और स्वामित्व. इसकी समस्या भी बहुत कुछ समाचार-पत्रों और सिनेमा से मिलती-जुलती है। इस पर राज्य का नियन्त्रण और स्वामित्व हो अथवा व्यक्तियों का, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। व्यक्तियों के हाथ में देने से इसके लाभ के उद्देश्य के लिए प्रयुक्त होने और

राज्य के हाथों में सौंपने से इसके प्रचार के लिए प्रयुक्त होने का संकट है। अतः हमें एक ऐसा मध्य मार्ग ढूंढना होगा जिससे कि हम इन दोनों बातों से बच सकें।

पुस्तकालय

इन का कार्य. सार्वजनिक पुस्तकालय साक्षर देशों में शिक्षा का एक प्रभावशाली साधन बनते जा रहे हैं। पुस्तकालय केवल पढ़ने की सुविधाएं ही प्रदान नहीं करते, वह मनोरंजन और शिक्षा का भी प्रबल साधन हैं। पढ़ना एक मनोरंजन और शिक्षा ही नहीं, एक चिकित्सा भी है। बहुत-से व्यक्ति पढ़ कर ही अपने अनेक कष्टों को भूल जाते हैं।

साहित्य का प्रभाव. पढ़ने और सामाजिक परिवर्तन के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण परीक्षण हुए हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि साहित्य जहां एक ओर समाज को प्रतिबिम्बित करता है, वहां दूसरी ओर अनेक बार समाज को नियन्त्रित करता है।

पुस्तकों के पाठकों के अनुभवों को कैथरीन लिन्ड के अनुसार चार श्रेणियों में बांटा जा सकता है : (१) पढ़ना अल्पाधिक अरुचिकर संसार से भाग एक काल्पनिक संसार का निर्माण कराता है। (२) यह भावना-उत्तेजक दैनिक अनुभवों से एक अस्थायी राहत प्रदान करता है। (३) इसका पाठक के व्यक्तित्व पर एक रचनात्मक प्रभाव पड़ता है। वह उसे स्वयं और संसार को समझने में सहायता प्रदान करता है। (४) इसके अतिरिक्त इसके अन्य ठोस लाभ भी हैं, जैसे कि तथ्यों को देना और रुचियों को जागृत करना। यही नहीं, पढ़ना लोगों की रुचियों और धारणाओं का भी अच्छा परिचय देता है।

इस भांति आज के सस्ते और सुलभ साहित्य के युग में शिक्षा के साधन के रूप में पुस्तकों का महत्त्व अधिकाधिक बढ़ता जा रहा है। इनके नियन्त्रण और प्रचार की समस्या भी अन्य शिक्षा साधनों के ही समान जटिल और महत्त्वपूर्ण है।

शिक्षा के सामाजिक कृत्य

शिक्षा के दो मुख्य सामाजिक कृत्य हैं : एक तो अज्ञान का निवारण और दूसरा भ्रान्ति का निवारण। दूसरे शब्दों में, इसका उद्देश्य प्रत्येक व्यक्ति की बौद्धिक क्षमता को विकसित करना तथा विभिन्न व्यक्तियों, विभिन्न संस्कृतियों और विभिन्न स्वार्थों के बीच एक सामंजस्य स्थापित करना है। विशेषतः

प्रजातन्त्र के विकास के लिए सही अर्थों में शिक्षित नागरिकों का निर्माण आवश्यक है। केवल साक्षरता के प्रसार से शिक्षा की समस्या हल नहीं हो जाती। समाज के सम्मुख इससे कठिन समस्या उन्हें सामाजिक बनाने, उन्हें बुद्धिमत्तापूर्वक व्यवहार और सार्वजनिक हित में कार्य करने की शिक्षा प्रदान करने की है। यह समाज हितैषियों का कार्य है कि वह विभिन्न शिक्षण संस्थाओं को इस भांति आयोजित और परिचालित करें जिससे कि सामाजिक हित में अधिकाधिक वृद्धि हो सके।

पंद्रहवां अध्याय

(क) समूह और सामूहिक व्यवहार

मनुष्य सामाजिक प्राणी. जब हम कहते हैं कि व्यक्ति अपनी प्रेरणाओं की प्रतिक्रिया द्वारा एक व्यक्तित्व का निर्माण करता है तो हम जिन प्रेरणाओं की ओर निर्देश करते हैं, वह या तो व्यक्ति की आन्तरिक प्रेरणायें हैं, उसके शरीर की 'मांगें' हैं और या वाह्य प्रेरणायें हैं। वाह्य प्रेरणाओं में भी वह प्रेरणाएं जो दूसरे मनुष्यों द्वारा या दूसरे मनुष्यों के संसर्ग के प्रभाव द्वारा प्राप्त होती हैं, सामाजिक प्रेरणाएं कहलाती हैं, परन्तु जो भौतिक पदार्थों से प्राप्त होती हैं, वे सामाजिक नहीं हैं। हम अपनी आन्तरिक शारीरिक प्रेरणाओं की प्रतिक्रिया समाज के आश्रय में और समाज की सहायता से करते हैं। हम उन व्यवहारों को अपनाते हैं जो हमने परिवार में, मित्रों में या सभाओं में सीखे हैं। भोजन करने, सोने, मलत्याग करने, ऐन्द्रियिक तृप्ति करने आदि सभी चेष्टाओं में हम दूसरों से सीखे हुए, दूसरों द्वारा वताए गए साधनों की सहायता से, प्रतिदिन इन प्रेरणाओं की प्रतिक्रिया करते हैं। प्राकृतिक या भौतिक वस्तुओं और घटनाओं, उदाहरणार्थ जंगल में हिंसक पशुओं की उपस्थिति अथवा मार्ग में वर्षा प्रारम्भ होने या गिर पड़ने के प्रति हमारी प्रतिक्रियाएं भी समाज में सीखे हुए व्यवहारों द्वारा निर्धारित होती हैं।

व्यक्तित्व के विकास में समाज का कितना हाथ है, यह अपने प्रतिदिन के व्यवहार से समझ लेना कठिन नहीं है। तब यह सामाजिक व्यवहार क्या है, कैसे हम समूहों में कुछ सीखते हैं, कैसे दूसरे लोगों का आश्रय लेकर जीवन व्यतीत करते हैं, और कैसे हमारे विचारों, भावनाओं, आकांक्षाओं और आदर्शों पर सामूहिक जीवन का प्रभाव पड़ता है—इन सब की व्याख्या आवश्यक प्रतीत होती है।

सामाजिकता सहज-प्रवृत्ति नहीं. मनुष्य समाज के अंग क्यों है ? क्या जैसा मैकडूगल ने कहा है, मनुष्य के मन में सामाजिकता की कोई सहज प्रवृत्ति है जो उसे दूसरे लोगों से मित्रता वढ़ाने और मेल-जोल करने पर वाध्य करती है ? हम देखते हैं कि छोटे वच्चे उन्हीं से अधिक हिल जाते हैं जो उनके भरण-पोषण के सहायक होते हैं। दो महीने के छोटे वच्चे केवल अपने माता-पिता को

देखकर ही मुस्कराते हैं, क्योंकि उनकी शारीरिक आवश्यकताओं को वे पूरा करते हैं। वे दूसरे छोटे बच्चों या पशुओं को देखकर नहीं मुस्कराते। छोटे बच्चों की संगति की वे उपेक्षा करते हैं। यही नहीं, यह भी देखा गया है कि वे ऐसी संगति को नहीं चाहते, और इसीलिए किसी खिलौने इत्यादि वस्तु को बीच में रखकर ही उनमें सामूहिक व्यवहार बढ़ाया जा सकता है। इससे स्पष्ट है कि इसका कारण खिलौना या खिलौनों के प्रति प्रतिक्रिया ही है, दूसरे बच्चों के प्रति प्रतिक्रिया नहीं।

मानव-शिशु की असहायावस्था से सामाजिकता का उदय. यदि सामाजिक व्यवहार का कारण कोई मानुषिक सहजप्रवृत्ति नहीं है, तो फिर यह इतना सामाजिक व्यवहार क्यों दिखाई देता है ? इसका कारण शिशु का असहाय होना है और हमारे शरीर की मांगों—चालकों—का केवल समाज में ही पूरे हो सकना है। क्योंकि शैशव से ही शिशु दूसरे मनुष्यों को अपनी सहायता करते देखता है, इसलिए वह उनके प्रति प्रतिक्रिया प्रदर्शित करता है, और यही सामाजिकता का आधार है। जंगलों में मिले पशुपालित बच्चों के व्यवहार के अध्ययन से यह सिद्ध हो चुका है कि वे 'सामाजिक' नहीं थे। मनुष्य के प्रति सामाजिक व्यवहार न करने पर भी वे अपने को पालने वाले पशुओं के प्रति 'सामाजिक' थे। बत्तखों के बच्चों तक का यह व्यवहार है कि यदि उनको भोजन देने की जिम्मेदारी मनुष्य संभाल ले, तो वे बत्तखों के पीछे न दौड़कर, मनुष्य के पीछे दौड़ते हैं। हमारे सामाजिक व्यवहार का कारण भी ऐसा ही है।

सामाजिक व्यवहार के साधन

अंतःक्रिया और सामीप्य. जब भी दो मनुष्यों का सम्पर्क होता है, वे एक दूसरे को अन्तःप्रेरित करते हैं। परन्तु यदि उनकी अन्तःप्रेरणा केवल एक दूसरे को देख लेने तक ही सीमित है, तो सामाजिक व्यवहार का विकास नहीं होगा। उसके लिये दोनों मनुष्यों में कुछ समानता का होना आवश्यक है; एक-भाषा-भाषी होना, एक हित लिए होना, एक क्रिया में रत होना—इनमें से किसी एक गुण का होना आवश्यक है, ताकि उनका सम्बन्ध क्रियाशून्य न हो, बल्कि उनमें अन्तःप्रेरणा और अन्तःक्रिया हो सके।

अन्तःक्रिया, 'प्रेरणा-प्रतिक्रिया-प्रेरणा' की इकाई. सामीप्य और अन्तःक्रिया, यह दोनों सामाजिक व्यवहार के लिए आवश्यक हैं। यह अन्तःक्रिया

एकांगी नहीं होती। अलपोर्ट ने इसे प्रेरणा—प्रतिक्रिया की शृङ्खला बताया है, परन्तु यह प्रेरणा⇌प्रतिक्रिया की ऐसी इकाई है जिसमें प्रेरित की प्रतिक्रिया से प्रेरक को प्रेरणा मिलती है, और प्रेरक द्वारा उसका उत्तर प्रेरित के लिए दूसरी प्रेरणा ले आता है। उदाहरणस्वरूप दो व्यक्ति मिले; एक ने दूसरे से कुछ प्रश्न किया; दूसरे के लिए यह प्रेरणा थी। उसने उसका उत्तर दिया; पहले के लिए यह उत्तर प्रेरणा बना। उसका कार्य फिर दूसरे को प्रेरणा देगा। पहले ने प्रश्न पूछा था, तो उसकी प्रेरणा भी यही थी कि उसने दूसरे को देखा था। इसी प्रेरणा-प्रतिक्रिया-प्रेरणा की शृङ्खला को वीयस ने अन्तःक्रिया कहा है—ऐसी अन्तःक्रिया जिसमें प्रेरणा और प्रतिक्रिया का भेद मिट जाता है।

हमारे अध्ययन का आधार व्यक्ति नहीं, समष्टि. जब हम व्यक्तित्व को प्रेरणाओं की प्रतिक्रिया कहते हैं, तो हमें प्रेरणा⇌प्रतिक्रिया के अर्थ को स्पष्टतया समझ लेना होगा। व्यक्तित्व अब अन्तःक्रियाओं का फल समझा जायगा। यह अन्तःक्रिया कुछ विशेष अवस्थाओं और परिस्थितियों में होगी, जिनमें व्यक्ति के अतिरिक्त दूसरे व्यक्ति भी सम्मिलित होंगे, या दूसरों द्वारा प्रभावित अथवा रचित पदार्थ उपस्थित होंगे। इस लिहाज से हरएक अवस्था सामाजिक होगी और व्यक्तित्व सामाजिक का अंग होगा।

ऐसी अन्तःक्रियात्मक अवस्थाओं का अध्ययन ही व्यक्ति का और व्यक्तियों का, समाज का और सामाजिक व्यवहार का अध्ययन है। अतः हमारे अध्ययन का विषय, व्यक्ति न होकर, यह अन्तःक्रियात्मक अवस्थाएं—सामाजिक अवस्थाएं—होंगी। हमारे अध्ययन का विषय समाज होगा। यह सामाजिक अवस्थाएं एक दूसरे पर इस तरह निर्मित हो जाती हैं कि समस्त परिस्थिति का अध्ययन करने के लिए इनके घटना-क्रम का अध्ययन करना होता है।

सामाजिक अन्तःक्रिया के साधन

यह पहले ही कहा जा चुका है कि सामीप्य सामाजिक व्यवहार की पहली शर्त है। पर उसके लिए केवल यही पर्याप्त नहीं है। इसके साथ (१) एक भाषा (२) एक दूसरे के प्रति अनुकूलतास्थापन (Accommodation), (३) जिन बातों में अनुकूलता-स्थापन न हो पाए, उनमें अन्तःसम्बन्ध करने की इच्छा (४) और उद्देश्य की एकता भी आवश्यक है। उदाहरणार्थ यदि ऐसे दो व्यक्ति मिलते हैं जो एक दूसरे की भाषा नहीं समझते तो उनका सम्बन्ध

अल्पकालीन ही होगा और उनमें सामाजिक अन्तःक्रिया का विकास नहीं हो पायेगा। इसी प्रकार यदि दो व्यक्ति एक भाषा-भाषी होने पर भी एक दूसरे से बोलना न चाहें, परस्पर मुंह फेरे रहें—तो यह सामूहिक व्यवहार होने पर भी उनके सम्बन्ध विकसित न होंगे। इसी प्रकार और कितनी ही बातों में समानता होने पर भी यदि दो व्यक्ति धर्मभेद या वर्णभेद के कारण एकदूसरे से पृथक् रहें और इन बातों में परस्पर कुछ अनुकूलता-स्थापन करना ही न चाहें, तो भी यही परिणाम होगा।

मनोवैज्ञानिक और शारीरिक अवस्थाओं का प्रभाव. इसी के साथ यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि समूह के सदस्यों की शारीरिक और मानसिक अवस्था क्या है। यदि एक समूह के सभी सदस्य नशे में हैं, तो कोई उत्तेजक घटना वह सामूहिक व्यवहार विकसित नहीं कर सकेगी, जो साधारणतः विकसित होना चाहिए। यदि उनमें से कोई सदस्य शोकग्रस्त हो, तो शायद वह सामूहिक व्यवहार में भाग नहीं लेगा, और चार शोकग्रस्त मित्र किसी मेले में जाकर सामूहिक अन्तःक्रिया का अंग नहीं बन पाएंगे।

सामाजिक अन्तःक्रिया के दो तत्त्व—सदस्यता और नेतृत्व. किसी भी अन्तःक्रियात्मक अवस्था का हम दो दृष्टिकोणों से विश्लेषण कर सकते हैं: व्यक्तियों पर उसका प्रभाव क्या होगा और अवस्था का प्रकार क्या होगा। इसके लिए दो बातों का ज्ञान आवश्यक है:

(१) अन्तःक्रियात्मक अवस्था का उदय कैसे हुआ और उसके सदस्य कैसे हैं, इनका निर्धारण पहले से ही, परिपाटी और सांस्कृतिक प्रकार द्वारा हो चुका होता है या अकस्मात् होता है?

(२) अन्तःक्रियात्मक अवस्था का नेतृत्व, क्या संस्कृतिद्वारा या भूल-सुधार की चेष्टाद्वारा या अकस्मात् निर्धारित हुआ है?

यदि समूह का उदय, सदस्यता और नेतृत्व पहले से ही निर्धारित हैं, तो ऐसे समूहों का जन्म होगा जो अपने कुछ नियमों और परिपाटियों द्वारा नियन्त्रित होंगे; इनमें राजनैतिक, धार्मिक और व्यापारिक समूहों का समावेश होगा। परन्तु यदि सदस्यता निर्धारण आकस्मिक है, तो सामूहिक व्यवहार भी आकस्मिक होंगे और ऐसे समूह भीड़ और उत्तेजित भीड़ की कोटि में आयेंगे।

समूहों के भेद

संस्कृतिनिर्धारित समूह और आकस्मिक समूह. इस प्रकार हम देखते

हैं कि समूहों के दो बड़े प्रकार हैं, एक वह जो एक उद्देश्य, एक परिपाटी और एक नेतृत्व को लेकर और सदस्यता के नियम बनाकर चलते हैं और दूसरे वह जो आकस्मिक होते हैं। इसी प्रकार समूहों के और भी कई भेद अलग-अलग किए गए हैं।

समूह. एक समूह एक से अधिक व्यक्तियों का वह सम्मिलन है जिस के सदस्य अन्त:प्रेरित हों, और उनमें सामाजिक अन्त:क्रिया होती हो। यही समूह व्यक्ति के व्यवहार, शिक्षा, प्रेरणा, इत्यादि को प्रभावित करते हैं। परिवार, राजनैतिक दल, कक्षा, पाठशाला, मित्रमण्डली, यह सभी एक प्रकार के समूह हैं और कम या अधिक मात्रा में हमारे व्यक्तित्वों पर प्रभाव डालते ह।

प्राथमिक हितों की पूर्ति और स्थायित्व में अन्तर समूहों के अन्तर का कारण. समूह भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। औग्बर्न ने उनके अन्तर का आधार निम्न तत्त्वों को बताया है: (१) वे किन प्राथमिक हितों की पूर्ति करते हैं, और (२) उनके स्थायित्व का परिमाण क्या है। एल्वुड ने दो प्रकार के समूह बताए हैं। वे समूह जो संस्कृति द्वारा स्वीकृत हैं और दूसरे वह समूह जिनको संस्कृति स्वीकार नहीं करती। चोरों के दल, क्रान्तिकारियों के दल, और अपराधियों के समूह दूसरी प्रकार के समूह हैं।

प्राथमिक और माध्यमिक समूह कूले ने भी समूहों को दो श्रेणियों में बांटा है, प्राथमिक और माध्यमिक। प्राथमिक समूह वह समूह है जिसमें हम रहते हैं और जिसके अन्य सदस्यों के हम प्रतिदिन सम्पर्क में आते रहते हैं और जिससे हम अपने प्राथमिक हितों की पूर्ति के लिए सम्बद्ध हैं। चूंकि ऐसे समूह हमारी प्रेरणा के प्रधान साधन होते हैं, इसलिए हमारे जीवन और व्यक्तित्व पर उनका प्रभाव मुख्य होता है। परिवार एक ऐसा ही प्राथमिक समूह है। ग्राम, मुहल्ला, पाठशाला और बच्चों के हमजोली व खेल के साथी भी प्राथमिक समूह हैं। ऐसे समूहों में हम लोकनिन्दा से डरते हैं और साथ ही सम्मान की कामना करते हैं।

राजनैतिक दल, धार्मिक दल, क्लब और गोष्ठी माध्यमिक समूह हैं। हम किसी एक या दो या अधिक हितों की प्राप्ति के लिए इन समूहों के अंग बनते हैं। हमारे चरित्र पर इनका प्रभाव न्यून होता है; क्योंकि इनके सदस्यों में परस्पर साक्षात् सम्बन्ध कम होता है।

सम्पर्क की घनिष्ठता या अस्थिरता. जब मानव संस्कृति अधिक सरल थी,

छोटे-छोटे समुदाय थे, तब प्राथमिक समूहों की प्रधानता थी, और व्यक्ति के व्यक्तित्व पर समाज और समूह का प्रभाव अपरिमित था। पर संस्कृति की जटिलता और मानव-सम्बन्धों की बहुलता ने माध्यमिक समूहों को जन्म दिया और समाज में उनका प्राधान्य कर दिया है। माध्यमिक समूह का वास्तविक तत्त्व सम्पर्क की अस्थिरता के अनुभव में है। वे समूह जो अपने सदस्यों को ऐसे सम्पर्क का अनुभव कराते हैं जिनमें घनिष्ठता का अभाव हो माध्यमिक समूह होते हैं। इसकी तुलना में, प्राथमिक समूह में व्यक्तियों का पारस्परिक सम्बन्ध अधिक घनिष्ठ व सौहार्दपूर्ण होता है। कूले के अनुसार वह "मानव-स्वभाव के पोषण—गृह" होते हैं। शिशु यहीं से न्याय, महत्वाकांक्षा, प्यार, सहिष्णुता इत्यादि भावों को सीखकर 'मानव' बनते हैं। इनका वास्तविक सार घनिष्ठता और व्यक्तित्वों के विलयन में होता है।

सामाजिक, छद्म-सामाजिक और असामाजिक समूह. बोगार्डस के मत से समूहों के विशिष्ट (Disjunctive) और सीमान्तरित (Overlapping) दो भेद हैं। एक समय में एक व्यक्ति केवल एक ही विशिष्ट सामाजिक समूह का सदस्य होता है; पर इसके साथ ही वह कितने ही अन्य अलग-अलग समूहों का सदस्य हो सकता है। एक विशेष राष्ट्र का सदस्य होते हुए भी वह कई अन्तर्राष्ट्रीय समूहों का सदस्य हो सकता है। राष्ट्र एक विशिष्ट प्रकार के समूह हैं, और अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएं सीमान्तरित प्रकार के समूह हैं। इसी प्रकार उसने विभिन्न समूहों को सामाजिक, छद्म-सामाजिक और असामाजिक कहा है और यह नाम उसने उन समूहों के दूसरे समूहों के प्रति व्यवहार को देख कर दिये हैं। सामाजिक जीवन में अपना पूरा योग देने वाले समूह सामाजिक समूह हैं। एक अलग ग्राम या अपने तक ही सीमित एक क्लब एक असामाजिक समूह है। ऐसे समूह जो सामाजिक जीवन में भाग तो लेते हैं परन्तु केवल स्वार्थ या अपने लाभ के लिए वह छद्म सामाजिक कहलाते हैं। यह समूह दूसरे समूहों के सहारे जीते हैं, अतः परजीवी हैं।

व्यक्तिगत और सार्वजनिक समूह. गिडिंग्स ने समूहों को व्यक्तिगत समूह और सार्वजनिक समूह इन दो वर्गों में बांटा है। ब्राह्मण जाति एक व्यक्तिगत समूह है, और विधानमंडल व परिवार भी ऐसे ही समूह हैं। इन समूहों की सदस्यता कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के लिए ही होती है। पर ऐसे समूह जिनके सभी लोग सदस्य बन कर सामूहिक जीवन में योग दे सकते है, सार्वजनिक समूह कहलाते है। प्रायः सभी अनियन्त्रित समूह जैसे कि भीड़ और

जनता दूसरी कोटि में आते हैं। व्यक्तित्व पर व्यक्तिगत समूह का प्रभाव अधिक होता है।

दृश्य और अदृश्य समूह. चेपिन के अनुसार समूह के दृश्य और अदृश्य यह दो भेद हैं, दृश्य समूह वह समूह है जो अपना कार्यक्रम खुले रूप में करते हैं, जैसे कि परिवार या धारासभा। अदृश्य समूह वह हैं जो गुप्त रह कर कार्य करते हैं, जैसे कि चोरों, ठगों और क्रान्तिकारियों के समूह। अदृश्य समूह वर्तमान समाज के लिए सांघातिक हो सकते हैं और आज की सामाजिक प्रणालियों और व्यवस्थाओं को तोड़ना चाहते हैं, और तोड़ते हैं।

अन्तःसमूह और वहिःसमूह. सुमनर ने समूहों को अन्तःसमूह और वहिःसमूह इन दो भागों में बांटा है। जो समूह हमारे अपने होते हैं, जिनके हम अंग होते हैं और जिनमें 'हम एक हैं' की भावना होती है, वे अन्तःसमूह हैं। उन समूहों से हम अपने मत, आचरण, मूल्य और आदर्श ग्रहण करते हैं। इन समूहों से पृथक् समूह वहिःसमूह हैं, और हम उनको परायेपन और कभी-कभी विरोध और उपेक्षा की भावना से देखते हैं। उनकी तुलना में अपने समूह को प्यार करना स्वाभाविक है और इसी को जाति-अहंकार (Ethnocentrism) कहा गया है। वहिःसमूह के प्रति उपेक्षा या विरोध अन्तःसमूह के साथ व्यक्ति के सात्मीकरण और स्नेह को वढ़ा देता है। ड्यूश ने अपने एक अध्ययन से जिसमें कि कुछ व्यक्तियों के सम्मुख अलग-अलग लिपि-पद्धतियां रक्खी गई, यह देखा कि सभी व्यक्तियों ने अपने समूह की पद्धति को ही पसन्द किया। यही सामान्य व्यवहार और अन्य परीक्षणों में भी देखा गया है। इसका कारण प्रत्येक व्यक्ति पर उसके अपने समूह का प्रवल प्रभाव होता है। जिसमें अभिसंहित शिक्षण (Coniditioning) का वड़ा हाथ है।

समूह और व्यक्तित्व

व्यक्तित्व सामूहिक प्रेरणाओं का प्रत्युत्तर (Response). मनुष्य का व्यक्तित्व क्या है ? व्यक्तित्व में दो भाग होते हैं; एक भाग व्यक्ति की अपनी विशिष्टता है जो शारीरिक तत्त्वों, आनुवंशिकता, ग्रन्थिस्रावों और स्वास्थ्य से निर्मित होता है। दूसरा भाग सामाजिक है जो कि जिन समूहों में हम जन्म लेते हैं, जिनसे शिक्षा, पोपरण और प्रेरणा लेते हैं, उनसे निर्मित होता है। उनके आदर्श हमारे आदर्श हो जाते हैं, उनके मान्य व्यवहारों को हम सुभाव, अनुकरण या भय के कारण अपना लेते हैं और उनसे अपनी शारीरिक

मांगों और दूसरी मांगों की पूर्ति करते हैं। किसी ने ठीक ही कहा है, इन्हीं द्वारा प्रस्तुत उत्तेजकों की प्रतिक्रियाएं हमारे व्यक्तित्व को बनाती हैं। इस तरह व्यक्तित्व का बहुत बड़ा भाग सामाजिक है।

समाज और व्यक्तित्व सहवर्ती हैं. निरन्तर प्रस्तुत होते रहने वाली सामाजिक स्थितियों के समूह का नाम सामूहिक जीवन है। हम इनमें से प्रत्येक सामाजिक स्थिति को अलग-अलग रूप में देखते हैं, प्रभावित करते हैं और उससे प्रभावित होते हैं। इन सामाजिक स्थितियों को हम अपने मन में किस रूप में देखते हैं, यह हमारे प्रत्युत्तर या व्यवहार को निर्धारित करता है; और हमारा दृष्टिकोण हमारे पुराने अनुभव, ज्ञान और शिक्षा का प्रभाव है जो हमें अपनी पहली सामाजिक स्थितियों के प्रभाव से प्राप्त हुआ है। कूले के कथनानुसार समाज और व्यक्तित्व सहवर्ती हैं, और आत्म-चेतना और सामाजिक चेतना एक साथ ही उदित और एक साथ ही विकसित होती हैं। समूह के बिना दोनों में से किसी का भी विकास नहीं हो सकता।

सामूहिक मान्यताएं और आदर्श व्यक्तित्व के महत्त्वपूर्ण अंग. चूंकि हम एक ऐसे सामूहिक जीवन में जन्म लेते हैं, जो हम से पहले ही विद्यमान होता है और जिसके अपने विकसित विधिगत रिवाज, रीतियां और मूल्य होते हैं इसलिए हम पर आरम्भ से ही, जब कि हम नितान्त असहाय होते हैं, समूह का प्रभाव पड़ने लगता है। सोरोकिन का कहना है :

"जन्म से लेकर चिता तक हम संगठित समूहों में सांस लेते हैं, पलते हैं और क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं के निरन्तर घात-प्रतिघात हमारे शरीर, मन, व्यक्तित्व और चरित्र का रूप निर्धारण करते हैं।" जिस प्रकार की रूढ़ियां समूह में प्रचलित होती हैं उसी प्रकार के प्रभाव हमारे व्यक्तित्व का अंग हो जाते हैं। अमेरिका के प्रतियोगितापूर्ण व्यक्तिवादी ढांचे में जन्म लेने और पलने वाले व्यक्तियों को सहयोग-संचालित अर्थव्यवस्था अस्वाभाविक प्रतीत होती है, परन्तु जूनी कबीले में जन्म लेने वाले व्यक्ति सहयोग को अपने चरित्र का अंग बना लेते हैं और उन्हें क्वाकितुल लोगों का व्यवहार जिसमें सामाजिक विषमता और व्यक्तिगत लाभ और स्पर्द्धा ही सामाजिक आदर्श हैं, शायद अव्यावहारिक प्रतीत हैं। इसीलिए एक व्यक्ति को समझने के लिए उसके समूह का विश्लेषण करना आवश्यक है। जो व्यक्ति सामूहिक मान्यताओं और नीतियों को अपने आचरण में आत्मसात् नहीं कर लेते, वे अपराधी और अनैतिक समझे जाते हैं, और उनका

व्यक्तित्व विघटित रहता है, पर वे ही लोग किसी दूसरी सामूहिक व्यवस्था में मान्य, अग्रगण्य और नेता भी माने जा सकते हैं। परिणामतः किसी भी सामूहिक मान्यता को एकदम बुरा कह देना गलत होगा। एक समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण से तो सारे समूह के विकास को समझ कर ही निर्णय देना ठीक होगा।

व्यक्तित्व का सामाजिक प्रतिष्ठा की इकाई के रूप में विकास. बोगार्डस के अनुसार व्यक्तित्त्व का उदय, "अन्तःप्रेरणा द्वारा जो सामूहिक और सामाजिक जीवन की विशेषता है, व्यक्तियों का निश्चित और सामाजिक प्रतिष्ठा की इकाइयों के रूप में विकसित होना है।" व्यक्तित्वों में अन्तर आनुवंशिकता, शारीरिक तत्त्वों और सामाजिक अवसर और प्रेरणाओं की विभिन्नता के कारण होता है। इन प्रारम्भिक अन्तरों को उनका सामाजिक वातावरण अधिक विस्तृत कर देता है।

सामाजिक नियन्त्रण

लोक-निन्दा या लोकसम्मान. व्यक्तित्व के विकास और निर्धारण में सामूहिक निन्दा, सामूहिक प्रेरणा और प्रतिष्ठा का बहुत बड़ा हाथ रहता है। दूसरे लोग हमारी प्रतिष्ठा करें, हमारा सम्मान करें—यह भाव हमें सामाजिकता और सामूहिक आदर्शों का पालन करने की ओर अधिक प्रेरित करता है। समूह की रीतियों को भंग करने से निन्दा, अस्वीकृति और घृणा मिलेगी, इसलिए हम ऐसी बातें नहीं करते जिनको कि समूह बुरा मानता है। और क्योंकि समूह हमें एक सुरक्षा की भावना देता है, इसलिए भी हम उसके विरोधी कार्य नहीं करते।

संस्कृति और सामूहिक नियन्त्रण. हमारी संस्कृति-जिसमें हम जन्म लेते हैं, कुछ आदर्शों को स्वीकार करके, प्रतिष्ठा देकर हमारे व्यक्तित्वों को उन आदर्शों को अपने जीवन का लक्ष्य बनाने और अपने व्यवहार का मापदण्ड बनाने की प्रेरणा देती है। किस क्षेत्र में उन्नति करने पर हमें अधिक सम्मान प्राप्त होगा, इसका निर्धारण संस्कृति या समूह द्वारा ही होता है।

आज से तीन सौ वर्ष पहले जिस वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाने पर ब्रूनो को दण्ड दिया गया, और गैलिलियो पर मुकदमा चलाया गया, उसी दृष्टिकोण को अपनाने वाले आइनस्टाइन आज संसार के सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों में गिने जाते हैं। हमारा समाज भी आज हमें ऐसे ही दृष्टिकोण को अपनाने

की ओर अग्रसर करता है। अपने ही देश में भिन्न-भिन्न समयों में संस्कृति द्वारा अलग-अलग क्षेत्रों में उन्नति प्राप्त करने वाले व्यक्तियों को सम्मान दिया गया। साधारण शिक्षितवर्ग सेना के बड़े पदाधिकारियों को पहले जिस तुच्छता की दृष्टि से देखता था आज उसके विपरीत कहीं अधिक सम्मान की दृष्टि से देखने लगा है; आज वे स्वतन्त्रता के रक्षक समझे जाने लगे हैं। एक ही समय में अलग-अलग समूह अलग-अलग आदर्शों का पालन करते हैं। व्यापारिक समाज में पैदा हुए बच्चों के आदर्श प्रायः प्रेमचन्द और प्रसाद न होकर शायद बिडला और डालमियां होंगे। परन्तु लेखकों के बच्चे इन आदर्श-पुरुषों की ओर कुछ उपेक्षा से ही देखेंगे, जब कि प्रेमचन्द या प्रसाद बनने की महत्त्वाकांक्षा उनके लिए अधिक स्वाभाविक होगी। जो बालिका अपने सौन्दर्य, हाव-भाव, स्वतन्त्र विचार और मोहक स्वर के कारण ही अपने ग्राम और परिवार की निन्दा का कारण बनती है, वही अवसर प्राप्त होने पर तथाकथित सभ्य समाज में सम्मान की पात्री हो सकती है। प्रत्येक समाज में साधारणता से कुछ ऊंचे नैतिक स्तर के व्यक्ति माननीय समझे जाते हैं परन्तु असाधारण उन्नत नैतिकता वाले व्यक्ति सम्मान नहीं पाते।

विशिष्ट (Formal) और सामान्य (Informal) सामाजिक नियन्त्रण. नियम पालन और व्यवस्था कायम रखने के लिए समूह व्यक्तियों पर जो प्रभाव डालता है, वह सामाजिक नियन्त्रण है। यह नियन्त्रण अव्यवस्थित स्तर पर प्रयुक्त होता है। सामूहिक रूढ़ियों, आदर्शों और नैतिक मान्यताओं का अनुसरण कराने के लिए जनमत, चर्चा और निन्दा का आश्रय लिया जाता है। रौस ने कहा है, "सहानुभूति, सामाजिकता, न्यायभावना और निन्दा अच्छी परिस्थितियों में स्वयं ही एक सच्चा स्वाभाविक और अकृत्रिम वातावरण स्थापित करने में समर्थ होती हैं।" गांवों में यही सामान्य सामाजिक नियन्त्रण बहुत प्रभावी होता है।

यहां यह कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि समूह अपने सम्पूर्ण सामूहिक रूप में सबसे योग्य नियन्त्रक होता है। किसी बाहर के शासक या व्यवस्थापक से अधिक अपने समूह में सम्मान की लालसा मनुष्यों को साधारण रीतियों का पालन करने की अपेक्षतया अधिक प्रेरणा देती है। बच्चों के सुधार-गृहों के नये अनुभव भी इसी धारणा की पुष्टि करते है।

सामाजिक नियंत्रण के कारण साधारणता की ओर झुकाव. इस सामाजिक नियंत्रण के परिणाम स्वरूप असाधारणता की सीमा छू लेने वाले

व्यक्तित्वों का विकास रुकता है, और व्यक्तित्व साधारणता की ओर उन्मुख रहता है। एक समूह के सदस्यों की एक विषय पर अलग-अलग धारणाएं लिख डाली गई, और उसके पश्चात् समूह में सबके सामने ही उन्हें अपना मत देना पड़ा, समूह में असाधारण मत बहुत न्यून हो गए। यह तो प्रतिदिन के अनुभव की बात है कि हम समूह में आम तौर से अपनी निम्न या बहुत आदर्शवादी भावनाओं का प्रदर्शन नहीं करते। इसीलिए मनुष्यमात्र के व्यक्तित्वों की एक मापक रेखा—एक ऐसी रेखा होती है जो केन्द्र की ओर अधिक झुके और अधिक उन्मुख हो। इस से सिद्ध है कि सामूहिक दबाव के कारण लोग सामान्यता और साधारणता की ओर अधिक झुकते हैं।

सामाजिक चेतना या आत्मा के सिद्धान्त भ्रांतिपूर्ण. पर इस सबका यह तात्पर्य नहीं है कि समाज में कोई एक पृथक् आत्मा है जैसा कि हीगल और वुंट का मत है या सामूहिक चेतना या इच्छाशक्ति जैसी कोई पृथक् वस्तु है, जैसा कि मैक्डूगल और दुरखीम की धारणा है। समूह अलग-अलग व्यक्तियों के सम्मिलन से बना है; और जैसे हार्मोनियम के अलग-अलग स्वर मिलकर एक संगीत बनाते हैं, उसी प्रकार अन्त:क्रियात्मक अवस्था भी जो सामूहिक व्यवहार का आधार है, एक नैरन्तर्य और प्रणालीगत रूप लिए होती है। परन्तु न तो हम संगीत को एक आत्मा और चेतनायुक्त इकाई मान लेते हैं, जिसमें अलग-अलग स्वरों का कोई अस्तित्व न हो और न ही हम समाज को एक आत्मा समझ कर व्यक्ति के अस्तित्व से इनकार कर सकते हैं। हमें यह भूलना नहीं चाहिए कि सम्पूर्ण सामूहिक व्यवहार व्यक्तियों के व्यवहारों द्वारा ही उदित होता है और यह व्यवहार प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र और विशिष्ट व्यक्तिगत रूप में करता है। हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि व्यक्ति एक वस्तु है एक सत्य है। समूह शिक्षण, अभिसंधान, सुझाव, अनुकरण दबाव इत्यादि जिन साधनों से अपना प्रभाव व्यक्ति पर डालता है वे सभी साधन प्रत्येक व्यक्ति को उसके अपने विशेष व्यक्तित्व के अनुसार ही प्रभावित कर सकते हैं। समाज को किसी अवास्तविक, अलौकिक या रहस्यमयी सत्ता या चेतना से विभूषित करना समाज के अध्ययन को वैज्ञानिक अध्ययन की परिधि से दूर फेंक देना है। हमें तो उन वास्तविक प्रक्रियाओं का अध्ययन करना चाहिए जिन के द्वारा व्यक्ति सामूहिक का अंग बन जाता है।

असाधारण बालक अनेक समूहों के अंग. अपनी सामाजिक प्रवृत्ति की मात्रा की दृष्टि से व्यक्ति बहुत भिन्न-भिन्न होते हैं। कई व्यक्ति अनेक समूहों में भाग लेते हैं और कुछ का मेलजोल केवल एक दो समूहों तक ही सीमित रहता

है। टरमेन के अनुसार मेधावी बालक साधारण बालकों की अपेक्षा अधिक समूहों के अंग होते हैं। चेपिन ने अमेरिका के विश्वविद्यालयों के छात्रों का अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला है कि अच्छे विद्यार्थी और कालिज-जीवन के नेता विद्यार्थी अन्य विद्यार्थियों की अपेक्षा अधिक समूहों में भाग लेते हैं। साधारणतया करीब एक तिहाई विद्यार्थी शिक्षा के बाहर के कार्यों में विशेष दिलचस्पी नहीं लेते, परन्तु मेधावी विद्यार्थियों का सात प्रतिशत भाग ही ऐसा होता है। कुछ विद्वानों के अनुसार समूहों में भाग लेने की दृष्टि से व्यक्तियों में व्यक्त होने वाले इन अन्तरों का कारण आनुवंशिक होता है; पर अधिकतर बच्चों के अपने अनुभवों का इसमें बड़ा हाथ रहता है। आरम्भ से ही बच्चे का दबाया जाना, घृणा पाना, उपेक्षित होना, अंगहीनता, शारीरिक त्रुटि, कुरूपता या पढ़ने में अधिक रुचि आदि यह सब कारण ऐसे अंतर पैदा कर देते हैं।

समूह स्फूर्ति और उत्साह का वर्धक. शिशु और बालक समूहों में जो व्यवहार करते हैं वह शायद अकेले में नहीं करते। समूह में दूसरों की उपस्थिति बच्चे की प्रतिष्ठा पाने की भावना को जगा कर उसकी स्फूर्ति को बढ़ा देती है। ट्रेविस के परीक्षण में पांच में से चार बच्चों ने अकेले में काम करने की अपेक्षा समूह में अधिक अच्छा काम किया। इसमें भी यदि समूह के दूसरे व्यक्ति उनको न देख रहे हों, जाँच न रहे हों; बल्कि साथ मिलकर काम कर रहे हों,—इसे हम सह-क्रिय समूह कह सकते हैं—तो अकेले से भी अधिक अच्छा काम होता है।

(ख) समाज और सहजप्रवृत्ति (Instinct)

मानवव्यवहारों में कुछ सामान्य प्राथमिक आधारभूत प्रवृत्तियाँ

सभी व्यक्तियों के सभी प्रकार के व्यवहारों को कुछ ऐसी प्राथमिक और आधारभूत इकाइयों में बाँटा जा सकता है, जो उन व्यवहारों के जन्म, उदय और प्रकार पर प्रकाश डाल सकें। सभी व्यक्ति कुछ समानता लिए हुए होते हैं और सभी घृणा, प्रेम, क्रोध, कामवासना, भूख, प्यास और निद्रा के वश होकर व्यवहार करते हैं। कुछ ऐसी इकाइयां जो सभी मनुष्यों में विद्यमान हों और जो सभी के व्यवहार का आधार हों, उन्हें सार्वजनिक और सामान्य मानकर मानव-व्यवहार के अध्ययन का आधार बनाया जा सकता है।

यह तो ठीक है ही कि सभी व्यक्तियों के शरीरों में कुछ ऐसे चालक होते हैं जिन्हें शरीर की आवश्यकताएं उद्दीप्त करती हैं। भूख, निद्रा इत्यादि

उन में ही गिने जा सकते हैं । इसी प्रकार कुछ ऐसे उद्वेग (Emotions) भी हैं जैसे क्रोध, मोह, प्यार, भय और लज्जा आदि, जो सभी व्यक्तियों के व्यवहार में दृष्टिगोचर होते हैं और उन्हें प्रभावित करते हैं । परन्तु क्या यह भी शरीर की आवश्यकताओं की तरह बहुत बुनियादी और महत्त्वपूर्ण हैं ? क्या यह भी शरीर के साथ ही जन्म लेते हैं ? जिस प्रकार शिशु जन्म से ही भूख से पीड़ित होता है, क्या वह घृणा से भी उसी प्रकार जन्म से ही उत्तेजित होता है ? और क्या भूख और प्यास की तरह यह भी शरीर में कुछ अशान्ति, कुछ खिचाव (tension) की अवस्था को जन्म देकर अपनी शीघ्र तृप्ति के लिए व्यक्ति को उद्दीप्त करती है ?

सहजप्रवृत्ति जन्मजात होती है. इस दृष्टिकोण से यह देखना आवश्यक प्रतीत होता है कि हमारे स्वभाव में कुछ ऐसी आधारभूत और बुनियादी प्रवृत्तियां विद्यमान हैं कि नहीं, जो जन्मजात हों, जो शरीर में पहले से ही विद्यमान हों और जो मानव-व्यवहार को एक विशिष्ट निर्धारित उद्देश्य की ओर, जिससे कि उनकी तृप्ति हो सके, ले जाएं ?

मैक्डूगल, थॉर्नडाइक, विलियम जेम्स और टार्ड प्रभृति समाजशास्त्रियों ने इन प्रवृत्तियों का अस्तित्व स्वीकार किया है, और इन्हें सहज-प्रवृत्तियों (instincts) का नाम दिया है, परन्तु उनके गुण क्या हैं, और संख्या में वह कितनी हैं, इन विषयों पर उन में तीव्र मतभेद है । फिर भी हम अधिक मान्य धारणाओं को स्वीकार करके सहज प्रवृत्तियों का अध्ययन करेंगे । मैक्डूगल ने इनकी संख्या बारह बताई है, थार्नडाइक ने आठ, फ्रायड ने केवल दो (विनाशात्मक और रचनात्मक), और विलियम जेम्स ने तो यहाँ तक कह दिया है कि मानव में उतनी ही सहजप्रवृत्तियां हैं जितनी कि पशुओं में ।

नस्ल की रक्षा के लिए उपयोगी सिद्ध हुए व्यवहार. मैक्डूगल के अनुसार अधिक प्रचलित अर्थों में 'सहजप्रवृत्ति' कुछ ऐसी विशेष जन्म-सहजात प्रवृत्तियों का नाम है जो किसी एक जाति के सभी सदस्यों या प्राणियों में सामान्यतः विद्यमान होती हैं। कुछ ऐसी नस्ली विशेषताएं भी सहजप्रवृत्ति हैं जो प्राणियों की वातावरण के प्रति अनुकूलतासम्पादन (Adaptation) की प्रक्रिया में धीरे-धीरे विकसित हो गई हैं और जो न तो उन प्राणियों की मानसिक व्यवस्था से मिटाई जा सकती हैं, और न ही व्यक्तियों द्वारा केवल अपने जीवनकाल में सीखी जा सकती हैं । यह सहजप्रवृत्तियां मानव या किसी दूसरी प्राणिक जाति के मन में इसलिए अमिट हो गई, क्योंकि ये ऐसे व्यवहार द्वारा

विकसित हुई हैं, जिसके कारण प्राणी वातावरण के प्रति लाभदायक आचरण कर सका। इस रूप में सहजप्रवृत्तियां प्राचीन काल से मानव और वातावरण की अन्तःक्रिया में मानव को लाभ और सुरक्षा देने वाले व्यवहार की शेष चिह्न हैं। यह उपयोगी होने के कारण नस्ल की शारीरिक और मानसिक विरासत में स्थापित हो गई हैं।

सहजप्रवृत्ति लक्ष्यात्मक होती है. प्रत्येक सहजप्रवृत्ति का एक लक्ष्य, एक ध्येय होता है। उस ध्येय की पूर्ति के लिए मानवशरीर में कुछ पूर्वनिर्धारित क्रियाओं की एक शृंखला स्थापित होती है। हम भूख लगने पर कुछ खाना चाहते हैं। भोजन या क्षुधातृप्ति क्षुधा की सहजप्रवृत्ति का ध्येय है, इस ध्येय या लक्ष्य की पूर्ति के लिए हाथ बढ़ाना, भोजन को मुंह में डालना, चबाना—यह क्रियाओं की कड़ियां हैं। कीड़ों के मन में तो यह सब बहुत विस्तार से स्वभावतः ही स्थापित होती है और पक्षियों में भी घोंसला बनाने की सहजप्रवृत्ति लक्ष्य प्राप्ति के लिए कुछ क्रियाओं की विस्तृत कड़ियों के रूप में काम करती है।

व्यक्तिगत अनुभव से अप्रभावित. सहजप्रवृत्ति नस्ली विरासत के रूप में प्राप्त होती है, और जन्म से शरीर में विद्यमान रहती है। इसे इस संसार में अपने अनुभव से सीखना नहीं पड़ता। इसका लक्ष्य भी पूर्वनिर्धारित होता है। यह तो हो सकता है कि लक्ष्य-प्राप्ति के साधन के रूप में हम अपने अनुभव द्वारा भिन्न-भिन्न मार्ग अपना लें, परन्तु लक्ष्य और लक्ष्यप्राप्ति की लालसा को हमारा अनुभव नहीं बदल सकता, प्रभावित भी नहीं कर सकता।

सहजप्रवृत्ति की तृप्ति सुखकर, अतृप्ति पीड़ाजनक. यदि हम सहजप्रवृत्ति के लक्ष्य की प्राप्ति कर लेते हैं तो हमारे शरीर में जो खिचाव अशान्ति का कारण बनता है, वह दूर हो जाता है, अन्यथा वह खिचाव कायम रहता है, और हम अतृप्ति के कारण पीड़ा का अनुभव करते हैं। जब हम किसी से क्रुद्ध होते हैं, तो कितने बेचैन होते हैं? अपने शत्रु की पराजय देखकर, अपने उद्देश्य में सफल होकर, हम कितने प्रसन्न हो जाते हैं?

जिन्संबर्ग के शब्दों में, "सहजप्रवृत्ति क्रिया की उन कड़ियों का नाम है, जो जीवन के लिए उपयोगी होती हैं, जो जन्म से निर्धारित होती हैं और पूर्व अनुभव से स्वतन्त्र होती हैं।" मैक्डूगल के शब्दों में "सहजप्रवृत्ति एक आनुवंशिक, सहजात, मनःशारीरिक प्रवृत्ति है जो व्यक्ति को विशेष प्रकार के पदार्थों को प्रत्यक्ष करने और उनकी ओर ध्यान देने पर बाधित करती

है, जो उसे उन पदार्थों को प्रत्यक्ष कर लेने पर एक विशेष गुण वाली उत्तेजित भावना को महसूस करने और उस भावना के अनुसार एक विशेष प्रणाली में क्रिया करने के लिये बाध्य करती है।"

सहजप्रवृत्ति और उत्क्षेप (Reflex). स्पैंसर के अनुसार सहजप्रवृत्ति अनेक उत्क्षेपों का समन्वय है। परन्तु उत्क्षेप शरीर के किसी एक भाग में ही उत्तेजित हो जाने वाली एक विशेष क्रिया को कहते हैं जिसका हमारे शिक्षण व चिन्तन से सम्बन्ध नहीं होता। इसकी तुलना में सहजप्रवृत्ति सारे शरीर का व्यवहार होती है; वह एक विशेष क्रिया नहीं है, वह क्रियाओं की एक शृङ्खला को जन्म देती है, और मन में एक खिचाव, एक अशान्ति पैदा कर देती है। जबकि उत्क्षेप केवल शारीरिक क्रिया है, सहजप्रवृत्ति शारीरिक भी होती है और मानसिक भी।

सहजप्रवृत्ति और बुद्धि. सहजप्रवृत्ति के कार्य का तीन अलग-अलग विभागों में विभाजन किया जाता है, उसके (१) बोधात्मक (Cognitive), (२) क्रियात्मक (Conative) (३) रागात्मक (Affective) अलग-अलग कार्य हैं। उद्दीपन का प्रत्यक्षीकरण, उद्दीपन द्वारा उद्दीप्त भावना से प्रेरित कुछ क्रियाएं और लक्ष्यप्राप्ति पर तृप्ति और सुख की भावना—यह सहज-प्रवृत्ति के अलग-अलग रूप हैं। किसी सुन्दर फूल को तोड़ने या हमें बुरा प्रतीत होने वाले व्यक्ति को मारने के लिए दौड़ने की हमारी क्रिया इन्हीं तीनों तत्वों को लेकर चलती है।

इस सारी योजना में बुद्धि का क्या स्थान है? बुद्धि और सहजप्रवृत्ति का क्या सम्बन्ध है? हावहाउस का कथन है कि उद्दीपक के प्रत्यक्षीकरण के उपरांत जो भावना उदित होती है, वह बुद्धि से सम्बद्ध होती है, क्योंकि वह नियत नहीं होती और उसमें लचकीलापन व नमनीयता होती है।

हम यह कह चुके हैं कि सहजप्रवृत्ति लक्ष्यात्मक है। लक्ष्य तो सदा ही निर्धारित रहता है, परन्तु उस तक पहुंचने के साधन पूर्णतः पूर्वनिश्चित नहीं होते। बुद्धि उन साधनों को विकसित करती है। सहजप्रवृत्ति में जो अपरिवर्त-नीयता रहती है, बुद्धि अपने पूर्वसंचित अनुभव द्वारा उसे कम करती है, लक्ष्य तक पहुंचने के मार्ग को परिष्कृत करती है। लक्ष्यनिर्धारण सहजप्रवृत्ति द्वारा होता है, पथप्रदर्शन बुद्धि द्वारा।

आरम्भ में अनुभवहीनता के कारण बुद्धि केवल तात्कालिक लक्ष्य को ही पहचान पाती है, पर ज्यों-ज्यों यह विकसित होती है, यह अन्तिम लक्ष्य

को समझने में भी समर्थ हो जाती है और पथप्रदर्शन करती है । इससे स्पष्ट है कि लक्ष्यप्राप्ति के साधन हमारे अनुभवों द्वारा निर्धारित होते हैं।

सहजप्रवृत्ति का प्रभाव. मानवव्यवहार में सहजप्रवृत्ति का कितना प्रभाव है ? मैक्डूगल ने इसे मानवव्यवहार का आधार बताया है। उसके कथनानुसार मानव एक ऐसा इंजिन है जिसको चलाने के लिए सहजप्रवृत्ति नाम की अग्नि की आवश्यकता है; सहज प्रवृत्ति शरीरव्यवहार को प्राणवान् करने वाली शक्ति है।

जिन्सबर्ग ने मैक्डूगल की धारणा का विरोध किया है। उसका कहना है कि प्रथम तो हम समाज में रहने के कारण अपने जीवन में कुछ ऐसे आदर्श या प्रेरक स्वीकार कर लेते हैं, जो जन्मजात नहीं हो सकते; दूसरे हमारा व्यक्तित्व केवल शारीरिक या प्राणिक गुणों का परिणाम नहीं है और उस पर केवल कुछ सहजप्रवृत्तियों का ही नहीं, वल्कि सामाजिक और भौगोलिक वातावरण का भी प्रभाव पड़ता है, और व्यक्ति के अपने अनुभव भी उसे प्रभावित करते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि हमारे व्यवहार के प्रेरक मिले-जुले होते हैं, उनको पृथक्-पृथक् सहजप्रवृत्तियों में विभाजित कर पाना और पहचान पाना असम्भव है। सामाजिक प्रक्रियाओं का जो प्रभाव मानव व्यवहार पर पड़ता है, वह भी मानव-क्रियाओं को बहुत अधिक बदल देता है। अतः मैक्डूगल की धारणा भ्रान्तिपूर्ण है और हमें मानव-व्यवहार और स्वभाव में सहजप्रवृत्ति को अधिक महत्त्व न देना चाहिए।

व्यवहारवादियों की धारणा. परन्तु मनोविज्ञान में एक और विचार-धारा जिसे व्यवहारवादी (Behaviourist) विचारधारा कहा जाता है, और जे० बी० वाट्सन जिसके मुख्य समर्थक हैं, मानवव्यवहार और क्रिया को किसी सहजप्रवृत्ति का परिणाम नहीं मानती। यह विचारधारा 'सहजप्रवृत्ति' नाम की किसी वस्तु के अस्तित्व से ही असहमत है। इसके अनुसार मनुष्य जो भी व्यवहार करता है, उसका कारण समाज और वातावरण है। व्यक्ति तो केवल एक शरीर है, जिसमें नाड़ीसंस्थान, ग्रन्थिसंस्थान और मस्तिष्क का समावेश है। यह सब अनुभव और क्रिया द्वारा परिवर्तित होते रहते हैं, परन्तु प्रत्येक पहले परिवर्तन का प्रभाव अपने अन्दर सुरक्षित रखते हैं, उसे विनष्ट नहीं होने देते। वातावरण और उसके प्रति अपनी प्रतिक्रिया द्वारा वह उन तीनों चीजों का विकास करते हैं और अभ्यास और शिक्षण द्वारा अपनी वृद्धि को बढ़ाते रहते हैं।

९६०

सहजप्रवृत्तियों के अस्तित्व और शक्ति पर मानवशास्त्रियों की खोज. पिछले पच्चीस वर्षों में मानवशास्त्रियों ने अपनीखोजों से कुछ ऐसे तथ्यों पर प्रकाश डाला है कि सहजप्रवृत्तियों को मानने वालों को अपनी धारणाओं को वदलना पड़ रहा है। रुथ वैनेडिक्ट और मारगरेट मीड ने छः आरण्यक जातियों के कवीलों के अध्ययन से यह दर्शाया है कि कई ऐसी प्रवृत्तियां जिन्हें हम अपनी संस्कृति के प्रभाव के कारण सहज मानते हैं, वह अन्य कवीलों में नहीं दिखाई देतीं।

मारगरेट मीड ने यौनिक व्यवहार के लम्वन्ध में अरापेश, मुंडुगुमर और शाम्वुली कवीलों का उदारहरण दिया है। अरापेश कवीले के स्त्री और पुरुष दोनों ही अपने यौनिक व्यवहार में वहुत कम उत्तेजित, वहुत शांत और उपेक्षा-पूर्ण हैं, जव कि मुंडुगुमर कवीले में दोनों ही उग्र यौनिक व्यवहार का प्रदर्शन करते हैं, यहां तक कि इस कवीले में वच्चे अनिच्छित और उपेक्षितों की भांति पाले जाते हैं और मां वच्चों की ओर ध्यान नहीं देती। शाम्वुली कवीले में जो दोनों कवीलों के सौ मील के अन्दर-अन्दर ही वास करता है, स्त्री यौनिक व्यवहार में उग्र है, पुरुष धीमा है; शक्ति, सत्ता और सम्पत्ति की स्वामिनी भी स्त्री है।

इस सम्वन्ध में मातृ-ममता की 'सहजप्रवृत्ति' का उदाहरण भी दिया जा सकता है। अन्दामन में माता-पिता अपने वच्चे को किसी दूसरे की गोद देकर सम्मान प्राप्त करते हैं; छः वर्ष से अधिक का कोई वच्चा माता-पिता के साथ नहीं रहता। प्राचीन काल में चीन में परिवार के सभी वच्चों का पालन-पोषण सवसे वड़ी पत्नी करती थी; और वही उनके सम्मान और प्यार को प्राप्त करती थी। वास्तविक माताओं का वच्चों पर कोई अधिकार न होता था। इसी प्रकार न्यूगिनी के मेनास लोगों में माता की जगह पिता ही वच्चों का पालन-पोषण करता है।

होपी और जूनी लोगों में घृणा की सहजप्रवृत्ति, स्पर्द्धा और व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा की भावनाओं या प्रवृत्तियों का कोई चिन्ह नहीं, जव कि क्वाकितुल लोगों और हमारी आधुनिक सभ्यता में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

इन तर्कों से यह परिणाम निकलता है कि सहजप्रवृत्ति हमारी सामाजिक व्यवस्था, संस्कृति और अनुभव द्वारा वदल जाती है और अलग-अलग रूप धारण कर लेती है।

समाज में सहजप्रवृत्ति

मैक्डूगल, ट्रॉटर, टार्ड, वेगहॉट और दूसरे समाजशास्त्रियों ने व्यक्ति के सामाजिक व्यवहार का कारण अधिकतर 'सहजप्रवृत्ति' को बताया है। मैक्डूगल ने आत्मप्रकाश (Self-assertion) और आत्मलघुता (Self-abasement) की प्रवृत्ति को और टार्ड ने अनुकरण की सहजप्रवृत्ति को सामाजिक व्यवहार का आधार बताया है। ट्रॉटर ने सामाजिकता की 'सहज प्रवृत्ति' की कल्पना की है। इन तीनों सिद्धान्तों को विस्तार से अध्ययन करना सामाजिक व्यवहार का कारण समझने के लिए आवश्यक प्रतीत होता है।

मैक्डूगल का मत: सामाजिकता करुणाभाव का परिणाम. मैक्डूगल के कथनानुसार सामाजिक जीवन का आधार करुणा की भावना है। यह भावना पितृप्रेम की भावना का प्रभावी रूप है। वास्तव में आरम्भ में यह मातृप्रेम की भावना थी, पर अन्य कई गुणों की तरह यह पुरुष को भी प्राप्त हो गई। जब हम किसी दूसरे व्यक्ति को अन्याय पीड़ित देखते हैं, तो इसी करुणा-भावना को उत्तेजना मिलती है, और इस प्रकार यह परोपकार की भावना पर-रक्षा की भावना को भी जन्म देती है। जब वह भावना अपनी तृप्ति के मार्ग में कोई बाधा देखती है तो अन्य सभी सशक्त भावनाओं (Impulses) की तरह प्रतिरोध और क्रोध की ओर प्रवृत्त होती है, और इस प्रकार नैतिक विरोध और क्रोध का आधार बनती है।

मैक्डूगल के मत की समालोचना

परन्तु इस धारणा पर यह आक्षेप किए गए हैं : सामाजिक व्यवहार का रक्त से कोई सम्बन्ध नहीं है। जब हम अन्याय के विरुद्ध लड़ते हैं, तो यह आवश्यक नहीं होता कि पीड़ित व्यक्ति हमारा रक्तसम्बन्धी हो। सामाजिकता की भावना को माता या पिता के प्यार से सम्बंधित करने की आवश्यकता नहीं दिखाई देती। न ही यह आवश्यक है कि हम इस भावना को दूसरी भावनाओं पर आधारित करें; इसे भी हम एक अलग, स्वतन्त्र और बुनियादी नैसर्गिक भावना मान सकते हैं।

सामाजिक जीवन का आधार दूसरों से अंतःक्रिया

हमारे सारे सामाजिक व्यवहार के लक्ष्य दूसरे लोग होते हैं। सभी भावनाएं अपने लक्ष्यों के रूप में दूसरे पदार्थों की ओर ही अग्रसर होती हैं।

दूसरों के प्रति प्रतिक्रिया सामाजिकता का आधार है। शैंड ने कहा है "हमारी प्रत्येक भावना में एक सबल निःस्वार्थता निहित है क्योंकि जिन उद्दीपकों से वह उद्दीप्त होती है, उनमें से कई उद्दीपक दूसरे व्यक्तियों द्वारा प्रदत्त होते हैं, हमारे अपने द्वारा नहीं।" एक पतंगा अपने बच्चे के लिए परिश्रम करता है, जबकि वह उसे कभी नहीं देख सकता। क्या यह स्नेहभावना के कारण है ? और फिर क्या ज्ञान और सौन्दर्य के प्रति प्रेम भी इसी के कारण होता है?

हम सामाजिक मान्यताएं क्यों स्वीकार करते हैं. मैक्डूगल का विचार है कि हम जो अपने समाज के नियमों का पालन करते हैं, सामाजिक मान्यताओं को स्वीकार करते हैं और शक्ति के सम्मुख नतमस्तक होते हैं, उसका कारण यह है कि हम समाज से अपने लिए सम्मान चाहते हैं, दण्ड से डरते हैं और दूसरों की इच्छानुसार कार्य करके उनको प्रसन्न करना चाहते हैं। हमारी आत्मसम्मान की भावना (self-regarding sentiment) और निषेधात्मक आत्मभावना (negative self-feeling) दोनों का संमिलन इस व्यवहार का आधार है। हमारी नैतिक प्रगति का कारण यह है कि हमारी आत्मसम्मान की भावना अधिक विकसित हो जाती है और जिनके प्रति उनकी इच्छानुसार चलकर और उनको प्रसन्न करके हम सक्रिय सहानुभूति का प्रदर्शन करते हैं, वह भी ऊंचे स्तर के हो जाते हैं। और चूंकि हमारा आचरण देखने वाले परिष्कृत स्वभाव के हैं, इसलिए हमारा आचरण भी परिष्कृत होता रहता है।

इस धारणा में जिस सहजप्रवृत्ति को महत्त्व दिया गया है, वह एक नहीं, कई अलग-अलग व्यवहार-प्रणालियों का सामूहिक नाम है। अतः उसे एक सहजप्रवृत्ति मानना कठिन है। हम दूसरों से डरते हैं, हम दण्ड से डरते हैं, हम दूसरों को प्रसन्न करना चाहते हैं और अपने को भी—क्या इन सबको एक ही नाम देकर कोई ठीक धारणा बनाना संभव है ? और यदि हम सामाजिक मान्यताओं को इसीलिए मानते हैं, तो एक ऐसे समाज में जिसमें सभी व्यक्ति हमारी तरह इन मान्यताओं को मानते हैं, कुछ खास नीतियां या आदर्श ही क्यों मान्य होते हैं ? इसका क्या कारण है ?

डा० मैक्डूगल ने 'सामाजिक सहजप्रवृत्ति' का कार्य केवल यह बताया है कि लोग एक स्थान पर एकत्रित हो जाएं। अगर इस नाम की कोई सहज-प्रवृत्ति है तो उसका कार्य यह भी तो हो सकता है कि लोग सर्वदा इकट्ठे ही काम करें, समूहों में ही काम करें ?

ट्रॉटर की धारणा : सामाजिक सहजप्रवृत्ति के कारण सामाजिक गठन. डा० ट्रॉटर ने सामाजिकता की सहजप्रवृत्ति को बहुत अधिक महत्त्व दिया है। प्रत्येक व्यक्ति अपने साथियों के व्यवहार से प्रभावित होता है, और सदा चाहता रहता है कि वह अपने समूह में रहे, अपने साथियों में रहे। सामाजिकता की सहज-प्रवृत्ति के ही कारण हमारा यह व्यवहार है, और इसी के कारण समूह की ओर से या उसके सम्मान के साथ जो भी सुझाव हमें प्राप्त होता है, उसका हम पर बहुत प्रभाव पड़ता है। इसके ही कारण समूह के सदस्यों की मानसिक रचना में एक मौलिक परिवर्तन आजाता है। इस सहजप्रवृत्ति की महत्ता इस बात में है कि हम बिना सोचे-समझे ही सामूहिक आदर्शों, मूल्यों और मान्यताओं को अपनी स्वीकृति दे देते हैं; और यद्यपि बहुत सी मान्यताएं बिल्कुल युक्तिहीन होती हैं, तथापि हमें और समूह के दूसरे सदस्यों को वह युक्तिसंगत जंचती हैं।

डा० ट्रॉटर के अनुसार आदर्शों, रिवाजों, विचारों और मूल्यों का अप्रतिम प्रभाव सामाजिकता की सहजप्रवृत्ति की देन है; जिसे हम 'अन्तरात्मा' कहते हैं, वह भी 'समाज की निन्दा से भय' का दूसरा नाम है। हमारी पूर्णता की लालसा, आत्मविलयन और मुक्ति की जिज्ञासा, जो धर्म का आधार हैं, वह कभी-कभी हमारे समाज से स्वतन्त्र न हो सकने और आत्म-निर्भर होने में असमर्थ होने के कारण उत्पन्न होती हैं।

ट्रॉटर के मत की आलोचना. डा० ट्रॉटर के सिद्धान्त से यह बात स्पष्ट नहीं होती कि सुझाव के प्रभाव के कभी न्यून और कभी अधिक होने का कारण क्या है ? कुछ लोग एक सुझाव को स्वीकार कर लेते हैं परन्तु उनके दूसरे साथी नहीं करते, ऐसा क्यों होता है ? यदि सबमें यह सहजप्रवृत्ति है तो सभी को उन्हें स्वीकार कर लेना चाहिये। इसी प्रकार इस समस्या पर भी प्रकाश नहीं पड़ता कि एक समूह में कुछ विशेष मान्यताएं ही क्यों मान्य हुईं, दूसरी क्यों नहीं ?

किसी एक कारण से सामाजिक व्यवहार की व्याख्या करना भ्रान्तिपूर्ण. वास्तव में तो सामाजिक व्यवहार की किसी एक कारण से या एक सहजप्रवृत्ति से ही व्याख्या करने की चेष्टा करना ही भ्रान्तिमूलक है। किसी एक प्राथमिक बुनियादी भावना—जैसे डर या क्रोध या सामाजिकता के विद्यमान होने पर भी मानवव्यवहार पर प्रभाव डालने वाले कितने ही अन्य तत्त्व भी हैं। यह कहना कि युद्ध डर के परिणाम स्वरूप होते हैं या आक्रमणकारी भावना के कारण होते हैं,

किसी भी विशेष युद्ध के विषय में कोई ज्ञान प्रदान नहीं करता। युद्धों के अनेक कारण होते हैं। किसी एक युद्ध का इतिहास जानने के लिए, तत्कालीन योद्धाओं का इतिहास, उनके रिवाज, उनके झगड़े इत्यादि का जानना आवश्यक है। प्रत्येक घटना अनेक कारणों के परिणाम स्वरूप घटती है, न कि किसी एक कारण से। हमारी भावनाएं हम में विद्यमान हैं, पर हमारा व्यक्तित्व उन भावनाओं का संग्रह नहीं, उनके विलयन का परिणाम होता है, क्योंकि उसका विशेष गुण है उसकी एकता, उसकी संपूर्णता, उसका गठन। हमारी प्रत्येक प्रतिक्रिया किसी एक भावना या प्रवृत्ति का नहीं, अपितु कई प्रवृत्तियों के विलयन का परिणाम होती है। दूसरे हमारी भावनाओं पर हमारे पूर्व अनुभवों का, हमारे सम्पूर्ण ज्ञान का, और वुद्धि का वहुत प्रभाव होता है; उनसे हमारी भावनाओं की प्रवलता की मात्रा कम या अधिक हो जाती है; उनका क्षेत्र और उनकी परिधि वढ़ जाती या छोटी हो जाती है; उनकी अभिव्यक्ति की प्रणालियां अनेक हो सकती हैं, और उनको अलग-अलग ढंगों से वदला जा सकता है। हमारी भावनाएं किस दिशा में अभिव्यक्त होंगी, इसका निर्धारण सामाजिक मूल्यों, संस्थाओं और रूढ़ियों पर अवलम्वित होता है।

किसी एक तत्त्व पर वल देकर सामाजिक व्यवहार की व्याख्या उस तत्त्व को तो प्रकाश में ले आती है, पर व्याख्या की दृष्टि से वहुत अधूरी है। सम्पत्ति-संग्रह के लिए सम्पत्ति-संग्रह की सहजप्रवृत्ति को मान लेने पर भी क्या इसका कारण जानना कठिन नहीं है कि क्यों जूनी लोग सामूहिक सम्पत्ति की व्यवस्था को मानते हैं, जवकि उनके पड़ौसी क्वाकितुल नहीं मानते।

सुझाव—अनुकरण सामाजिक व्यवहार का आधार. वेगहॉट ने १८७३ में अपनी पुस्तक 'Physics and Politics' में इस मत का प्रतिपादन किया है। उसने आदिम समाज में अनुकरण की महत्ता को देख कर उसे ही समाज को ढालने वाली शक्ति माना है। वेगहॉट के मत से आज के समाज की प्रक्रियाओं में भी सवसे वुनियादी प्रक्रिया अनुकरण ही है। हम सव जो सामाजिक रीति-रिवाज़ सीखते हैं और समाज के अंग वन जाते हैं, वह भी अनुकरण ही का प्रभाव होता है। हम अनुकरण करने को वाध्य होते हैं और न जानते हुए भी अनुकरण करते जाते हैं। अनुकरण समाज को स्थायी, और स्थिर रखने वाली शक्ति है। समाज में प्रगति या परिवर्तन अचानक होता है। अकस्मात् ही किसी नई चीज का उदय हो जाने पर सभी उसका अनुकरण करने लगते हैं और उसे स्वीकार कर लेते हैं।

वेगहॉट के विचार में अनुकरण की इतनी अधिक शक्ति है कि अगर हमारी अनुकरण की चेष्टा असफल रहे, तो हमें दुःख होता है। अनुकरण हमें समाज के प्रचलित रिवाजों को मानने को बाध्य करता है। प्रगति का कारण उसने एक और प्रवृत्ति को माना है जिसे उसने वाद-विवाद की प्रवृत्ति कहा है।

पुनरावृत्ति, विरोध और अनुकूलन का अविरल-चक्र. टार्ड ने और बाद में बाल्डविन ने भी अनुकरण की सत्ता को मनोवैज्ञानिक तरीके से बहुत महत्त्वपूर्ण बताया है। उसके अनुसार सामाजिक प्रक्रिया सदस्यों की मानसिक अन्तःक्रिया के समूह का नाम है। इस मानसिक अन्तःक्रिया के तीन रूप हैं: पुनरावृत्ति (Repetition), विरोध (Opposition) और अनुकूलन (Adaptation)। इन तीनों के सापेक्ष महत्त्व के विषय में टार्ड का यह मत है: "इन तीनों प्रक्रियाओं का एक ऐसा वृत्तीयक्रम है जो अविरल आगे-ही-आगे बढ़ते रहने की क्षमता रखता है। अनुकरणात्मक पुनरावृत्ति (Imitative repetition) के द्वारा ही एक आविष्कार, जो कि बुनियादी सामाजिक अनुकूलन (Adaptation) है, प्रसारित और दृढ़तर होता है। अपनी ही एक अनुकरण करने वाली किरण (Imitative Ray) के किसी दूसरे आविष्कार की अनुकरण करने वाली किरण के साथ मिलन के द्वारा ही वह आविष्कार या तो नए संघर्षों को जन्म देने की चेष्टा करता है और या किसी नए और अधिक जटिल आविष्कार को जन्म देता है जो स्वयं अपनी अनुकरण करने वाली किरणों का उसी तरह प्रसार करता है। और इस प्रकार यह चक्र अविरल गति से चलता और आगे बढ़ता रहता है।...यदि इन तीनों तत्त्वों की तुलना की जाय तो पहले और तीसरे तत्त्व (पुनरावृत्ति और अनुकूलन) दूसरे तत्त्व (विरोध) से अधिक ऊंचे, अधिक गहरे, अधिक महत्त्वपूर्ण और शायद अधिक स्थायी होते हैं। दूसरे तत्त्व (विरोध) का महत्त्व केवल इतना ही है कि वह विरोधी शक्तियों में ऐसे तनाव को उत्तेजित करता है जो आविष्कारक प्रतिभा का उदय करने के योग्य हो।"

प्रगति का आधार आविष्कार; अनुरूपता का आधार अनुकरण. उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि अनुकरण समाज का आवश्यक गुण है, जो एक आविष्कार को प्रसारित करता है। प्रगति का स्रोत आविष्कार है अर्थात् ऐसे विचारों और व्यवहारों को स्वीकार कर लेना जिनमें नवीन और विशेष गुण हों। अनुकरण समाज में समानता, अनुरूपता, सहयोग और सहकारिता को जन्म देता है। सामाजिक प्रक्रिया एकरूपता व समान गुणों को विकसित

करती है । इसके प्रभाव के कारण व्यक्तियों के मस्तिष्क पहले की अपेक्षा अधिक समान हो जाते हैं, उनमें एक ही प्रकार के विचारों का उदय होता जाता है ।

विरोधी समाज में आविष्कार का अनुकरण असम्भव. कुछ सामाजिक अवस्थाएं, जैसे अधिक जनसंख्या और समाज में एकतत्त्वीयता की उपस्थिति, आविष्कार के लिए अनुकूल होती हैं । अनुकरण भी सामाजिक अन्तःक्रिया के तीव्र वेग से प्रवल हो जाता है । दो प्रकार के सामाजिक तत्त्व जिन्हें टार्ड ने तर्कसंगत (Logical) और तर्कातीत (Extra-logical) कहा है, अनुकरण और आविष्कार को प्रभावित करते हैं । कोई भी नया आविष्कार जो तत्कालीन प्रचलित और मान्य धारणाओं के विरुद्ध हो, मान्य नहीं होता, और उसका अनुकरण नहीं किया जाता । यह तर्कसंगत तत्त्व के प्रभाव का उदाहरण है ।

तीन तर्कातीत तत्त्व. तर्कातीत तत्त्व तीन हैं, (१) सिद्धान्तों और मतों का प्रसार कर्मकाण्ड की तुलना में अधिक शीघ्रता से होता है । और कानूनी धारणाएं कानूनी पद्धतियों की अपेक्षा शीघ्र प्रचलित और प्रसारित होती हैं, (२) आविष्कारक की प्रतिष्ठा और सम्मान से अनुकरण की गति वढ़ जाती है, वड़े नगरों, सफल व्यक्तियों और उच्चवर्गों या संस्कृतियों द्वारा स्वीकृत या व्यवहृत आविष्कार का अनुकरण शेष व्यक्ति या समूह भी अतिशीघ्र करते हैं, (३) समाज की एक अवस्था में रिवाज और परम्परा का प्रभाव प्रवल होता है तो दूसरी में नवीनता का । यदि अवस्था पहली प्रकार की है तो आविष्कार वहुत शीघ्र परम्परा का अंग वन जाता है ।

टार्ड के इस मत का रॉस पर वहुत प्रभाव पड़ा । ला वौन, सिडिस और सीगेल ने 'सुझाव' पर वहुत वल दिया है, सिडिस ने तो इसे आदिम समाज की आत्मा की उपाधि दे दी है । परन्तु टार्ड और उसके अनुयायियों की इन वातों में आंशिक सत्य होने पर भी वह अपने पक्ष को पूर्णतः सुलझाकर पेश नहीं कर सके हैं । 'अनुकरण' शब्द को उन्होंने अनेक अर्थों में प्रयुक्त किया है । व्यक्तियों के अन्तः सम्वादवहन (Communication), सुझाव, सहानुभूति सभी को 'अनुकरण' कह दिया गया है ।

अनुकरण, सुझाव और सहानुभूति के सामाजिक कार्य

टार्ड के मत को तीन रूपों—अनुकरण, सुझाव और सहानुभूति—में

विभाजित करके अध्ययन करने से उसकी प्रामाणिकता की जांच की जा सकती है।

अनुकरण उत्क्षेपात्मक (Reflex) नहीं. अनुकरण को टार्ड ने अचेतन उत्क्षेपात्मक व्यवहार (Reflex Action) माना है। परन्तु हम सर्वदा दूसरे लोगों के व्यवहार को देखकर वैसा ही व्यवहार नहीं करते। किसी की क्रोधावस्था से हम में डर की अनुभूति होती है। बच्चे को हंसता देखकर उसे प्यार करने की, चूमने की, स्वयं मुस्कराने की और उसे चुप कराने की अलग-अलग भावनाएं हमारे मन में आ सकती हैं। अतः टार्ड द्वारा अनुकरण को उत्क्षेपात्मक व्यवहार समझना भ्रान्तिमूलक है, क्योंकि उत्क्षेप में तो एक खास अचेतन प्रतिक्रिया होती है। फिर भी दूसरों को चुप देखकर स्वयं चुप हो जाने और मुस्कराते देखकर मुस्कराने में उत्क्षेपात्मक क्रिया भी होती है।

वुडवर्थ ने इस ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि कई ऐसी क्रियाएं जिनको हम उत्क्षेप मानते हैं वास्तव में उत्क्षेप नहीं है। जब कोई दर्शक एक फुटबाल के खिलाड़ी को फुटबाल को पग प्रहार से दूर फेंकते देखकर स्वयं भी पांव चला देता है, तो वह उत्क्षेपात्मक अनुकरण है, परन्तु कितनी ही बार दर्शक खिलाड़ी के पग प्रहार करने से पहले ही अपना पांव चला देता है। इस प्रकार इसे अनुकरण कहना भ्रान्तिपूर्ण है।

अनुकरण की प्रवृत्ति दूसरों के समान होने और उनके मत को स्वीकार करने में भी दृष्टिगोचर होती है, पर इस अनुकरण में हम इच्छापूर्वक प्रयत्न करते हैं, और हमारा अनुभव इसमें हमारा पथप्रदर्शक होता है। हम जानबूझ कर, अपने अनुभव के प्रकाश में ही अनुकरण का निर्णय करते हैं। इस रूप में यह सहजप्रवृत्ति कैसे हो सकता है?

तीसरी प्रकार का अनुकरण विचारपूर्ण और तर्कपूर्ण अनुकरण होता है। टार्ड के अनेक उदाहरण इसी कोटि के अन्तर्गत आते हैं। परन्तु ऐसा अनुकरण जो हम जानबूझ कर, प्रमाण को युक्तियुक्त मानकर करते हैं, वह वास्तव में अनुकरण नहीं कहा जा सकता; नहीं वह उत्क्षेप होता है न सहजप्रवृत्तिमूलक। इसलिए अनुकरण किसी सहजप्रवृत्ति का नाम नहीं हो सकता।

सुझाव. आदर्शों और विचारों के अनुकरण का नाम सुझाव है। व्यक्ति बहुधा अपने तर्क की सहायता न लेकर सुझाई हुई चीजों को स्वीकार कर लेता है। किसी सहजप्रावृत्तिक या रागात्मक भावना को उत्तेजित करके और

विरोधी विचारों का निरोध करके ही सुझाव सफल होता है। डा० हार्ट के अनुसार यह जानना आवश्यक है कि सुझाए जाने वाले विचारों का संग्रह क्या है, वह किस भावना को उत्तेजित करता है और क्या व्यक्ति के मन में कोई विरोधी विचार या भावना पहले से ही तो विद्यमान नहीं है? यही तत्त्व सुझाव के प्रभाव को नियन्त्रित करते हैं।

सुझाव के प्रभाव का आधार है व्यक्ति की सहजप्रवृत्तियों और भावनाओं (Impulses) की व्यवस्था और उनकी अलग-अलग अवस्था। कोई व्यक्ति किसी एक प्रकार के सुझाव से अधिक प्रभावित हो जाता है, दूसरे प्रकार के सुझाव से नहीं। परन्तु वही सुझाव किसी दूसरे को अत्यन्त प्रभावित कर देता है। इसमें दोनों व्यक्तियों की मानसिक और मनोवैज्ञानिक अवस्थाओं परस्पर अन्तर ही यह अन्तर उपस्थित करता है। इस अन्तर के अध्ययन के का लिए व्यक्तियों की इन अवस्थाओं और उनके विचारों, आदर्शों, और भावनाओं की व्यवस्था जैसे जटिल तत्त्वों का अध्ययन करना पड़ेगा।

सहानुभूति. सहानुभूति वह संवेदन है जो संक्रामक रोग की भांति विभिन्न व्यक्तियों में फैल जाता है। मैक्डूगल के अनुसार एक ही संवेदन का प्रसार पक्षी-समाज को एक सूत्र में बांधे और दृढ़ बनाए रखता है। मैक्डूगल की धारणा, जिसे भावनाओं का सहानुभूतिपूर्ण आगमन (Induction) कहा जाता है यह है कि एक व्यक्ति द्वारा एक विशेष भावना की अभिव्यक्ति दूसरे व्यक्ति में भी उसी भावना का उदय करती है। यह तो पहले कहा जा चुका है कि यह धारणा बिल्कुल गलत है। किसी को डरते देख कर कभी दया आती है, या फिर कभी हँसी आ जाती है। जब कभी एक सम भावना का प्रसार होता भी है, तो उस का कारण उस आदर्श या हित की समानता होता है जिसके कारण उस भावना का उदय हुआ है। जब हम किसी ओजस्वी भाषणकर्ता के देश-भक्ति से ओत-प्रोत भावुक भाषण को सुन देश-भक्ति की भावना में बहने लगते हैं तो इसका कारण भाषणकर्ता से सहानुभूति नहीं, देश से सहानुभूति या भक्ति होता है।

इस सारे तर्क-वितर्क से इस परिणाम पर पहुंचना कठिन नहीं, कि समाज में शुद्ध अनुकरण का महत्त्व बहुत संदेहात्मक है। बल्कि सुझाव और सहानुभूति भी सामाजिक जीवन में अद्वितीय तत्त्व नहीं हैं। वह भी दूसरी

भावनाओं और प्रवृत्तियों पर आधारित हैं और इनमें से कोई भी सहज-प्रवृत्ति नहीं है।

सामाजिकता कोई सहजप्रवृत्ति नहीं

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि समाज में सामाजिक सहजप्रवृत्ति नाम की कोई वस्तु नहीं है। हम जिन कारणों से समाज के अंग बनते हैं, उनका ज़िक्र किया जा चुका है, फिर भी यह दोहरा देना पर्याप्त होगा कि समाज में ही मानव अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है; मानव शिशु की असहायता और पराश्रितता उसे समाज का अंग बना देते हैं। औरचूंकि शैशव-काल से ही हमें सामाजिक व्यवहार से सुख मिलता है, त्राण मिलता है इस लिए हम मां के साथ अपने सम्बन्ध में, और पारिवारिक जीवन में ही सामाजिकता का पाठ पढ़ते हैं। अनुकरण सुझाव और सहानुभूति, इन तीनों ही को हम अपने अनुभव या दूसरों की क्रियाओं के आभास द्वारा सीखते हैं; और इस प्रकार यह कोई निश्चित सहजप्रवृत्तियां नहीं हैं।

(ग) सामाजिक प्रक्रियाएं

सामाजिक प्रक्रिया का अध्ययन समूहों के अन्तःसम्बन्ध और आन्तरिक अवस्था के ज्ञान के लिए आवश्यक

समूहों में अलग-अलग व्यक्ति कैसे एक दूसरे के प्रति अन्तःक्रिया में भाग लेते हैं; कैसे एक ही समूह में छोटी-छोटी इकाइयां, श्रेणियां और जातियां परस्पर अन्तः सम्बन्ध स्थापित करती हैं और दो समूह किस प्रकार के व्यवहारों द्वारा एक-दूसरे से सम्बद्ध होते हैं, यह गम्भीर अध्ययन का विषय है। दो समूह परस्पर सहयोग की भावना से भी सम्बद्ध हो सकते हैं और संघर्ष की भावना से भी। एक समूह के अंतर्गत दो विभिन्न श्रेणियां कभी धीरे-धीरे एक दूसरे में मिल भी सकती हैं और पूर्णतः पृथक् भी रह सकती हैं; दो व्यक्ति परस्पर इसप्रकार समीकृत (adjusted) भी हो सकते हैं कि एक दूसरे के गुणों और अवगुणों को स्वीकार करके साथ-साथ रहने लगें, और यह भी हो सकता है कि वे एक दूसरे के विरोधी गुणों को महत्ता देकर एक दूसरे का विरोध करें। इनमें से कौन सी प्रक्रिया किस समूह या किन समूहों में सामाजिक व्यवहार का निर्धारण करती है, इस तत्त्व का अध्ययन न केवल समूहों की अन्तःक्रियाओं को पूर्णतः समझने के लिए आवश्यक है, बल्कि इस-लिए भी कि समूहों के आन्तरिक रूपों और स्वभावों या रीतियों पर भी इस

तत्त्व का प्रभाव पड़ता है। यदि दो समूह परस्पर सात्मीकरण (assimilation) की प्रक्रिया द्वारा एक दूसरे को प्रभावित कर रहे हैं, तो उनमें धीरे-धीरे भिन्नता न्यून होती जायगी, और किसी भी समय दोनों में से प्रत्येक का आन्तरिक रूप थोड़ी देर पहले या बाद के रूप से भिन्न होगा। परन्तु यदि दो समूह विरोधी या स्पर्द्धात्मक प्रक्रियाओं से एक दूसरे से सम्बंधित होते हैं, तो वह साथ-साथ रहने पर भी एक दूसरे के समीप न आ सकेंगे, न ही एक दूसरे से कुछ सीख सकेंगे। उनकी पृथक्ता की इस भावना से उनका विकास मद्धम पड़ जायेगा। सेमुएल बटलर ने एक स्थान पर आलङ्कारिक भाषा में कहा है कि दूसरे व्यक्तियों के प्रति हमारे सम्बन्ध या तो डोरी की तरह होते हैं या चाकू की तरह; जिसका अभिप्राय यही है कि एकीकरण और विभाजन की दोनों शक्तियां समाज में अपना-अपना प्रभाव डालती रहती हैं। यह गतिशील शक्तियां, जिन्हें हम व्यक्ति पर समाज के प्रभाव के रूप में, व्यक्तियों के सामाजिक व्यवहार में और समूहों के परस्पर व्यवहार में देखते हैं सामाजिक प्रक्रियायें कहलाती हैं। इन्हीं को ओग्वर्न और निकौफ़ ने मानव अंतःकिया के गतिशील प्रतिमान कहा है। यह प्रकियायें व्यक्तित्व के निर्धारण और निरूपण में और समूह की व्यवस्था में एक महत्त्वपूर्ण भाग अदा करती हैं। यह सामाजिक प्रकियाएं समाज में व्यक्तित्वों के विकास और प्रौढ़ता के लिए कार्य करती हैं।

अनेक प्रक्रियाओं की समकालीनता. एक समाज में एक ही समय एक से अधिक प्रक्रियाओं का आवास हो सकता है। भारत में स्वातंत्र्य आंदोलन के समय जहां एक ओर साम्राज्य के विरुद्ध विरोध की भावना प्रबल हो रही थी वहां दूसरी ओर भारत के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में सहयोग और एकीकरण की प्रक्रियाओं द्वारा राष्ट्रीयता का उदय हो रहा था। अपने दैनिक जीवन में भी हम देखते हैं कि कुछ व्यक्तियों के प्रति हम विरोधी या उपेक्षापूर्ण व्यवहार करते और कुछ के प्रति सहयोगी व्यवहार करते हैं। आज अफ्रीका में प्रवासी भारतीयों और गोरे लोगों में जो स्पर्द्धा और विरोध की भावना विद्यमान है उसके साथ-साथ ही अफ्रीकनों और भारतीयों में वर्णभेद की नीति के विरुद्ध घृणा और हितों की एकता के कारण सहयोग की भावना बढ़ रही है। भारत के विभाजन के पश्चात् सम्प्रदायों में तो अनुकूलता (accommodation) की प्रक्रिया द्वारा मैत्री बढ़ने लगी है, परन्तु पृथक् भाषा-भाषियों में स्पर्द्धा का उदय हो रहा है और एक भाषाभाषी

समुदाय समीपतर होते जा रहे हैं। इस प्रकार एक नहीं, अनेक सामाजिक प्रक्रियाएं मिलकर हमारे व्यक्तित्वों और सामूहिक रीतियों पर प्रभाव डालती हैं।

छः मुख्य सामाजिक प्रक्रियायें. विभिन्न सामाजिक प्रक्रियाओं में से यह छः सामाजिक प्रक्रियायें मुख्य हैं : (१) सहयोग, (२) स्पर्द्धा, (३) विरोध, (४) अनुकूलन (Accommodation), (५) समीकरण (Adjustment), (६) सात्मीकरण (Assimilation)। इन सबका अध्ययन आवश्यक है। इनके अतिरिक्त सुझाव (Suggestion), और अनुकरण आदि अन्य भी कुछ प्रक्रियायें हैं जिनके बारे में यथास्थान संकेत किया गया है।

सहयोग (Co-operation). मानव समाज सहयोग के बिना सुचारु रूप से अपना अस्तित्व कायम नहीं रख सकता। हम सब समान उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रयास और चेष्टा करते हैं। एक समान उद्देश्य के लिए मिल कर प्रयत्न करना सहयोग है। शत्रु से अपनी रक्षा, समान लाभों की इच्छा या परोपकार की भावना से समूह और व्यक्ति दूसरे समूहों या व्यक्तियों से सहयोग करते हैं। सहयोग से व्यक्तियों में एक सरगर्मी, जोश और अधिक काम करने की प्रवृत्ति उदित हो जाती है, और काम करने का वेग और कार्यक्षमता भी बढ़ जाती है।

सामाजिक परिवर्तन में सहयोग की गति बहुत कुछ अदृश्य होती है। जिन्सबर्ग के शब्दों में "विभिन्न राजनैतिक समूहों में, राजनैतिक और आर्थिक अन्तःनिर्भरता के विकास में, और सम्भवतः सांस्कृतिक भिन्नताओं के बावजूद विज्ञान, कला, धर्मों और संस्कृतियों के आधारभूत सात्मीकरण (assimilation) और उद्देश्य की एकता में भी, सहयोग की भावना की ही अभिव्यक्ति होती है।"

सहयोग की भावना का सहजप्रवृत्ति और आत्मरक्षा के स्तर से धीरे-धीरे अत्यधिक परिष्कृत, स्वतंत्र और स्नेहिल सहयोग की वृत्ति में विकास हुआ है। क्रोपोटकिन ने अपनी पुस्तक 'Mutual Aid' में सहयोग के कारण प्राणियों की अलग-अलग जातियों के अस्तित्व और जीवनरक्षा के कितने ही प्रमाण दिए हैं। परस्पर सहायता का प्रचलन प्राणियों की निम्नतम स्तर की जातियों, चींटी आदि में भी होता है, और ऊंची विकसित जातियों में भी।

सन्तान के पोषण और खाद्य सामग्री के संग्रह में परस्पर सहायता से सहयोग का उदय होता है। क्रोपोटकिन ने मनुष्यों में सहयोग और सहायता के विस्तृत होते हुए क्षेत्र का वर्णन करते हुए इस ओर संकेत किया है कि सहयोग के कारण ही हमारे समाज में मानसिक और शारीरिक दृष्टियों से दुर्बल व्यक्तियों को भी स्थान मिला हुआ है।

प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष सहयोग. सहयोग प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार का हो सकता है। जब हम समानहित के लिए एक साथ मिलकर सामूहिक रूप में वह कार्य करते हैं जो कि हम अकेले भी कर सकते हैं तो यह प्रत्यक्ष सहयोग है। परन्तु जब हम भिन्न-भिन्न कार्यों को करते हुए एक ही ध्येय की ओर बढ़ते हैं, जैसा कि श्रम-विभाजन में होता है तो यह अप्रत्यक्ष सहयोग है। जब कभी भी लोग अपनी भिन्नताओं से लाभ उठाकर एक हित की पूर्ति करना चाहते हैं तो यह श्रमविभाजन विकसित हो जाता है। हमारी यांत्रिक प्रगति के साथ-साथ प्रत्यक्षसहयोग अप्रत्यक्षसहयोग को स्थान देता गया है; तभी श्रमविभाजन और विशेषीकरण के कारण हम प्रगति कर सके हैं। इसके साथ-ही-साथ प्रत्यक्ष सहयोग में जो घनिष्ठता, स्नेह और व्यक्तिगत सम्पर्क के तत्त्व विद्यमान थे उनका स्थान पृथक्ता, विशिष्टता, दूरी और निःस्नेह वातावरण ने ले लिया है, और आज व्यक्तित्वों के विघटन का मुख्य कारण प्राथमिक समूह, परिवार, पाठशाला और बचपन के प्रत्यक्ष घनिष्ठ सहयोग के वातावरण और वयस्क जीवन के श्रमविभाजित, अव्यक्तिगत सहयोग के वातावरण का परस्पर अन्तर ही है।

सोरोकिन ने सहयोगात्मक क्रियाओं के तीन भेद किए हैं; (१) सीमांत सहयोग, जो अंशतः स्पर्द्धात्मक और अंशतः सहयोगात्मक होता है; (२) माध्यमिक सहयोग, जो अधिकतर सहयोगी समूहों में होता है; इसमें समूह के सदस्य परस्पर सहयोग करते हुए भी सहयोग का पूरा-पूरा अर्थ नहीं समझते। (३) पूर्ण सहयोग, जिसमें समष्टिहित की भावना प्रबलतम होती है।

समष्टिहित और वैयक्तिक हित. सहयोगियों के दृष्टिकोण भी दो प्रकार के हो सकते हैं। यदि भिन्न-भिन्न व्यक्ति एक ही समान हित के लिए सहयोग करते हैं, तो उनमें से प्रत्येक सामूहिक लाभ की चिन्ता करता है, अपने स्वार्थ की नहीं। ऐसे समूहों में व्यक्तिगत बलिदान की भावना प्रबल होती है; निराशा या पराजय ऐसे समूहों को विशृङ्खल नहीं करती, विपत्ति उनको छिन्न-भिन्न नहीं कर देती। परन्तु यदि भिन्न-भिन्न व्यक्ति अपने अलग-अलग

पर एक-जैसे लाभों के लिए सहयोग करते हैं, तो वह सामूहिक लाभ की उतनी चिन्ता नहीं करेंगे, वह तो केवल समान हितों की अभिन्नता के कारण परस्पर थोड़ा-थोड़ा समीकरण ही करेंगे, अपने-अपने हितों की दृष्टि से कुछ मैत्री-स्थापन (Reconciliation) ही करेंगे। विपत्ति उनके सहयोग को समाप्त कर देगी। इसी कारण हमारा आधुनिक समाज जिसमें व्यक्तिगत हितों की पूर्ति के प्रयास में श्रमविभाजन के प्रकार का सहयोग है, अस्थिरता और अशान्ति के भय से भयभीत है।

सहयोग सामूहिक जीवन का प्राण है; प्रेरणा का केन्द्र है; सामाजिकता की आत्मा है; परन्तु अत्यधिक सहयोग ऐसी व्यवस्था को भी जन्म दे सकता है जिसमें काम की गति ही रुक जाए; जिसमें व्यक्ति अपना-अपना अलग-अलग व्यक्तित्व ही खो दें, जिसमें चेष्टा आरम्भ करने की शक्ति का, रचनात्मक प्रयास का, व्यक्तिगत विचारों का और नए-नए अनुभवों और प्रयत्नों का पूर्ण ह्रास होने लग जाए, ऐसी अवस्था में तो सहयोग समाज की प्रगति को ही समाप्त कर देगा।

स्पर्धा और विरोध (Competition and Conflict). विरोध वह प्रक्रिया है जिसे बटलर ने सामाजिक जीवन में चाकू का नाम दिया है। हमारे समाज में यह प्रक्रिया युद्ध, संघर्ष, हड़ताल, क्रान्ति, मारपीट और हत्या आदि के रूप में प्रकट होती है। डार्विन, गम्पलोविक्ज और गिडिंग्स आदि कुछ विद्वानों ने इसे सर्वाधिक महत्वपूर्ण और सनातन माना है। फ्रायड ने भी इसे मनुष्य के स्वभाव का नैसर्गिक, प्रभावी और अनिवार्य अंग माना है। परन्तु जो प्रवृत्तियां हमारे जीवन का अंग हैं, वही मानवता के इतिहास के प्रत्येक काल में सामाजिक जीवन का आवश्यक अंग रही हों यह जरूरी नहीं है। सामाजिक विरोध के अन्तर्गत वह सम्पूर्ण व्यवहार आ जाता है जिसमें अलग-अलग व्यक्ति या समूह एक ही उद्देश्य या लक्ष्य के लिए एक-दूसरे के विरुद्ध चेष्टा करते हों। यह सामाजिक शक्तियों के संघर्ष का नाम है, चाहे वह संघर्ष आर्थिक क्षेत्र में हो, या राजनैतिक क्षेत्र में।

प्रत्यक्ष विरोध. प्रत्यक्ष विरोध वह होता है जिसमें दो या अधिक व्यक्ति या समूह एक दूसरे व्यक्ति या समूह को दबा कर, पीड़ित कर या निराश करके अपने लक्ष्य की प्राप्ति की चेष्टा करते हैं। मुकदमेबाजी, झूठा प्रचार और बड़े रूप में व्यापारिक स्पर्द्धा ये सभी प्रत्यक्ष विरोध के उदाहरण हैं।

परन्तु यह विरोध धीमा और संयत होता है, जब कि श्रेणीसंघर्ष और अन्त-र्राष्ट्रीय युद्ध तीव्र व उग्र प्रत्यक्ष विरोध हैं।

अप्रत्यक्ष विरोध. जब दो या अधिक व्यक्ति एक ही लक्ष्य के लिए इस प्रकार प्रयास करते हैं कि उनमें प्रत्यक्ष संघर्ष तो नहीं होता, परन्तु एक की सफलता दूसरे की असफलता या निराशा का कारण बन जाती है तो यह अप्रत्यक्ष विरोध कहलाता है।

विरोध केवल विनाशक नहीं है. यदि समाज में विरोध की अपेक्षा सहयोग अधिक प्रचलित न हो, तो समाज की स्थिरता, शान्ति, व्यवस्था और संगठन खतरे में पड़ जायं। परन्तु यह कहना भी गलत होगा कि विरोध समाज के लिए एकदम अहितकर है। विरोध प्रगति को जन्म देता है, नवीनता का उदय करता है और अशुभ, असत्य का विनाश करके समाज की रक्षा करता है।

स्पर्द्धा. जब विरोध व्यक्तिगत नहीं होता और उसमें दूसरे के विनाश की भावना का अभाव होता है, तो वह स्पर्द्धा का रूप ले लेता है। लघुमात्रा में प्राप्य पदार्थों के लिए हमारी वह चेष्टा जिससे हम दूसरों की चेष्टाओं में बाधा नहीं डालते, बल्कि केवल अप्रत्यक्ष (Indirect) रूप में अपनी सफलता द्वारा दूसरों की सफलता को रोकते हैं, स्पर्द्धा है। स्पर्द्धा और विरोध में यह अन्तर है कि स्पर्द्धा में विरोध की अपेक्षा ध्यान और चेष्टा कम होती है। व्यापारियों में स्पर्द्धात्मक प्रकार का सम्बन्ध होता है, लेखकों, फिल्मों और रिवाजों में भी यही प्रक्रिया कार्य करती है। किसी भी समाज में अलग-अलग विचारधाराएं, और भिन्न-भिन्न विश्वासप्रणालियां जब तक बिल्कुल सीधे-विरोध में नहीं आ जातीं, तबतक स्पर्द्धात्मक ढंग से सर्वमान्यता प्राप्त करने के लिए चेष्टा करती रहती हैं।

सहयोग और विरोध. मानवता के इतिहास के आरम्भ में जब मनुष्य के खाद्य-सामग्री-संग्रह के साधन बहुत सरल और आदिम थे, जनसंख्या की वृद्धि ने अपर्याप्त भोजन सामग्री के कारण विरोध को जन्म दिया। इसके साथ ही खाद्य सामग्री के संग्रह में व्यक्ति अपने-अपने समूह से सहयोग भी करते थे। न केवल मनुष्यों में, बल्कि दूसरे प्राणियों में भी यह दोनों प्रक्रियायें विद्यमान हैं जैसाकि डार्विन और क्रोपोटकिन ने सिद्ध किया है। जिस प्रकार घृणा और स्नेह यह दोनों परस्पर विरोधी भावनाएं मनुष्यों के हृदयों में एक साथ वास करती

है, इसी प्रकार सहयोग और विरोध भी साथ-साथ रहते हैं। विरोध के लिए दो विरोधियों का एक दूसरे को विरोधी रूप में स्वीकार करना जरूरी है, अन्यथा उपेक्षा या क्षमाशीलता द्वारा संघर्ष बचाया भी जा सकता है। दूसरे समूह से विरोध एक समूह की आन्तरिक एकता और सदस्यों के परस्पर सहयोग को दृढ़ करता है। हाल ही में पाकिस्तान के आक्रमण के डर के कारण भारत के रेल कर्मचारियों ने अपना हड़ताल का नोटिस वापिस लेकर राष्ट्रीय एकता और सहयोग का परिचय दिया था। इसी प्रकार दूसरे समूहों के विरुद्ध लड़ाई के लिए अपने समूह से सहयोग अनिवार्य है। दोनों प्रक्रियाएं साथ-साथ चलती हैं, और यह प्रश्न बेकार है कि इनमें से कौन सी प्रक्रिया अधिक पुरानी या अधिक शक्तिशाली है।

अलग-अलग संस्कृतियों में जिस प्रक्रिया की प्रबलता होती है, साधारणतः वही प्रक्रिया व्यक्तियों के जीवन की और व्यक्तित्व की अभिन्न अंग बन जाती है। डकोटा इण्डियन लोगों में धनवान् होकर मरना घृणित समझा जाता है, अतः प्रत्येक व्यक्ति अपने धन को बांटने में दूसरों से स्पर्द्धा करता है, परन्तु हमारे समाज में सभी व्यक्ति धनसंचय के लिए तीव्र स्पर्द्धा में लगे रहते हैं।

यान्त्रिक निश्चयवाद की धारणा भ्रान्तिपूर्ण. हम देखते हैं कि कई संस्कृतियाँ सहयोगात्मक हैं, जैसे जूनी और होपी संस्कृतियाँ और कई स्पर्द्धात्मक जैसे क्वाकितुल और हमारी आधुनिक संस्कृति। किसी समाज में कोई विशेष प्रक्रियाएं क्यों अधिक शक्तिशाली हैं, इसका कारण उस समाज की औद्योगिक या यान्त्रिक प्रणाली में निहित नहीं होता। एक ही यान्त्रिक प्रणाली वाले दो समाज स्पर्द्धात्मक और सहयोगी दोनों प्रकार के हो सकते हैं। इसका कारण तो उन समाजों के अपने-अपने आदर्शो, मूल्यों और विचारधाराओं में निहित होता है।

अहंभाव की तृप्ति स्पर्द्धा और सहयोग दोनों में सम्भव. स्पर्द्धा द्वारा हमारी शक्ति प्राप्त करने की आकांक्षा, महत्त्व प्राप्त करने की इच्छा और सम्मान की भूख की तृप्ति होती है। हम अपनी सुरक्षा के लिए और वर्तमान और भविष्य में भूख से बचाव के लिये और धनसंचय या प्रतिष्ठा प्राप्ति के लिए दूसरे लोगों से मुकाबिला करते हैं या उनका विरोध करते हैं। स्पर्द्धा में हम अपनी सामर्थ्य की अभिव्यक्ति करते हैं, नए अनुभवों के लिए लालायित होते है, अपनी महत्ता का आभास या प्रमाण पाते हैं, और अपने अहम् को तृप्त करते हैं। परन्तु यह न समझना चाहिये कि सहयोग में अहम् की तृप्ति या व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं होती। जूनी समाज में सब से अधिक सहयोग-

भावना वाले व्यक्ति को ही सम्मान मिलेगा। अपने दैनिक जीवन में भी क्या हम अपने आदर्श की विजय से, अपनी टोली की सफलता से, चुनाव में अपने उम्मीदवार की कामयाबी से प्रसन्न नहीं हो जाते और उसमें अपनी विजय का आभास नहीं पाते ? वर्तमान और भविष्य में सहयोगात्मक समाज में ही व्यक्ति की सुरक्षा पूरे तौर से संमानित होगी और व्यक्तिगत विपत्ति का भय न रहेगा।

यह कहना कि सहयोग या विरोध या स्पर्द्धा हमारे स्वभावों के नैसर्गिक अंग हैं, बहुत भ्रान्तिपूर्ण है। यह तो समाज द्वारा व्यक्तियों में भर दिए जाते हैं, और यह न केवल व्यक्तियों को बल्कि समाज की व्यवस्था को भी अत्यधिक प्रभावित करते हैं। किसी समाज में इनका क्या रूप होगा, इस का बहुत कुछ निर्धारण उस समाज की व्यवस्था करेगी और इसलिए इन प्रक्रियाओं का अध्ययन अलग-अलग समाजों की पृष्ठभूमि में ही करना होगा।

अनुकूलन और समीकरण (Accomodation and Adjustment). दो व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह जब परस्पर विरोध और संघर्ष में रत होते हैं तो अन्त में उस संघर्ष की निष्फलता या एक दूसरे को पराजित कर सकने की असफलता को स्वीकार करके विरोध या संघर्ष का अंत कर देते हैं, और लड़ाई-झगड़ा छोड़कर साथ-साथ रहने लग जाना आरम्भ कर देते हैं। बल्कि देखा यह गया है कि जो बच्चे शीघ्र झगड़ पड़ते हैं, वह मित्रता की स्थापना भी शीघ्र ही कर लेते हैं।

जिस प्रक्रिया द्वारा दो परस्परविरोधी समूह समीकृत हो कर रहने लगें और शत्रु-भाव या द्वेष के होते हुए भी साथ-साथ काम करने लग जाएं, उस प्रक्रिया को समाजशास्त्रियों ने अनुकूलन का नाम दिया है। साथ-साथ रहने या काम करने का यह अर्थ नहीं होता कि द्वेषभावना का अंत हो गया है, और इसीलिए सुमनर ने अनुकूलन को विरोधात्मक सहयोग का नाम दिया है। किन्तु अनुकूलन की मात्रा द्वेष की अवस्था में कम होती है, और उसकी अनुपस्थिति में अधिक।

हम अपने शैशव से ही अनुकूलन का पाठ पढ़ते आए हैं। बच्चा अपनी आशा के पूरा न होने पर विरोधी भावना प्रदर्शित करता है, परन्तु शीघ्र ही अपने विरोध की निष्फलता का ज्ञान प्राप्त कर के अग्रजों के व्यवहार के अनुसार

समीकृत होता जाता है, और अपने व्यवहार को उनके अनुकूल बनाने लगता है।

संधिस्थापन. विरोध की समाप्ति पर दो समूह या व्यक्ति क्या संबंध स्थापित करेंगे अर्थात् उनमें अनुकूलन का क्या रूप होगा, इसका निर्धारण दोनों के पूर्व अनुभव द्वारा होता है। यदि विरोध एक समूह की पूर्ण पराजय पर समाप्त होता है तो पराजित को विजयी की इच्छा के आगे नतमस्तक होना पड़ता है और पराजय स्वीकार करके एक हीन दशा को स्वीकार करना पड़ता है। इस प्रकार अनुकूलन समाज में दो व्यक्तियों या समूहों के पारस्परिक संबंध और स्थान का निर्देश कर देता है। पर यह ऐसे दो समूहों में होता है जो असम शक्ति वाले होते हैं। परन्तु यदि दोनों समूह लगभग एक सी ही शक्ति रखते हों, तो उन में शासक-शासित, प्रबल-दुर्बल और उच्च-हीन सम्बंध की जगह समभाव स्थापित हो जायेगा, दोनों ही थोड़ा-थोड़ा झुकेंगे जिससे कि समझौता हो सके, और परस्पर नम्रता से ही उनमें संधि स्थापित हो जायेगी। फिर भी यह ध्यान रखना आवश्यक है कि बुनियादी सिद्धान्तों पर कोई सन्धि नहीं हो पाती। सन्धि विरोध के कारण से भी प्रभावित होती है और संस्कृति का भी इस पर प्रभाव पड़ता है। हमारे राष्ट्रीय आंदोलन में अहिंसा और स्नेह को प्रमुख स्थान दिया गया, इसीलिए हमारे नेता जनता से भारत की ब्रिटिश राष्ट्रसंघ सदस्यता को मनवा सके। फ्रांस और जर्मनी में परस्पर अविश्वास की जो भावना विद्यमान है, वह उनकी संस्कृतियों का अंग बन गई है, और इसीलिए उनकी सन्धि बहुत कठिन बन गई है।

सहनशीलता. जिन समूहों में सन्धिस्थापन नहीं हो सकता और जिनके आधारभूत सिद्धान्त या आदर्श, व्यवस्थाएं या धर्म परस्पर वैषम्यों का समीकरण नहीं कर सकते, उन समूहों में परस्पर सहनशीलता का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। भारत में सूफीमत, कबीर, नानक और अमीर खुसरो की शिक्षाएं हिंदू और मुस्लिम धर्मों में ऐसी ही सहनशीलता के प्रस्थापन के लिए प्रयत्नशील थीं।

मत-परिवर्तन. सहनशीलता में असह्य पर अनिवार्य को सह लेने की भावना होती है, पर मैत्री नहीं होती। परन्तु कई बार किन्हीं नए कारणों या नई घटनाओं के कारण परस्पर घृणा स्नेह में परिवर्तित हो जाती है और हृदय-परिवर्तन विश्वास का विकास करता है। अलग-अलग विचार रहते हुए भी सहयोग होने लगता है; परन्तु पृथक्ता बनी ही रहती है। लेकिन एक विरोधी अपनी भूल मान ले, या दूसरे के दृष्टिकोण को स्वीकार कर ले तो मतपरिवर्तन हो जाता

है और दोनों विरोधी व्यक्ति या समूह एक ही आदर्श की प्राप्ति में संलग्न हो जाते हैं।

अनुकूलन के इन रूपों में से कौनसा रूप अपनाया जायगा इसका निर्णय न केवल व्यक्तियों और समूहों की सापेक्ष शक्ति करती हैं, वल्कि विरोध के अंत का समय भी। परन्तु सवसे अधिक प्रभाव संस्कृति का होता है। शान्तिप्रिय संस्कृतियों में विरोधी पंचायती निर्णय मान लेते हैं, परन्तु कई संस्कृतियों में व्यक्तिगत प्रतिशोध की ज्वाला विरोधियों के अन्तर को झुलसती रहती है। इसी प्रकार यदि कोई क्रो इंडियन दूसरे कवीले के डकोटा का हनन कर दे तो यह आनंद का विषय होता है, पर अपने ही कवीले के व्यक्ति को मारना दण्ड्य है। परन्तु कुछ कवीलों में विल्कुल उलटा रिवाज है और परस्परसहयोगी जूनी पड़ौसी नोवाहो लोगों की हानि करना गर्व की वात समझते हैं। हमारे समाज में व्यक्तिगत विरोध को वुरा माना जाता है और इसके निपटारे के लिए पंचायतें, अदालतें, विधान इत्यादि वने हुए हैं। इस रूप में यह स्पष्ट है कि विरोध कैसे समाप्त हो और अनुकूलन का क्या रूप हो, इसका वहुत कुछ निर्धारण समूह की संस्कृति पर निर्भर है।

सात्मीकरण (Assimilation)

मतपरिवर्तन के प्रकार की अनुकूलता सात्मीकरण का उदाहरण है। पार्क और वर्गेस के शब्दों में यह "अंतःप्रवेश और विलयन की वह प्रकिया है जिसमें व्यक्ति और समूह दूसरे व्यक्तियों और समूहों की स्मृतियों, भावनाओं और मान्यताओं (Attitudes) को सीखते हैं और उनके अनुभव और इतिहास में साझीदार होकर उनके साथ एक ही सांस्कृतिक जीवन के अंग वन जाते हैं।" दूसरे देशों में वस जाने वाले प्रवासी धीरे-धीरे नई संस्कृतियों और आदर्शों को अपने जीवन में समन्वित करने की चेष्टा करते हैं और समय पाकर उन्हीं देशों के जीवन के अंग वन जाते हैं। गोद लिए हुए वच्चे धीरे-धीरे नए परिवार के मूल्यों और विश्वासों को सीखकर उन्हीं में एकीभूत हो जाते हैं।

इसका यह अर्थ नहीं है कि सात्मीकरण एकतरफा प्रकिया है। जव एक अल्पसंख्यक समूह किसी वड़े राष्ट्रीय समूह का अंग वनता है, तो न केवल वह उस राष्ट्र की परिपाटियां और धारणाएं स्वयं स्वीकार करता है, वल्कि राष्ट्रीय जीवन को भी अपने विचारों और रिवाजों द्वारा प्रभावित करता है। भारतीय संस्कृति किस प्रकार एक संयुक्त, सम्पन्न और गतिशील संस्कृति के

रूप में विकसित हुई है और किस प्रकार अलग-अलग आगन्तुक समूहों ने हमारे समाज में सात्मीकृत होकर अपना प्रभाव इस समाज और जीवन पर छोड़ा है, इस तथ्य का अध्ययन सात्मीकरण की प्रकिया के दोतरफा होने का अच्छा उदाहरण है।

सात्मीकरण पर संख्या का भी वहुत प्रभाव पड़ता है। संख्या में वहुत थोड़े लोग किसी बृहत् समाज में धीरे-धीरे पूर्णतः घुलमिल जाते हैं और उनकी अपनी अलग सामूहिक पृथक्ता नहीं रह पाती। परन्तु यदि उनकी संख्या अधिक हो या वरावर वढ़ रही हो तो न केवल उनकी अपनी एकता और स्वाभिमान ही सात्मीकरण की इस प्रक्रिया की गति को वहुत धीमा कर देंगे, वल्कि बृहत् समाज भी उनके प्रति अविश्वास और अनुदारता की भावना से भर जायेगा और इस प्रकार सात्मीकरण के स्थान पर फिर विरोध विकसित हो जाएगा।

सात्मीकरण के लिए आवश्यक है कि दो समूहों में एक दूसरे के प्रति वैर भावना न हो और वे ऐसी भावनाओं द्वारा आन्दोलित हों जो उन्हें समीपतर लाती रहें। जब तक कोई समूह अहंकारपूर्ण विचारधारा रखता है तब तक परस्पर समीकरण,होने पर भी पृथक्ता बनी ही रहती है। नस्ली अहंकार भी सात्मीकरण के मार्ग में वाधक होता है। दो समूहों में यदि केवल संस्कृतियों का अन्तर होता है तो दूसरी तीसरी पीढ़ी में नए समूह के लिए पूर्ण सामाजिक स्वीकृति प्राप्त कर लेना सम्भव हो जाता है। परन्तु नस्ल, धर्म और आदर्शों की तीव्र विषमताएं सामाजिक स्वीकृति की प्राप्ति को कठिन बना देती हैं। इस अवस्था में तो शासक-शासित, श्रेष्ठ-निकृष्ट या उच्च-निम्न का अनुकूलन ही सम्भव होता है।

(घ) भीड़ व्यवहार

भीड़ (Crowd) और सक्रिय उत्तेजित भीड़ (Mob)

अनिर्धारित-नेतृत्व और सदस्यता के समूह

सदस्यता और नेतृत्व का निर्धारण एक समूह के प्रकार और उसके व्यवहार की विशेपताओं पर अच्छा प्रकाश डालता है। जिन समूहों का नेतृत्व या सदस्यता या दोनों का निर्धारण परिपाटी द्वारा होता है, उनमें हम उन सभाओं व गोष्ठियों आदि को गिन सकते हैं जिनमें श्रोताओं व दर्शकों का प्रवेश निमन्त्रण पत्र या टिकट आदि द्वारा होता है। पर हमारे समाज में ऐसी परिस्थितियां और अवसर भी कम नहीं होते, जिनमें एक समूह न तो जानबूझ-कर या सोचसमझकर नेतृत्व का निर्णय करता है, न प्रणाली द्वारा; और जहां

सदस्यों के विषय में भी कोई विशिष्टता की आवश्यकता नहीं होती। ऐसे समूहों में भीड़ और उत्तेजित भीड़ महत्त्वपूर्ण हैं।

शहर के बीच में घूमते हुए राहगीर जब दो बाइसिकलसवारों की टक्कर से पैदा हुई लड़ाई से आकृष्ट होकर इकट्ठे हो जाते हैं, तो न तो उनके आकर्षण का केन्द्र पूर्वनिर्धारित होता है न ही उनके मन में इस बात का कुछ विचार होता है कि वहां कौन-कौन और कैसे-कैसे व्यक्ति आकर यह तमाशा देखेंगे। इन अर्थों में एक भीड़ कुछ ऐसे व्यक्तियों का आकस्मिक समूह है जो किसी ध्यान को आकृष्ट करने वाले सामान्यकेन्द्र के आस-पास एकत्रित हो जाते हैं। इसमें उनकी संख्या की कोई निश्चित धारणा नहीं होती, परन्तु फिर भी उनकी पर्याप्त संख्या आवश्यक है। इससे यह न समझना चाहिए कि एक वक्ता की वक्तृता सुनने के लिए आमन्त्रित श्रोतागण भी एक 'भीड़' हैं। उनके ध्यान का एक निश्चित केन्द्र होने पर भी वह एक परिपाटी द्वारा पूर्व निर्धारित हैं। सिनेमा-दर्शक, राजनैतिक भाषण या प्रदर्शन में भाग लेने वाले सदस्य या श्रोतागण, किसी सुन्दर वस्तु की ओर एकटक देखने वाले परिवार के सदस्य, यह सब नियमबद्ध और पूर्वनिश्चित व्यवहार वाले, परिपाटीद्वारा निर्दिष्ट समूह हैं। पर भीड़ आकस्मिक होती है; उसकी कोई एक नियत प्रणाली नहीं होती।

भीड़, एक सामान्य केन्द्र की ओर आकर्षितों का अस्थायी जमघट. जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है 'भीड़' एक सामान्य केन्द्र की ओर आकृष्ट व्यक्तियों का एक आकस्मिक जमघट है। ज्यों ही आकर्षण केन्द्र नष्ट हो जाता है या एकत्रित व्यक्तियों के ध्यान का केन्द्र बनने के अयोग्य हो जाता है, वह भीड़ तितर-बितर हो जाती है। इससे स्पष्ट है कि भीड़ एक अस्थायी समूह है। आकर्षण के सामान्य केन्द्र के ध्यान से उतरते ही भीड़ अन्तर्धान हो जाती है।

शारीरिक सामीप्य, साक्षात् सम्पर्क, वेगपूर्ण अन्तःप्रेरणा. इस तरह इकट्ठे हुए लोग संख्या में इतने तो होने ही चाहिएं कि वे एक-दूसरे के साक्षात् शारीरिक सम्पर्क में आ सकें। एक आकर्षण केन्द्र की ओर उत्सुक होने के कारण वे सभी उसके पर्याप्त समीप पहुंचना चाहते हैं। सब एक-दूसरे से आगे निकलना चाहते हैं। परिणामतः कन्धे से कन्धे भिड़ने लगते हैं।

शारीरिक सामीप्य और निकट सम्पर्क द्वारा वह एक-दूसरे पर अपनी उपस्थिति से प्रबल प्रभाव डालते हैं। प्रत्येक व्यक्ति पर अन्य सब के उपस्थित

होने की उद्दीप्ति होती है और प्रत्येक व्यक्ति अन्य सब को भी उद्दीप्त करता है। इस सामूहिक उद्दीप्ति से, जो शारीरिक सम्पर्क से और भी तीव्र हो जाती है, सभी उद्दीप्त होते हैं, और किसी के कुछ कहने और व्यवहार करने का भी इस पर प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार जब एक व्यक्ति पर चारों ओर से उद्दीपन का आक्रमण होता है, तो वह अत्यन्त उत्तेजित हो जाता है। केन्द्र में खड़े लोग सबसे अधिक उद्दीप्त होते हैं, किनारों पर खड़े हुए उनकी अपेक्षा बहुत कम।

भीड़ में घुसने या बढ़ने के कारण शारीरिक दबाव. ऐसे समय यदि वे लोग जो किनारों पर या बाहर खड़े हैं, उत्सुकता के कारण आगे बढ़ने की चेष्टा करें; जो बीच में हैं, वे सबसे आगे जाना चाहें; और कुछ अधिक वेग-शील या अतिउत्सुक व्यक्ति दूसरों को कुहनी मार कर या धकेल कर आगे निकलना चाहें, तो भीड़ में शारीरिक दबाव बहुत बढ़ जाता है। कन्धे से कन्धे भिड़ने के साथ-साथ आगे या पीछे धकेले जाना, पिस से जाना, फेंके से जाना आदि आकस्मिक एवं उत्तेजक अनुभव शरीर के अन्दर की अवस्था को उद्दीप्त करते हैं और भीड़ की शक्ति के प्रति प्रत्येक सदस्य का अनुमान बढ़ा कर, उसके प्रति सम्मान की भावना और उत्तेजना को बढ़ा देते हैं।

भीड़-समूह में अपरिचितता और अनुत्तरदायित्व. ऐसे समूह के सदस्य क्योंकि उस समूह के अंग हो जाते हैं और समूह अपनी संख्या या शक्ति के कारण उनके सम्मान का पात्र हो जाता है, इसलिए वे अपने को व्यक्तिगत उत्तरदायित्व से मुक्त अनुभव करते हैं, और क्योंकि समूह में काम करने वालों पर उनके कार्यों का परिणाम या उत्तरदायित्व सीधा उनके गले नहीं मढ़ा-जाता, इसलिए भी उनकी नैतिकता का स्तर नीचे गिर जाता है; भीड़ समूह के अङ्गभूत व्यक्तियों की एक-दूसरे से अपरिचिति भी उनको व्यक्तिगत रूप से अपने नैतिक उत्तरदायित्व से बहुत-कुछ मुक्त कर देती है। भीड़ में हमें यह चिन्ता नहीं होती कि हम किसी उत्तरदायित्व से बंधे हुए हैं, या हमें कोई-देख रहा है; और इस अनियन्त्रण के कारण हम उत्तेजना में, उद्दीपन के तीव्र वेग में, अपने-आप को और अपने उच्च बन्धनों और आदर्शों को भूल जाते हैं।

नैतिक बन्धनों की शिथिलता और अनुत्तरदायित्व, समूह की प्रतिष्ठा और अपने उत्तरदायित्व को उस पर छोड़ देने की प्रवृत्ति और उद्दीपन के वेग की तीव्रता के कारण हम अपनी नैतिकता को तिलांजलि देकर निम्न और असभ्य

व्यवहार तक कर बैठते हैं। हमारे मन और आचरण पर से संस्कृति और समाज का भय हट जाने से हमारी असामाजिक भावनाएं प्रवल हो उठती हैं।

इस प्रकार हम भीड़ में तीव्र उद्दीपन तथा समूह के प्रति सम्मान की भावना और नैतिक वन्धनों को ढीला होता देखते हैं। ये सब वातें व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करती हैं पर इनके साथ व्यक्तियों की मनोवैज्ञानिक अवस्था, नेता, सुझाव, प्रतीकों, संकेतों, ध्वनियों और नारों की उत्तेजना का भीड़ पर जो प्रभाव पड़ता है वह और भी भयंकर होता है। किसी भीड़ में कितनी उत्तेजना है, इसे देख कर सामान्य वुद्धि से ही हम भीड़ और सक्रिय या उत्तेजित भीड़ का अन्तर पहचान सकते हैं।

सक्रिय उत्तेजित भीड़ (Mob). दूसरों को किसी ओर देखते देख स्वयं भी उसी तरफ देखने लगना या दूसरों को सुनते देख कर स्वयं भी सुनने लगना मानव-स्वभाव है। जव लोग केवल कुछ मिनटों के लिए ठहर कर कुछ देखने लगते हैं, तो वह भीड़ होती है। परन्तु जव उत्तेजना और साक्षात् सम्पर्क नैतिक वन्धनों को ढीला करने लगते हैं, जव भीड़ वस्तुतः उत्तेजित हो जाती है और वह या तो किसी सुझाव के कारण या किसी नेता के आदेश पर अपनी उत्तेजना को क्रियात्मक रूप देने लगती है, तो वह सक्रिय भीड़ हो जाती है; उसे उत्तेजित भीड़ भी कह सकते हैं। इन समूहों में एक सामान्य आकर्षक केन्द्र होने के अतिरिक्त चेतना की गहराई में वैठी हुई प्रवृत्तियां और उद्वेग उच्छृङ्खल हो जाते हैं। एक सक्रिय भीड़ में प्रेम, भय, क्रोध और आक्रमण की प्रवृत्तियां प्रवल हो उठती हैं। ऐसी अवस्था में एक ऐसी लड़ाई भी आरम्भ हो सकती है, जो 'सव को मारो' प्रवृत्ति का विस्तार करे। अन्त में जव वह एकत्रित समूह फैलने लगता है, तो वह भीड़ नहीं रहती। प्रायः डर और घवराहट के कारण ऐसा होता है और अगर पर्याप्त खुला स्थान हो, तो भीड़ जल्दी ही तितर-वितर हो जाती है। पर एक जलते हुए सिनेमा या नाट्यशाला में यही प्रवृत्ति वाहर निकलने के रास्तों को रोक कर दूसरों के लिए घातक हो जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सक्रिय भीड़ व्यवहार में अनुकरण, सुझाव, प्राथमिक चालकों, भावनाओं और नेता का महत्वपूर्ण हाथ होता है।

भीड़ व्यवहार के आधार

भीड़ व्यवहार के प्राथमिक लेखकों ने इसे एक रहस्यमयी शक्ति का

परिणाम समझा था । ला वौन का विचार था कि कभी-कभी सामूहिक चेतना व्यक्तियों पर अधिकार कर लेती है, इसे उसने 'भीड़ की मानसिक एकता का नियम' कहा है। बाद के लेखकों ने इस भीड़व्यवहार को उसके अनैतिक उत्तेजित आचरण के कारण विकृत व्यवहार कहा है । मार्टिन ने फ्रॉयड के सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए इसे 'दबी हुई कामवासना की अभिव्यक्ति' कहकर समझाने की चेष्टा की है । पर हमें किसी एक तत्त्व से नहीं, कई तत्त्वों के विश्लेषण से इसे समझने का प्रयत्न करना होगा ।

अनुकरण (Imitation). प्राचीन समाजशास्त्रियों ने अनुकरण के भिन्न-भिन्न अर्थ किए हैं । वॉल्टर वेगहाट और टार्ड ने सांस्कृतिक प्रणालियों और तत्त्वों के प्रसार (Diffusion) को अनुकरण बताया है । वाल्डविन ने इसे सरल और जटिल सभी प्रकार के शिक्षण के रूप कहा है । स्पष्टतः अनुकरण शिक्षण की प्रक्रिया को घटा देता है, क्योंकि दूसरे व्यक्ति को कुछ करते हुए देखने का सीधा प्रभाव यह होता है कि दर्शक भी उसी प्रकार की क्रिया करने लगता है । अनुकरणकर्ता भूलसुधार की चेष्टा नहीं करता । जो भी हो, यह तो निश्चित है कि अनुकरण एक व्यक्ति की क्रिया का दूसरे व्यक्ति द्वारा अपनाये जाने का नाम है । इस प्रकार अनुकरण कोई पृथक् सहज-प्रवृत्ति नहीं है । चूंकि हम सबका शरीर-यन्त्र एक सा ही होता है, इसलिए हमारे उद्दीपन और प्रत्युत्तर भी प्रायः एक ही ढंग के होते हैं, और यह एक समान व्यवहार का आधार बनते हैं । इसी प्रकार हम शैशव से ही दूसरों को देखकर वैसा ही करने के अभ्यस्त हो जाते हैं । दूसरों को हंसते देखकर हंस पड़ना जैसे स्वाभाविक सा लगता है । शिशु के अपनी मातृ भाषा सीखने और सामाजिक रीतिरिवाज व मान्यताएं सीखने का आधार अनुकरण ही है ।

प्रतिष्ठित व्यक्ति का व्यवहार अनुकरण की लालसा को बढ़ाता है । नेता की प्रेरणा भी इसी कारण अधिक प्रभाव डालती है । कई बार अनुकरण सोच-समझकर भी किया जाता है । परन्तु भीड़-व्यवहार में ऐसा बौद्धिक अनुकरण नहीं होता । इन अवस्थाओं में तो अचेतन और आकस्मिक अनुकरण ही होता है ।

सुझाव (Suggestion). नादिरशाह के आकमरण के समय चंडूखाने में अफवाह उड़ाई गई कि, "वाहरे मुहम्मदशाह रंगीले, तूने भी क्या मुगलई हाथ दिखाया, नादिरशाह को बुला कर कत्ल कर ही तो दिया ।" बादशाह इस

प्रकार तातारियों के सरदार-विजेता को समाप्त कर दें, तो फिर इस 'प्रतिष्ठित' व्यवहार का अनुकरण जनता क्यों न करे ? और थोड़े ही समय में राजधानी में बिखरे सात सौ तातारियों को समाप्त कर दिया गया।

यह घटना सुझाव के प्रबल प्रभाव की ओर संकेत करती है। जब कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को किसी विचार, विश्वास या क्रिया की प्रेरणा इस प्रकार देता है कि अपनी बुद्धि द्वारा बिना परखे या समझे उन्हें मान ले तो यह प्रकिया सुझाव कहलाती है। मैक्डूगल के शब्दों में, सुझाव संवादवहन (Communication) की एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति सुझाई गई बात की युक्तिसंगतता पर विचार किये बिना ही उसे स्वीकार कर लेता है।

दूसरों की विचारशक्ति पर रोक लगा कर उनसे अपना मनचाहा कुछ करा सकना ही सुझाव है। इसमें बाहर की प्रेरणा या उद्दीपक और व्यक्ति की मानसिक या आन्तरिक तत्परता दोनों की आवश्यकता पड़ती है।

मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जो शीघ्र ही सुझाव के प्रभाव में आ जाता है। वह दूसरों की राय मानने से पहले सोचने के लिए नहीं ठहरता। प्रतिष्ठित और माननीय व्यक्तियों द्वारा सुझाई गई प्रेरणाएं अधिक प्रभावोत्पादक होती हैं, और उनको शीघ्रता से मान लिया जाता है। एक परीक्षण में कुछ ऐसे विद्यार्थियों को जो चिकित्साशास्त्र के बारे में कुछ नहीं जानते थे, इस विषय के बारे में कुछ सुझाव दिये गये और उनसे कहा गया कि वे उन पर ग़लत और सही के निशान लगा दें। यद्यपि आधे सुझाव ग़लत थे, फिर भी अधिकतर विद्यार्थियों ने चार में से तीन पर सही के निशान लगा दिए। इस परीक्षण से सिद्ध होता है कि व्यक्ति अधिकतर विश्वासी होते हैं। इसका कारण भी है। हम प्रत्येक तथ्य या प्रत्येक मत का विश्लेषण नहीं कर पाते; हमारी शारीरिक सामर्थ्य हमें इसका अवसर नहीं देती। ऐसी स्थिति में हम अधिकतर विश्वास कर के ही काम चला सकते हैं। बचपन से ही बुद्धि द्वारा समझे बिना, बड़ों द्वारा सुझाये काम करके हम अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं।

इसीलिए वयस्कों की अपेक्षा शिशु और बालक, सुझाव द्वारा अधिक प्रभावित होते हैं। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को तथ्यों के परीक्षण का कम अवसर मिलता है, अतः उनमें शीघ्र विश्वास करने और दूसरों की राय पर अपनी राय बनाने की प्रवृत्ति प्रबल होती है और वे सुझाव द्वारा पुरुषों की अपेक्षा अधिक प्रभावित होती हैं।

प्रचार और अफवाह के कारण सुझाव का प्रभाव. सुझाव के प्रभाव की वृद्धि में प्रचार, अफ़वाह, सांस्कृतिक अभिसंधान (Conditioning) तथा चिह्नों, प्रतीकों, पताकाओं और शब्दों के उत्तेजक प्रयोगों का बड़ा हाथ होता है । सुझाव कुछ अर्थों में भयानक प्रभाव उत्पन्न करता है, क्योंकि कर्ता यही समझता है कि वह यह व्यवहार स्वयं जान-बूझकर कर रहा है । प्रचार के साधन तो आज बहुत सुविकसित हैं । यथा स्थान उनका वर्णन किया गया है ।

अफवाह तीन प्रकार से फैलाई जा सकती हैं : (१) चर्चा द्वारा, (२) चिट्ठी, टेलीफोन या तार द्वारा, (३) और बड़े पैमाने पर समाचारपत्र, सिनेमा और रेडियो द्वारा । इस सम्बन्ध में ज़ीनोवीव की प्रसिद्ध चिट्ठी जिसको इंग्लैण्ड की कंज़र्वेटिव पार्टी ने चुनाव के अवसर पर प्रकाशित करके प्रचारित कर दिया था और जिसके प्रभावस्वरूप लेबर पार्टी को चुनाव में बहुमत प्राप्त न हो सका था, एक अच्छा उदाहरण हैं ।

पत्रका आशय था कि रूसी बोल्शविकों को यह सूचना प्राप्त कर के कि लेबर पार्टी इंग्लैण्ड में रूस जैसी सशस्त्र क्रान्ति करने का कार्यक्रम बना चुकी है, बड़ी प्रसन्नता हुई है इसलिए रूसी क्रान्तिकारियों की ओर से वह बधाई की पात्र है । यह पत्र रूसी क्रान्तिकारी नेता ज़ीनोवीव ने लेबर पार्टी को लिखा था । कहना अनावश्यक है कि पत्रका कोई वास्तविक अस्तित्व न था । सारी बात झूठी थी, परन्तु इसका प्रचार इस वेग से किया गया कि बहुत लोगों ने इस पत्र पर विश्वास कर लिया ।

भीड़ के प्रति सम्मान की भावना. सुझाव की शक्ति को तीव्र करने वाला एक तत्त्व यह है कि व्यक्ति भीड़ के कार्यो को अधिक सम्मान की दृष्टि से देखते हैं । यह भावना कि बहुत अधिक लोग एक साथ हैं, उनकी दृष्टि में समूह की प्रतिष्ठा को बढ़ा देती है । समूह की स्वीकृति से जो कार्य होते हैं, हम आरम्भ से ही उनको सम्मान देते आए हैं । इसी कारण हम बहुत बार भीड़ में बिना जाने व सोचे समझे ही अनैतिक असाधारण कार्यो को करने लगते हैं ।

भीड़ पर ताल (Rythm) का प्रभाव. भीड़ के एकसाथ, एक खास क्रम से एक ही काम करने से व्यक्ति पर उसका प्रभाव बढ़ जाता है । सेनाओं के क़दम मिला कर चलने की ध्वनि, प्रार्थनासमूहों का कीर्तन, मिलकर गाये जाने वाले भक्तिपूर्ण गीत और भजन, आकाश को हिला देने वाले जयघोष और किसी आकर्षक व्यवस्था-विशेष से पंक्तियों में खड़े हुए लोग,—यह सभी

समूह के प्रभाव को तीव्रतर कर देते हैं। सुझाव का वेग, मात्रा, तीव्रता सभी भीड़ समूह की ताल से अधिक प्रभावोत्पादक हो जाते हैं।

पूर्व धारणाओं और भावनाओं का भावात्मीकरण (Emotionalisation). सुझाव और अनुकरण दोनों क्रियाएं व्यक्तियों के पहले से बने विचारों, भावनाओं और पूर्व धारणाओं को नए रूप में ताज़ा कर देती हैं, उनको एक नया वेग दे देती हैं और उनकी सहायता से अपने प्रभाव को अधिक तीव्र बना देती हैं। शीघ्र बिखर जाने वाली भीड़ों को छोड़कर और सभी जनसमूह अपने सदस्यों में कुछ भावनाओं और संवेगों को विकसित कर देते हैं। वास्तव में तो किसी भीड़ के स्थायित्व का आधार इसी बात पर निर्भर होता है कि वह अपने सदस्यों में कितना गहरा भावात्मक सम्पर्क स्थापित कर सकती है। जब एक बार कुछ भावनाएँ उदित हो जाती हैं तो वह हर नई वस्तु पर, नई परिस्थिति पर अपनी छाप छोड़ देती हैं। व्यक्ति का दृष्टिकोण उनसे इतना प्रभावित हो जाता है कि वह हर एक नई परिस्थिति को इन भावनाओं द्वारा परिवर्तित ढंग से देखता है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक पैट्रिक ने कहा है, "हम वस्तुओं को जैसी वे हैं, वैसी नहीं, बल्कि जैसे हम हैं वैसे देखते हैं।"

उत्तेजना की दशा में यह तथ्य और भी अधिक सत्य होता है। न केवल प्रत्यक्षबोध (Perception) बल्कि वे धारणाएं और चित्र भी जो हमारे मस्तिष्क में पहले से विद्यमान होते हैं, भावनात्मक हो जाते हैं। भय या क्रोध की अवस्था में व्यक्ति, अपने साथियों के समान ही, शोषक, शत्रु, आततायी और अत्याचारी के विषय में अद्‌भुत और कृत्रिम कल्पनाएं करने लगता है। गप का प्रसार करने वाले न केवल इन चित्रों और कल्पनाओं की रचना को उद्दीप्त करते हैं, बल्कि उनको अधिक प्राणवान् भी बना देते हैं।

नेता की भूमिका. भीड़ समूह में भीड़ ही के प्रति सम्मान की भावना नहीं, वरन् नेता के प्रति सम्मान की भावना भी अपना प्रभाव प्रदर्शन करती है। चूंकि एक व्यक्ति आगे बढ़कर सारे समूह का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लेता है, इसलिए वह अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होने लगता है और उसकी समूह का पथ प्रदर्शन करने की क्षमता व्यक्तियों को उसका अनुकरण करने की प्रेरणा देती है। प्रत्येक व्यक्ति में अपने को नेता के साथ मिला देने की भावना का उदय होता है। हम अपनी भावनाओं और व्यक्तित्व को परारोपित (project) कर नेता में मूर्त देखते हैं और उसके विचारों और मान्यताओं को स्वीकार करने में प्रसन्नता अनुभव करते हैं। शैशव से हमें परिवाररूपी

सामाजिक पाठशाला में आज्ञापालन की जो शिक्षा मिलती है, वह अभिसंहित रूप में हमारे व्यक्तित्व का अंग बन जाती है, और इसलिए हम नेता की आज्ञा का पालन करने के अभ्यस्त हो जाते हैं। नेता भीड़ का केन्द्र बनकर उसे बिखर जाने से रोके रखता है; भीड़ की मूक भावनाओं की अभिव्यक्ति करता है उनको वाणी देता है, उनको एक मूर्त रूप, कुछ विशेष शब्द, और निश्चित धारा देता है, जो समूह में फैलती जाती है और सभी सदस्यों की विशिष्ट प्रकार से सोचने की प्रवृत्ति को दृढ़ कर देती है। वह भीड़ में कुछ ऐसे शब्द, चिह्न और सामूहिक घोष भी लोकप्रिय कर देता है, जो बाद में उसे क्रियात्मक होने के लिए प्रेरणा देते रहते हैं। वह न केवल उनको कार्य करने की प्रेरणा देता है, बल्कि वह उन्हें एक विशिष्ट दिशा भी बता देता है, जिसकी ओर वह अग्रसर हों। इसके अतिरिक्त वह समूह की भावनाओं को प्रतीकों या चिह्नों द्वारा उत्तेजित करके उनको सक्रिय बना देता है।

मनोवैज्ञानिक अवस्थाएं और भीड़-व्यवहार

प्रायमिक प्रेरक भावनायें (Motivations). वयस्क व्यक्तियों को प्रेरित करने वाली तीन प्रमुख बुनियादी प्रेरक भावनायें होती हैं : (१) सुरक्षा और सामाजिक प्रतिष्ठा, (२) स्नेहमय जीवन, जो अधिकतर परिवार में केन्द्रित रहता है और (३) सामाजिक मूल्य और मान्यताएं, जोकि नियमपालन, व्यवस्था-स्थापन, सम्पत्ति का स्वामित्व और नागरिक अधिकार इत्यादि से सम्बन्धित होती हैं। जब भी इन प्रेरकों में से कोई अधिक उद्दीप्त हो जाता है तब व्यक्ति अप्रत्याशित व्यवहार करने लगते हैं। व्यक्ति को अपने परिवार या अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा पर किसी विपत्ति की आशंका बहुत अधिक चौंका देती है; और इसी तरह अपनी श्रेणी या अपने समाज की मान्यताओं के प्रति सक्रिय उपेक्षा उसे उत्तेजित कर सकती है। भारत में साम्प्रदायिक दंगों के समय अपनी सुरक्षा की चिन्ता, अपने परिवार और बच्चों के प्रेम और अपनी मान्यताओं या संस्कृति के विरुद्ध आक्रमण की भावना ने ही अच्छे पड़ोसियों को भी एक दूसरे का वध करने पर उद्यत कर दिया। भीड़समूह इन प्राथमिक प्रेरकों से सम्बद्ध प्रतिक्रियाओं को अपने समूहविषयक उद्दीपकों द्वारा प्रबल बना देता है; विपत्ति की सन्निकटता और उसकी भयानकता को और भी अधिक महत्त्व दे देता है।

भीड़समूह द्वारा अचेतन में दबी भावनाओं का उदय. न केवल वे ही चालक जो हमारी चेतन (conscious) अवस्था में विद्यमान रहते हैं, बल्कि

वे भावनाएं भी जिनको अचेतन (Unconscious) में दवा दिया गयाहै, भीड़-समूह में अपनी अभिव्यक्ति करने लगती हैं। फ़्रायड के कथनानुसार हम शैशव से ही अप्रिय, समाज और संस्कृति द्वारा वर्जित भावनाओं को वलपूर्वक अपने मन में दवा देते हैं, अपनी चेतन अवस्था से निर्वासित कर देते हैं। हमारी नैतिकता या चेतना, जिसे हमारे समाज के आदर्श और मान्यताएं निर्धारित करती हैं, इन भावनाओं को हमारे चेतन में आने से रोके रखती है। परन्तु, जैसे कि कहा जा चुका है, भीड़ समूह में यह नैतिक वन्धन शिथिल हो जाते हैं। भीड़ में हम अपने नहीं, भीड़ के आदर्शों पर चलते हैं। अतः भीड़ हमारी अचेतन में निर्वासित असंस्कृत भावनाओं को उत्तेजित करके हमें संस्कृतिवर्जित कार्य करने को उद्यत कर देती है।

नागरिक सभ्यता और भीड़ व्यवहार

सामाजिक हितों की अपूर्ति. हमारी सभ्यता के इस युग में जिसे ल्यूइस ममफ़ोर्ड ने राजनगरीय (metropolitan) कहा है, जिसमें अव्य-वस्थित औद्योगिक विकास के कारण वड़े-वड़े नगर वन गए हैं और लोग अपने आत्मसीमित ग्राम-समुदायों और सुगठित पारिवारिक इकाइयों को छोड़कर उन नगरों में वस गए हैं, भीड़-समूह का प्रभाव वहुत वढ़ गया है।

आज नगरों में व्यक्ति अपने सभी हितों की पूर्ति करने में असमर्थ है। ग्राम में उसके सामाजिक हित पूरे हो जाते थे, वह एक समुदाय का अंग था। नगर में वह अपने उस समुदाय की अनुपस्थिति के कारण वैसा सामुदायिक वातावरण प्राप्त नहीं कर सकता। उसकी सामाजिक भावनाएं अतृप्त और अवरुद्ध रहती हैं। न ही नगर इसके स्थान पर ऐसी संस्थाओं का शीघ्रता से विकास कर सका है जो उसकी इस हानि को पूरा कर सकें। एक ऐसी वस्ती में जहां भांति-भांति के लोग अलग-अलग गांवों से आकर वस गए हैं, गांव जैसा घनिष्ठ वातावरण पा सकना उनके लिये वहुत कठिन है।

निराशा का वातावरण. दूसरी ओर नागरिक जीवन की कृत्रिमता, जटिलता और अस्वाभाविकता व्यक्ति के जीवन में एक सूनापन उत्पन्न कर देती है। प्रकृति से सम्पर्क की कमी, स्नेहरहित वातावरण और स्वच्छन्दता पर वन्धन भी उसके मन में एक निराशा और उदासी का उदय करते हैं। आर्थिक मांगों का पूरा न हो सकना इतना पीड़ाजनक नहीं है जितना अपनी सापेक्ष ग़रीवी की जागृत भावना। धनवानों के विलास की तुलना में अपनी हीनता, अभाव और दुर्दशा का अनुभव व्यक्तित्व के विकास पर वुरा प्रभाव डालते हैं।

भाग्यवाद में विश्वास. हमारे औद्योगिक ढांचे में इतना विशिष्टीकरण हो गया है कि साधारण मनुष्य उसे समझ नहीं सकता। सामाजिक संस्थाओं और सामाजिक प्रक्रियाओं को समझ पाने में भी वह असमर्थ है। यह असमर्थता और अयोग्यता उसे आरण्यक व्यक्ति की ही भांति भाग्यवादी बना देती है; वह अपने ज्ञान और अपनी शक्ति पर नहीं, बल्कि कुछ अलौकिक कल्पनातीत शक्तियों में, विश्वास करने लगता है। अपने अज्ञान के कारण जीवन में कोई आनन्द न पाकर, निराश हो, वह इस विश्वास को अपने हृदय में स्थान देता है कि इस अज्ञेय व्यवस्था को कोई चमत्कार ही बदल सकता है।

जीवन में नीरसता का आधिक्य. हमारी औद्योगिक प्रणालियों के विशिष्टीकरण और जटिल और अत्युन्नत श्रमविभाजन के कारण एक व्यक्ति को सारा दिन एक ही काम बार-बार दोहराते रहना पड़ता है। इससे जीवन में बहुमुखता नहीं रहती; जीवन एकांगी हो जाता है। यह तत्त्व भी जीवन को नीरस बनाने में योग देता है।

परिवर्तन और दृढ़ नेतृत्व की कामना. आशाओं की अपूर्ति, निराशाओं की वृद्धि, व्यक्तित्व के विकास का अवरोध और भाग्यवाद में विश्वास—इन सब तत्त्वों के एकत्रित हो जाने और एक दूसरे को अधिक प्रभावी बना देने से आज के सामान्य व्यक्ति के मन में परिवर्तन की प्रबल आकांक्षा और उसकी पूर्ति के लिए एक नेता की लालसा बड़ी बलवती हो गई है। समूह के प्रभाव के वेग का बढ़ जाना और नेता के प्रति निष्ठा की भावना का अधिक प्रबल हो जाना इन्हीं आकांक्षाओं का परिणाम है। भीड़-समूह हमारी परिवर्तन की लालसा, जीवन की नीरसता, शुष्कता और उकताहट से बचने और पलायन करने की तीव्र इच्छा और हमारे कौतूहल को पूर्ण करने का साधन होता है या कम-से-कम इन लालसाओं की पूर्ति की आशा दिलाता है। इसलिए आज के नागरिक जीवन में भीड़-समूह का प्रभाव बहुत बढ़ गया है। नागरिक जीवन में सुझाव की शक्ति, नेता के व्यक्तित्व के प्रबल प्रभाव और एक ही स्थान में अधिक लोगों के एकत्रित हो सकने के कारण भीड़ में अन्तःप्रेरणा का वेग बहुत तीव्र हो जाता है।

सामूहिक समाज का उदय. कुछ थोड़े से स्थानों में आवश्यकता से अधिक लोगों के आवास के कारण, नगरों में भीड़व्यवहार और सुझाव की शक्ति बढ़ गई है। थोड़ी ही देर में अफ़वाह तेजी से सब ओर प्रसारित हो जाती है; उत्तेजना पलभर में सभी व्यक्तियों को उद्दीप्त कर देती है, और जो

व्यवहार एक स्थान पर एकत्रित हुए लोगों में होना चाहिए, वह अपने-अपने घरों में बैठे व्यक्तियों में भी अल्प मात्रा में दृष्टिगोचर होने लगता है। थोड़ी ही देर में लोग घरों से बाहर निकल आते हैं, छोटे-छोटे समूह बना लेते हैं और फिर वही सब कुछ होने लगता है जो भीड़व्यवहार की विशेषता है। भीड़ की सभी प्रक्रियाएं बलवती हो जाती हैं। पहले की अपेक्षा आज भीड़ें न केवल परिमाण में बड़ी होती हैं, बल्कि उत्तेजना की मात्रा में भी।

भीड़ व्यवहार और संस्कृति

कुछ दिनों से भीड़समूह और उसके व्यवहार को सामाजिक रोग के रूप में अध्ययन करने की परिपाटी चल पड़ी है। हमारा समाज जो बातें व्यक्तियों के व्यवहार में सहन नहीं कर सकता, वह भीड़समूहों के व्यवहार में स्वीकार कर लेता है। भीड़ों में निन्दित व दुष्ट कर्म करने वाले भी दण्ड नहीं पाते; और जो लोग भीड़ की उत्तेजना से पागल हो कर पागल सरीखा आचरण करते हैं, उनको पागलखाने में नहीं भेजा जाता : इससे स्पष्ट है कि हमारी संस्कृति भीड़ में व्यक्ति के व्यवहार को एक रोग मान कर उसकी उपेक्षा कर देती है।

फिर भी यह ध्यान देने का विषय है कि विभिन्न संस्कृतियां भीड़ व्यवहारों पर अपना प्रभाव डालकर उनकी सीमाएं निर्धारित कर देती हैं। कई संस्कृतियों में कुछ कर्म वर्जित होते हैं। जूनी संस्कृति भावनाओं के संयम पर अधिक बल देती है, जबकि क्वाकितुल संस्कृति भावातिरेक को पसन्द करती है। अमेरिका में भीड़ समूह आत्मविस्मृत होकर सरकारी सम्पत्ति को नष्ट कर देते हैं, और किन्हीं नियमों और व्यवस्था की परवाह नहीं करते। परन्तु इंग्लैण्ड में इसके प्रतिकूल भीड़व्यवहार बहुत संयत होता है। सम्राट् जार्ज पंचम की रजतजयन्ती के समय बकिंघम प्रासाद के सामने के बगीचे में बहुत भारी भीड़-समारोह हुए, परन्तु उनकी समाप्ति पर देखा गया कि न तो उस बगीचे में से कोई फूल ही तोड़ा गया था, और न ही उसे कोई अन्य हानि पहुंचाई गई थी। खेद से कहना पड़ता है कि इस विषय में हमारी संस्कृति में भीड़व्यवहार पर ऐसे कोई दृढ़ बन्धन नहीं लगाये गये हैं।

स्वतन्त्रताप्राप्ति से पहले और उसके पश्चात् भीड़व्यवहार से प्रेरित जो साम्प्रदायिक दंगे इस देश में हुए, उसमें हज़ारों मनुष्य मारे गये। इसके विपरीत १९३४ में पेरिस में जो दंगे हुए, वे इतने विस्तृत थे कि एक बड़े राजनैतिक बवंडर की सम्भावना हो गई थी, परन्तु फिर भी उनमें सम्पत्ति की हानि होने

पर भी हत्या बिल्कुल नहीं हुई। इसका कारण फ्रांस में कैथोलिक मत का प्रचार था जिसमें हत्या को बहुत जघन्य माना गया है। इसके साथ ही फ्रांसीसी क्रान्ति के पश्चात् बने कठोर दण्डविधानों ने भी सांस्कृतिक मान्यताओं को लोकप्रिय बनाने में सहायता प्रदान की।

सुझाव और संस्कृति. यह संकेत किया जा चुका है कि जो व्यक्ति अधिक भावुक और अशिक्षित होते हैं, वह सुझाव से अधिक प्रभावित होते हैं। प्रत्येक संस्कृति व्यक्तियों के चरित्रनियंत्रण के लिए कुछ ऐसे भावनात्मक निषेध और प्रतिबन्ध लागू कर देती है कि उस दशा में सुझाव का कोई प्रभाव नहीं हो पाता। हमारी ही संस्कृति में कोई भी तीव्र प्रतिष्ठित और प्रचारित सुझाव हिन्दुओं को गोवध के लिए प्रेरित नहीं कर सकता। यदि किसी व्यक्ति के मन में यह संस्कार बद्धमूल है कि अमुक कार्य किसी भी अवस्था में अनुचित है तो उसे उस ओर झुका सकना बहुत कठिन है।

इसी प्रकार यह भी देखा जाता है कि सुझाव के प्रभाव को कम करने के लिए अलग-अलग संस्कृतियां अलग-अलग साधनों का प्रयोग करती हैं। सुझाव के प्रभाव को कम करने का सबसे अच्छा उपाय व्यक्तियों में स्वतन्त्र चिन्तन और मनन की प्रवृत्ति को प्रबल कर देना है। चिन्तनशील व्यक्ति सुझाव को स्वयं सोचे-विचारे बिना स्वीकार नहीं कर लेते। स्वयं सोच-विचार कर प्रमाणों या तथ्यों का विश्लेषण कर के जो बात स्वीकार की जाती है, वह सुझाव की कोटि में नहीं आती। वाद-विवाद, भाषणकर्ता से प्रश्नोत्तर, लेखों की समालोचना, व्यक्ति को अपना निर्णय स्वयं करने की स्वतन्त्रता, शक्ति का अधिक से अधिक विकेंद्रीकरण जिस से लोग अपना-अपना उत्तरदायित्व समझें, मतदान और शिक्षा, यह सब सुझाव की शक्ति को कम करते हैं।

एक अध्ययन में कुछ उच्चशिक्षाप्राप्त अमेरिकन विद्यार्थियों के सामने कुछ ऐसे दृश्य उपस्थित किए गए, जिनमें नीग्रो लोगों द्वारा गोरी जाति की नारी के प्रति घृणित अत्याचार और अपमान की ओर संकेत किया गया था। यह सुझाव भी उनको प्रबल रूप से दिया गया कि वह नीग्रो लोगों से बदला लेने के लिए उत्तेजित भीड़ में मिलें। परन्तु उन विद्यार्थियों में से अधिक ने अपनी शिक्षा के प्रभाव के कारण इस सुझाव को अस्वीकार कर दिया।

भारत में भी गांवों में एक नारी के प्रति किसी युवक के अनर्गल प्रलाप को क्षमा नहीं किया जाएगा और सुझाव का लोगों पर तात्कालिक प्रभाव पड़ेगा, परन्तु नगरों में शायद इसकी उपेक्षा कर दी जाय।

इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि व्यक्ति का स्वभाव और संस्कृति की मान्यताएं दोनों सुझाव के प्रभाव के वेग को अधिक या कम करने में अपना-अपना योग देती हैं।

(ङ) सामूहिक व्यवहार के अन्य रूप

१. श्रोता और दर्शक समूह

संस्कृति निर्धारित अस्थायी समूह. ऐसे अस्थायी समूहों की चर्चा जिन की सदस्यता और नेतृत्व संस्कृति या परिपाटी द्वारा निर्धारित नहीं होते, भीड़-व्यवहार के प्रकरण में की जा चुकी है। श्रोताओं या दर्शकों के समूह अधिकतर कुछ परिपाटियों के नियंत्रण को मानते हैं। एक श्रोतासमूह में नेता का चुनाव अकस्मात् नहीं होता, किसी मान्य या प्रचलित ढंग से होता है। परन्तु सदस्यता के बारे में ऐसा कोई नियम नहीं है। वह श्रोता या दर्शक जो किसी नियत भाषणकर्ता का भाषण सुनते आते हैं या किसी निश्चित दृश्य को देखने आते हैं किसी विशिष्ट रीति से नहीं चुने जाते, परन्तु कई बार ऐसा भी होता है कि कुछ विशिष्ट व्यक्तियों को ही श्रोता या दर्शक के रूप में आने की अनुमति दी जाती है। इन सभाओं के स्थान, समय और विषय इत्यादि का निर्धारण भी श्रोता या दर्शक समूह के एकत्रित होने से पूर्व ही हो जाता है।

सदस्यों में अंतःप्रेरणा का अभाव. ऐसे समूहों में सब व्यक्तियों का ध्यान नेता या दृश्य की ओर होता है और उनके लिए प्रेरणा का केवल वही केन्द्र होता है। सदस्यों की परस्पर अन्तःप्रेरणा का स्तर बहुत नीचा, प्रायः नहीं के बराबर, रहता है। इसीलिए एक स्थान में एकत्रित होने पर भी वह भीड़ जैसा व्यवहार नहीं करते। उनके व्यवहारों पर भी कुछ संस्कृतिनिर्धारित रूढ़ियों का बन्धन दृढ़ रहता है।

श्रोता-समूह का भीड़ बनना सम्भव. यह सम्भव है कि किसी विशेष घटना के घटने पर श्रोता या दर्शक गण अकस्मात् उत्तेजित हो जाएं, अपना मानसिक संतुलन खो बैठें और उत्तेजित भीड़ का सा व्यवहार करने लगें, जैसा कि कभी-कभी खेलों में रैफरी द्वारा किसी पक्षपात व अन्यायपूर्ण निर्णय देने पर हो जाता है। फिर भी अधिकतर अन्य अस्थायी समूहों की अपेक्षा यह समूह अधिक शांत रहते हैं।

२. जनता और जनमत (Public opinion)

जनता—सामान्य विषयों पर अभिरुचि रखने वालों का एक शिथिल

समूह. प्रत्येक समाज में हर समय बहुत से ऐसे विषय होते हैं जिन पर अलग-अलग व्यक्तियों या समूहों के पृथक्-पृथक् मत होते हैं। इन विषयों और समस्याओं पर समाज में निरन्तर विचारविनिमय होता रहता है, परन्तु अलग-अलग व्यक्ति अलग-अलग विषयों में अभिरुचि रखते हैं और वे ही उस विषय पर हो रहे वाद-विवाद में भाग लेते हैं। जितने अधिक ऐसे विषय होते हैं उतने ही ऐसे समूह भी होते हैं। जिन व्यक्तियों को एक ऐसे विशेष विवादग्रस्त विषय में अभिरुचि होती है, और जो एक स्थान में रहने के कारण नहीं, प्रत्युत प्रसार और संवादवहन के साधनों द्वारा एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं, वे व्यक्ति एक 'जनता' का निर्माण करते हैं। एक व्यक्ति साधारणतः एक से अधिक विषयों में अभिरुचि रखता है, और इसलिए वह एक से अधिक जनताओं का सदस्य हो सकता है। एक जनता में जो विवाद चलता रहता है, वह भीड़ की तरह उत्तेजित भावनाओं द्वारा निर्णीत नहीं होता; बल्कि विचारविनिमय, तर्क-वितर्क और युक्तियों द्वारा होता है। इस तथ्य के आधार पर भीड़ और जनता का अन्तर समझा जा सकता है। एक ढीले-ढाले तौर पर संगठित समूह को जिसके सदस्य किसी एक सामान्य विषय में अभिरुचि रखते हों, हम जनता कह सकते हैं।

जनमत एक गतिशील (Dynamic) प्रक्रिया. जनता का अधिक भाग किसी एक विषय पर जो मत रखता है, उस विषय पर उसी को जनमत मान लिया जाता है। परन्तु उस विषय पर जनता पूर्णतः एकमत नहीं होती, क्योंकि जनता द्वारा पूर्ण स्वीकृति प्राप्त कर लेने पर वह विषय सर्वमान्य मान्यताओं या जनरीतियों का अंग हो जाते हैं। इसीलिए जनता के एक प्रतिनिधि भाग के मत को जनमत कहने की धारणाओं को ठुकराकर कूले ने जनमत के गतिशील रूप पर बल दिया है। जो लोग जनता के बहुमत को स्वीकार नहीं करते, वह अपने मत का प्रचार करते रहते हैं और जनमत को बदलने का प्रयास करते रहते हैं। इस प्रकार यह एक गतिशील प्रक्रिया है, एक अगतिशील (Static) धारणा नहीं है।

समाज के प्रारम्भ से उसमें अलग-अलग व्यक्तियों के विचारों, आदर्शों और भावनाओं में परस्पर अन्तःक्रिया होती ही रहती है। जनमत इस अन्तःक्रिया से सम्बन्धित एक गम्भीर प्रक्रिया है जो व्यक्तियों के विचारों को प्रभावित करके उन्हें कुछ निष्कर्षों पर लाती है। अपने गतिशील प्रवाह के कारण यह समूहों के विचारपूर्ण अभिमतों को एक निश्चित वाणी देता है और उनका

रूप सुधारता रहता है, और इसके साथ ही यह अल्प समय के लिए अस्थायी तौर पर जनता के आदर्शों, भावों और मान्यताओं को स्पष्ट रूप से निर्धारित करता है।

ग्रामीण समाजों में जनमत. जनमत के अध्ययन के लिए यह जानना आवश्यक है कि सभ्यता के साधारण स्तर और मतप्रकाशन के सांकृतिक माध्यम कैसे हैं। प्राचीनकाल में छोटे-छोटे ग्रामों में सभी लोग साक्षात् और घनिष्ठ सम्बन्धों के कारण शीघ्र ही जनमत की अभिव्यक्ति कर सकते थे, और व्यक्तियों पर उसका प्रभाव भी उस समय अत्यधिक होता था पर वहाँ विवाद के विषय बहुत थोड़े थे, क्योंकि अधिकतर बातों पर परम्परा, धर्म, समुदाय और जनरीतियों का तीव्र नियन्त्रण होता था। केवल दैनिक जीवन की बातें ही जनमत की परिधि के भीतर आ पाती थीं। इस प्रकार के अपरिवर्तनीय, बहुत कुछ स्थायी विश्वासों और जनरीतियों को, जो सभी कृपक समाजों और अदल-बदल-अर्थ-व्यवस्थाओं (Barter Economics) में प्रचलित थीं, विलियम बावर ने अगतिशील जनमत का नाम दिया है।

नगरीय सभ्यताएं और जनमत. गतिशील जनमत यूनान और रोम की नागरिक सभ्यताओं में बहुत प्रभावशाली था। पैरीक्लीज़ और सिसरो के काल में घनी जनसंख्या वाले नगरों में तत्कालीन महत्त्व के विषयों पर प्रमाण और तर्कों का आश्रय लेकर विशद विवाद होता था और भाषणों, प्रहसनों और नाटकों द्वारा अपने-अपने मत का प्रचार भी सम्भव था। इटली के पुनर्जागरण काल में छोटे-छोटे नागरिक समूहों के उदय ने बीच के दीर्घकाल में फैली कृषि-अर्थ-व्यवस्था पर आधारित ग्राम समूहों के अगतिशील जनमत को गतिशील बना दिया। आज के युग में औद्योगीकरण, तीव्र प्रगति और हमारी संस्कृति के द्रुत नगरीकरण ने तो जनमत के क्षेत्र, गति, गुण और प्रभाव को बहुत ही विकसित कर दिया है।

आधुनिक सभ्यता का जनमत पर प्रभाव. जनसंख्या में तीव्र वृद्धि और वृहत् नगरों में जनता के एकत्र हो जाने से जनमत का वेग बढ़ गया है। हमारे नैतिक आदर्श, मान्यताएं, और विश्वास बदल रहे हैं और ऐसे संक्रान्ति-काल में यह सभी जनमत और वाद-विवाद की परिधि में आजाते हैं। इस प्रकार इसका क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया है। परिवहन और संवादवहन के साधनों से इसकी गति में अनुपम तेजी पैदा हो गई है। मनुष्यों के परस्पर

सम्बन्धों और हितों के क्षेत्र और उनकी अनेकरूपता निरन्तर बढ़ते जा रहे हैं। जीवन की गति और विविधता ने भी इस में अपना योग दिया है।

इसके साथ ही यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि हमारे समाज में प्राथमिक समूहों का स्थान माध्यमिक समूहों ने ले लिया है और घनिष्ठ और व्यक्तिगत सम्बन्धों का स्थान निर्वैयक्तिक रस्मी सम्बन्धों ने। हम स्वयं निरन्तर वर्धमान तथ्यों का ज्ञान नहीं रख सकते; हमारी जानकारी आज बहुत सीमित और विशिष्ट हो गई है। बढ़ते हुए श्रमविभाजन और विशेषीकरण का प्रभाव भी इसी दिशा में पड़ा है। अधिकांश विषयों पर हमारे विचार और निष्कर्ष अधिकतर काल्पनिक ही होते हैं, वस्तुस्थिति से उनका सम्बन्ध कम होता है। सिनेमा, रेडियो, समाचारपत्रों और पुस्तकों द्वारा जनमत को बनाया और बदला जा सकता है। फिर भी यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि इन साधनों को भी जनमत का सम्मान करना पड़ता है और कुछ मान्यताओं के बन्धनों को स्वीकार करना पड़ता है।

हमारे समाज में एक व्यक्ति जो कठिनाई या समस्या अनुभव करता है उसके निदान वह पहले स्वयं ही सोचता है और उसके विचारों पर उसकी पूर्वधारणाओं का प्रभाव पड़ता है। दूसरे लोगों को भी जब वह इसी उधेड़-बुन में देखता है तो परिवार या मुहल्ले तक विवाद फैलता है। परन्तु जब तक अनुभव की गई कठिनाई समाज के पर्याप्त बड़े भाग की समस्या नहीं होती, वह जनमत का विषय नहीं बन पाती। जब उस पर विवाद का रूप वृहत् हो जाता है, और संवादवहन के साधन भी उसमें अपना योग देते हैं तो जनमत का उदय होने लगता है।

जनमत निर्माण में चार मुख्य अवस्थाएं हैं: (१) प्रथमतः विषय का निर्धारण (२) उसके बाद उस समस्या की गम्भीरता का अध्ययन और तथ्य संधान (३) विकल्पों का अध्ययन और अन्ततः विवाद और विचारविनिमय के पश्चात् जनता के बहुमत द्वारा जनमत का निर्माण।

परन्तु आज अनन्त तर्कयुक्त निष्कर्षों और सही तथ्यों को जनता के ज्ञान का अंग बना देना कठिन हो गया है। इसके लिए नेताओं और सुधारकों को जो जनमतनिर्माण में पथप्रदर्शन करते हैं विशेषज्ञों के समीपतर होना पड़ेगा और समाज को अपने संवादवहन के साधनों का ऐसा उपयोग करना होगा कि जनता अधिक ज्ञानवान् हो। तभी जनमत अधिक तार्किक, युक्तिसंगत और कल्याणकारी बन पाएगा। यदि ऐसा नहीं होगा तो कुछ स्वार्थी और

महत्त्वाकांक्षी सत्ताधारी इन बड़े साधनों का दुरुपयोग करके सच्चाई को छिपा कर जनमत को अपनी इच्छानुसार निर्मित और नियंत्रित करते रहेंगे।

(३) प्रचार (Propaganda)

प्रचार: शब्दों और प्रतीकों का पूर्व नियोजित प्रयोग. दूसरे व्यक्तियों के विचारों, धारणाओं और आदर्शों को बदलने के लिए शब्दों और चिन्हों को चतुरता से उपयोग में लाने की चेष्टा प्राचीनकाल से ही होती आई है। इटली के प्राचीन नगर पौम्पी की दीवारों पर चुनावसम्बन्धी वाक्य लिखे पाए गए हैं और हिरोडोटस, जिसे इतिहास का पिता कहा जाता है, उसके बारे में भी यह संदेह है कि उसने भी ऐथिन्स के शासकों के हित और कीर्ति के लिए शब्दों और तथ्यों का अनुचित प्रयोग किया था। प्रारम्भ में 'प्रचार' शब्द का प्रयोग रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय ने अपने 'धर्म के नियमों के प्रसार' के अर्थ में किया था। जिस प्रणाली से हम प्रतीकों के प्रयोग द्वारा मानव व्यवहारों को बदलने का प्रयत्न करते हैं उस प्रणाली को प्रचार कहा जाता है।

शिक्षा, विचारविनिमय और प्रचार. शब्दों और प्रतीकों का प्रयोग परम्पराओं, आदर्शों, रूढ़ियों और मान्यताओं को शिशुओं और बालकों के मन में स्थापित करने के लिए भी किया जाता है। परन्तु इसको शिक्षा कहते हैं। प्रचार का उद्देश्य विवादग्रस्त, परम्पराविरोधी या नवीन धारणाओं को फैलाना और लोकप्रिय बनाना होता है। जब कि विचारविनिमय में हम अपनी पूर्व-धारणाओं से युक्त होकर ही किसी समस्या को सुलझाने की चेष्टा करते हैं, प्रचार में हम दूसरे व्यक्तियों के मन में बैठी ऐसी पूर्वधारणाओं को बाहर निकाल देने का प्रयत्न करते हैं अथवा नई धारणाएं बैठाने का प्रयत्न करते हैं। जब हम जानबूझकर शब्दों का व्यवस्थित और क्रमबद्ध उपयोग करते हैं और सुझाव और दूसरी मनोवैज्ञानिक प्रणालियों का आश्रय लेकर इस उपयोग द्वारा लोगों के अभिमतों, विचारों और मूल्यों को इस प्रकार नियन्त्रित करने का प्रयत्न करते हैं कि अन्त में उन लोगों के विचारों को बदल सकें, तो हमारी यह चेष्टा प्रचार कहलायेगी।

प्रचार और समूह. दो समूहों में मैत्रीस्थापन (Conciliation) के लिए भी प्रचार का प्रयोग हो सकता है और पारस्परिक विरोध को बढ़ाने के लिए भी। सामूहिक मान्यताओं में व्यक्तियों का विश्वास अडिग रखने के लिए और समूह में एकता कायम रखने के लिए भी इसका उपयोग किया जाता है।

प्रचार द्वारा झूठी-सच्ची कहानियों और अतिशयोक्तिपूर्ण तथ्यों पर समूह का विश्वास प्राप्त किया जा सकता है।

प्रचार का मनोवैज्ञानिक आधार. शैशव काल से व्यक्तियों के मन में जो धारणायें बस जाती हैं और उनकी जो विचारप्रणालियां बन जाती हैं, उन्हीं धारणाओं और विचारप्रणालियों को उत्तेजित कर देना प्रचार का लक्ष्य होता है। अनुकरण और सुझाव का सहारा लेकर और उन आदर्शों को जगा कर जो हमें प्रिय हैं, वह हमें भावुक बना देता है। ऐसी ही भावनाओं के आधार पर झूठी-सच्ची कहानियां गढ़ कर कुशल प्रचारक हमें अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है और हमारे विचारों को बदलने में सफल होता है।

प्रचारक की सफलता के नियम. प्रचारक हमारी अवरुद्ध भावनाओं और अतृप्त इच्छाओं को चेतन कर देता है, और हम में किसी लक्ष्य की प्राप्ति की लालसा जागृत कर देता है। जब वह लालसा जागृत हो जाती है, तो वह उसकी पूर्ति के मार्ग की ओर संकेत कर देता है। अपनी कार्यसिद्धि के लिए वह अपने प्रचार को जनता की बुनियादी और प्राथमिक इच्छाओं के साथ जोड़ता है और प्रतीकों द्वारा उनकी भावनाप्रधान इच्छाओं को छेड़ता है। समस्याओं को सरल भाषा और ढग से प्रस्तुत करने और लक्ष्य को स्पष्ट बना कर जनता के सम्मुख पेश करने में ही उसकी सफलता है। बुनियादी मांगों या उद्देश्यों को बार-बार क्रमबद्ध रूप से दोहरा कर ही वह जनता का सौहार्द प्राप्त कर सकता है। जब इन प्रणालियों द्वारा वह व्यक्तियों के मनों में अपने लक्ष्य के लिए सहानुभूति या झुकाव पैदा कर लेता है तब अतिशयोक्ति और झूठ के प्रयोग से जनता को अत्यन्त प्रभावित कर देना उसके लिए कठिन नहीं रहता।

प्रचारक और वकील. प्रचारक और वकील के काम में बहुत कुछ साम्य है। दोनों ही अपने-अपने पक्ष के लिए सिद्धान्तों, शब्दों और तथ्यों का उचित और अनुचित प्रयोग करते हैं, परन्तु जहां वकील अपनी बात न्यायाधीश को मनवाना चाहता है, वहां प्रचारक जनता को। यह सभी जानते है कि जनता न्यायाधीश जैसी सतर्क और चतुर नहीं होती। जनता की अज्ञानता के कारण प्रचारक के हाथ में एक भयानक शक्ति रहती है। यदि वह मानवीय आदर्शों का उल्लङ्घन करके जनता को धोखा देने लगे तो बहुत अनिष्ट की आशंका हो

सकती है। परन्तु किसी प्रचार को दवाने से उसको प्रभावहीन नहीं बनाया जा सकता। उसे रोकने में उस प्रचार के झूठ का भंडाफोड़ और दूसरी नीतियों का प्रचार ही समर्थ हो सकते हैं।

प्रचार का नियंत्रण. हमारे समाज में व्यक्ति तथ्यों से वहुत दूर अपने छोटे से संसार में रहता है। वह अपने विचारों का निर्माण अधिकतर समाचारपत्रों, रेडियो और सिनेमा से करता है, और अपनी असमर्थता और अज्ञानता के कारण शीघ्र ही उनके सुझावों पर विश्वास कर लेता है। प्रचार के माध्यमों के शक्तिशाली प्रभाव, कुछ नगरों में शक्ति के एकत्रीकरण और उत्पादनों के केन्द्रीकरण के कारण हमारी प्रजातान्त्रिक व्यवस्था आज नाममात्र को ही प्रजातान्त्रिक रह गई है।

यदि हमें समाज के सदस्यों की विचारशक्ति को एकदम कुण्ठित कर देने में समर्थ केन्द्रीय प्रचार के शक्तिशाली साधनों से अपने समाज की रक्षा करनी है तो हमें प्रचार के साधनों पर सार्वजनिक नियन्त्रण करना होगा, उसके दुरुपयोग को रोकने के लिए विशिष्ट संस्थाओं का निर्माण करना होगा और उसके रचनात्मक उपयोग के लिए आवश्यक प्रयत्न करना होगा। इसके लिए एक सीमा तक राजनैतिक शक्ति और सम्पत्ति के उत्पादन के साधनों का यथा संभव विकेन्द्रीकरण एक प्रभावशाली उपाय सिद्ध हो सकता है। सार्वजनिक उच्च स्वाधीन शिक्षा भी दूषित प्रचार के प्रभाव को नियन्त्रित करने में परोक्षरूप से योग दे सकती है। सभी व्यक्तियों और दलों को प्रचार की समान सुविधाएं प्रदान करने से भी प्रचार के अनिष्ट की आशङ्का कम हो जाती है।

आज हमारे सम्मुख एक जटिल प्रश्न है कि प्रचार और प्रचार के माध्यम हमारी संस्कृति के विनाश और विघटनका कारण न वन जायें। यह तो एक कठोर सत्य है कि हम चाहते हुए भी प्रचार के साधनों को छोड़ नहीं सकते। ऐसी स्थिति में उनके उचित और कल्याणकारी उपयोग की ओर ध्यान देना ही वुद्धिमत्ता है।

(४) नेतृत्व (Leadership)

प्रभुता और आधीनता (Dominance and Submission): लगभग सभी सामाजिक अन्तःक्रियात्मक अवस्थाओं में कुछ सदस्य शेष सदस्यों के व्यवहारों पर अधिक प्रभाव डालते हैं जवकि उन कुछ सदस्यों पर शेष सदस्यों का प्रभाव कम पड़ता है। हमारे समाज में ही नहीं, सभी समाजों में, सभी

क्षेत्रों और संस्थाओं में कुछ व्यक्ति अधिक प्रवल और प्रभावशाली होते हैं। सेना, शासक और प्रजा के सम्बन्धों, परिवारों, राजनैतिक दलों, धार्मिक-सम्प्रदायों, यहां तक कि विचारविनिमय या विनोद के लिए स्थापित समितियों में भी यह द्विविध व्यवहार दृष्टिगोचर होता है। कुछ व्यक्ति अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक प्रवल और प्रभावशाली होते हैं और वाकी लोग उनके प्रति विनम्र होते हैं। इन व्यवहारों को ही प्रभुता और आधीनता कहा गया है।

शैशव अभ्यास और व्यक्तिगत सामाजिक प्रभाव. प्रभुता और आधीनता के यह व्यवहार केवल वयस्कों में ही नहीं दिखाई देते वल्कि शिशुओं में भी यह विद्यमान हैं। एडलर ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि 'वड़े वच्चे छोटे वच्चों पर शासन करते हैं'। परन्तु एडलर के इस सिद्धान्त को गुडेनाऊ और लीही ने ३०० किंडरगार्टन में पले वच्चों का अध्ययन करके भ्रान्तिपूर्ण सिद्ध कर दिया है। वच्चों और वयस्कों में यह अन्तर आयु के कारण नहीं होते। उनका आधार शैशव में मां और शिशु का परस्पर व्यवहार होता है। वच्चे को अधिक स्नेहपूर्ण वातावरण मिलता है या निःस्नेह, उसकी पुकार पर मां शीघ्र उसकी ओर ध्यान देती है या नहीं, इन वातों का उसके व्यक्तित्व के निर्धारण में पर्याप्त हाथ होता है। सायी वच्चों की अपेक्षा वह दुर्वल है या सवल, स्वस्थ है या अस्वस्थ, अग्रज है या अनुज—यह तत्त्व भी उसके व्यवहार को प्रभावित करते हैं। असमर्थ, दुर्वल वच्चे समर्थ और सवल वच्चों को देख कर दूर हट जाते हैं, सिमट जाते हैं, और इस व्यवहार के कारण दोनों ओर अभ्यास के प्रभाव से प्रभुता और आधीनता उनके स्वभावों का अंग वन जाती हैं।

प्रभुता और नेतृत्व. परन्तु सभी प्रकार की प्रभुता नेतृत्व नहीं कहलाती। एक व्यक्ति को तभी एक समूह का नेता कहा जा सकता है जवकि वह समूह, जिसका वह नेता है, एक समानहित पर आधारित हो और उस व्यक्ति द्वारा निर्धारित रूप में व्यवहार करता हो। अनुयायियों द्वारा नेता की आज्ञा का पालन किसी दवाव या परम्परा के कारण नहीं होता। पुरोहित, राजा और सेनापति सही अर्थों में नेता नहीं कहला सकते, न ही सामन्त या पूंजीपति ही नेता हैं जो एक श्रेणीवद्ध समाज में अपने धन या प्रभुता के कारण सम्मानित होते हैं। जव एक समूह किसी एक व्यक्ति का अनुकरण किसी दवाववश, अभ्यासवश या अन्धविश्वास के कारण नहीं वरन् स्वेच्छा से और तर्कयुक्त आधारों पर करता है, तभी उस व्यक्ति को नेता कहा जा सकता है।

सर्वप्रथम डेविड ह्यूम ने इस ओर ध्यान आकर्षित किया था कि नेता की शक्ति और समूह द्वारा उसकी शक्ति के सम्मान को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। समूह अपने कुछ प्रिय हितों या मूल्यों और आदर्शों की प्राप्ति और रक्षा के लिए नेता के प्रति सम्मान प्रकट करता है, क्योंकि उसे यह विश्वास होता है कि उसके नेतृत्व में वह उन हितों या मूल्यों की प्राप्ति या रक्षा कर सकेगा। ऐसे हितों में अधिकतर आर्थिक, धार्मिक या आदर्शवादी हित होते हैं।

नेता के गुण. नेताओं और सामान्य व्यक्तियों में अन्तर किन्हीं दैवी गुणों के कारण नहीं होता। गोड्विन के कथनानुसार 'प्रवन्धक' और 'उपाधिधारी' प्रकार के नेता अधिक भारी और लम्बे होते हैं; परन्तु यह आवश्यक नहीं है। स्वार्ड ने विभिन्न कालिज के ११४ विद्यार्थी नेताओं और ११४ सामान्य विद्यार्थियों की वुद्धि-मापक अंकों द्वारा तुलना करके प्रमाणित किया कि नेताओं में से ७० प्रतिशत ने सामान्य विद्यार्थियों के औसत अंकों के बरावर या अधिक अंक प्राप्त किए, और इस प्रकार सामान्य विद्यार्थियों से अधिक वुद्धिमत्ता प्रदर्शित की। एक नेता में वुद्धिमत्ता, किसी काम को प्रारम्भ करने की क्षमता, वहिर्मुखता, आत्मविश्वास, उत्साह और सहानुभूति के गुणों का होना आवश्यक है।

नेता के कार्य. पिगर्स के अनुसार नेतृत्व परस्पर प्रेरणा प्रदान करने की प्रक्रिया है। जो व्यक्ति अधिक गतिशील, कर्मण्य और चतुर होते हैं और जिनमें सहानुभूति होती है वही जल्दी नेतृत्व संभाल सकते हैं। नेता ध्येयप्राप्ति के लिए एक योजना निर्धारित करता है, और उस योजना को कार्यान्वित करने की नीति भी नियत करता है। वह न केवल अपने समूह का प्रतिनिधि होता है और समूह के कार्यों को दिशा प्रदान करता है वल्कि समूह में एकता रखने का उत्तरदायित्व भी उसी पर होता है। अपने कर्मचारियों के चुनाव में उसे पूरी सावधानी से काम लेना होता है और निश्चय करना होता है कि वह किस-किस कार्य को अधिक सुचारु रूप से कर सकेंगे। उनके परस्पर सम्वन्धों पर नियन्त्रण रखना भी उसके लिए आवश्यक है। वह जहां अपने पदाधिकारियों या समूह के दूसरे सदस्यों को नियमोल्लंघन के लिए दण्ड देकर नियन्त्रण और व्यवस्था स्थापित करता है, वहां उत्साहवर्धन के लिए पारितोषिक और पदक इत्यादि भी प्रदान करता है। समूह के आन्तरिक द्वेषों और झगड़ों को सुलझाना, निर्णय करना, सुलह-सफाई करना, एक नेता का आवश्यक कार्य होता है। वह अपने कार्यों और जीवन को अनुकरणीय वना कर आदर्श उदाहरण उपस्थित

करता है। वह अपने समूह की एकता का, अपने आदर्श का और समूह की गतिविधि का प्रतीक भी होता है।

नेता की सफलता के साधन. एक नेता की सफलता के लिए उसका अपना व्यक्तित्व बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि वह जनता का विश्वास प्राप्त कर सके; इसके लिए वह योजनाएं और साधन भी प्रस्तुत करता है। अपने अनुयायियों की भावनाओं को वह कुछ विशेष उद्देश्यों की ओर केन्द्रित कर देता है और उनके क्रोध को एक शत्रु, एक श्रेणी या एक विरोधी आदर्श की ओर उन्मुख कर देता है। उदाहरणार्थ पूंजीपति, हिन्दू, मुसलमान अथवा साम्यवाद से घृणा सिखा कर नेता अपने विशिष्ट समूह में सम्मान प्राप्त करता है। प्रतीकों और चिन्हों द्वारा जैसे ध्वज, स्वस्तिक, हलाल, सलीब, चरखा इत्यादि प्रतीकों द्वारा और 'भारत छोड़ो', 'दिल्ली चलो' इत्यादि नारों द्वारा; लाल कुर्ती, खद्दर या ऐसे ही किसी विशेष पहनावे द्वारा; और क़वायद के नियमों, अभिवादन की प्रणालियों, प्रार्थनाओं और गीतों द्वारा भी समूह में एकता कायम रखना और समूह का विश्वास प्राप्त किए रखना नेता का कार्य होता है।

नेता और अनुयायियों का एक दूसरे पर प्रभाव. नेता का अपने अनुयायियों पर प्रभाव उसके सम्मान, समूह द्वारा उसकी पूजा और उसके विषय में समूह में प्रचारित किम्वदन्तियों के कारण होता है। यह किम्वदन्तियां उसके प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण फैल जाती हैं या फैलाई जाती हैं। सामान्य जनता पिता के प्रति अपने प्रेम और सम्मान की भावना को नेता में आरोपित कर देती है। इसी कारण मुस्तफ़ा कमाल को अतातुर्क (तुर्कों का पिता), गांधी जी को राष्ट्र-पिता और सनयातसेन को चीन का पिता कह कर सम्मानित किया जाता है। परन्तु नेताओं पर भी इस शक्ति का प्रभाव पड़ता है। मुसोलिनी ने शक्ति को हस्तगत करने के बाद जनता की इस आराधना से प्रेरित हो कर अपने कार्यक्रम को कुछ बदल दिया था।

नेता और सामाजिक परिस्थिति. नेता के उदय और सफलता के लिए परिस्थितियों का अनुकूल होना भी आवश्यक है। कई नेता अपने समय से अधिक प्रगतिशील होने के कारण असफल रहते हैं, परन्तु कितने ही समय और परिस्थिति द्वारा नेतृत्व की मांग होने पर भी नेतृत्व का विकास नहीं कर पाते। जब वास्तव में ही किसी अवस्था में परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव हो रही

हो, उस समय यदि एक ऐसे उचित नेता का, जो उस आवश्यकता को पूरा कर सकता हो, उदय हो जाय तभी नेतृत्व का विकास हो सकता है।

सामाजिक पुनर्निर्माण में नेता का महत्त्व. नेता और नेतृत्व के लक्षणों और प्रभाव का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि किसी भी समाज में नेता एक महत्त्वपूर्ण कार्य अदा करते हैं। यह भी सत्य है कि अनेक बार जनता ने गल्ती से धूर्त, स्वार्थी और अल्पबुद्धि व्यक्तियों को अपना नेता चुना है और उनकी गलतियों का घातक परिणाम भोगा है, फिर भी हम समाज से नेताओं को तिलांजलि नहीं दे सकते। आज के गतिशील और जटिल समाज में तो नेताओं की आवश्यकता, कार्य और महत्त्व बहुत ही अधिक बढ़ गया है। सामाजिक पुनर्निर्माण और आयोजन के लिए श्रेष्ठ, निःस्वार्थ, बुद्धिमान् नेताओं का होना परम आवश्यक है। समाज का यह कर्तव्य है कि वह सामान्य जनता में विद्यमान पर अविकसित नेतृत्व प्रतिभा के विकास की सुविधा जुटाये और साथ ही जनता में सही और श्रेष्ठ नेताओं को चुनने की उचित शिक्षा और समझ प्रदान करे।

सोलहवां अध्याय

संस्कृति का विकास

आज एक आधुनिक शहर में जो यह ऊंची-ऊंची इमारतें, उम्दा सड़कें, रेल, बस, ट्राम, मोटर, स्कूल, स्टोर, हस्पताल, सिनेमागृह, टेलीफोन, रेडियो, तार, मन्दिर, मस्जिद, पुल और कारखाने देखने में आते हैं, आखिर वह कहां से और कैसे आये? इसका एक सीधा सहज उत्तर तो यह है कि वह 'मनुष्य' कहे जाने वाले अभिमानी प्राणी के मस्तिष्क की उपज हैं, उसकी बुद्धि का चमत्कार हैं। परन्तु यह उत्तर बहुत भ्रान्त है, चूंकि इनमें से कोई भी वस्तु अकस्मात् और हठात् उत्पन्न नहीं हुई। इन सब के बनने में कम से कम पांच लाख वर्ष लगे हैं। उन ढांचों के पेंच और कड़ों का आविष्कार जिन पर कि यह सारा शहर खड़ा है, हजारों साल पहले हिमयुग में या उससे भी पहले हुआ था।

संस्कृति का संचय

आधुनिक शहर का निर्माण हजारों सालों के सांस्कृतिक संचय का परिणाम है। प्रारम्भिक औजार बनाने वाले पत्थरों को एक दूसरे से टकराकर छीलते थे, बाद में उन्होंने भार डालकर घिसने, खुरचने और छेदने के साधन विकसित किए। अन्ततोगत्वा हड्डियों, सींगों और हाथी दान्तों का औजारों के निर्माण में प्रयोग हुआ। बाद में तांबे और सोने जैसी धातुओं को पीटकर चपटा करने, और फिर धातुओं को गलाने, अलग करने और उनसे मिश्रित धातुएं बनाने का आविष्कार हुआ। इस तरह शनैःशनैः संस्कृति में वृद्धि हुई।

गणित की भाषा में वृद्धि के इस सिद्धान्त को इस भांति व्यक्त किया जा सकता है :

स = क + ख प

क एक मौलिक संस्कृति है, प उसके परिवर्तन को व्यक्त करता है, ख परिवर्तन के परिणाम को दर्शाता है, स परिणत संस्कृति है। इसी बात को हम सरल भाषा में ऐसे कह सकते हैं कि जल की बूंद-बूंद करके सागर भरता है, मिट्टी के कण-कण मिलकर पृथ्वी बनती है।

योग (Addition) द्वारा वृद्धि. संस्कृति की वृद्धि का नियम वृद्धि के अन्य नियमों के ही समान है। यदि संस्कृति में नये जुड़े तत्त्वों की संख्या विलीन हुए तत्त्वों की संख्या से अधिक रहती है, तो हम उसे संस्कृति में वृद्धि कहते हैं, अन्यथा संस्कृति का ह्रास हुआ या वह स्थिर रही ऐसा कहा जाता है। यह ठीक वैसे ही है जैसे कि ज्यों-ज्यों एक बच्चा बढ़ता है उसके पुराने जीव कोष मरते जाते हैं और उनका स्थान नये और अधिक जीवकोष ले लेते हैं। संस्कृति में यह नया तत्त्व आविष्कार कहलाता है। सामान्यतः हम आविष्कार का अर्थ एक नई यान्त्रिक विधि या युक्ति समझते हैं; पर समाज शास्त्र में हम अभौतिक आविष्कारों का भी समावेश करते हैं। उदाहरण के लिए आर्थिक क्षेत्र में संयुक्त पूंजी की कम्पनी और आयोजन, राजनैतिक-क्षेत्र में मन्त्रि-परिषद् और मतदानपत्र, कला और साहित्य के क्षेत्र में रवीन्द्रसंगीत और एकांकी नाटक, यह सब अभौतिक सामाजिक आविष्कार हैं। पर यह भी सही है कि भौतिक आविष्कार प्रायः जहां एक ओर उत्पादन की नई प्रणाली और प्रक्रिया को जन्म देते हैं वहां दूसरी ओर यह अपने प्रति नये दृष्टिकोण तथा समूह में नये विश्वासों और धारणाओं को जन्म देते हैं।

सामाजिक विरासत में दो प्रकार से वृद्धि हो सकती है : विद्यमान तत्त्वों की अधिकाधिक वृद्धि से अथवा नये तत्त्वों के प्रवेश से। उदाहरण के लिए यदि हमारे विदेशी व्यापार की मदों में कोई हेर-फेर नहीं होता पर उनका परिमाण बढ़ जाता है, तो यह वृद्धि पहले प्रकार की वृद्धि है। पर यदि इस में नई वस्तुओं के आविष्कार और उत्पादन से कुछ नई मदें आकर उसे बढ़ा देती है, तो वह दूसरे प्रकार की वृद्धि कहलायेगी।

संस्कृति के अल्प अंग ही लुप्त होते हैं. संस्कृति के विकास और वृद्धि में एक बात यह स्मरणीय है कि किसी भी ऐसे आविष्कार का, जिसकी कि उपयोगिता प्रदर्शित हो चुकी हो, प्रायः लोप नहीं होता। भाषा संक्रमण द्वारा उसे जीवित रखती है बावजूद इसके संस्कृति में कुछ हानियां अवश्य घटती हैं। भारतवर्ष में ही धनुर्विद्या से सम्बन्धित शस्त्रों तथा ढाका की प्रसिद्ध मलमल के निर्माण की कला आज लुप्त हो चुकी है। मिश्र में आज कोई ममियों की भांति मुर्दों को संरक्षित रखना नहीं जानता। पूर्वकाल की शिकारी संस्कृतियां आज शिकार पकड़ने, घेरने, फंसाने, मारने, मारे हुए पशुओं की खाल उतारने, कमाने, रंगने और उससे विविध वस्तु तैयार करने की हजारों विधियों को भूल चुकी हैं। पर हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि समस्त मानव-

संस्कृति की सम्वृद्धि की तुलना में यह हानियां नगण्य हैं। सांस्कृतिक गुणों के लोप का ठीक-ठीक निर्णय करना सुगम नहीं है। एक विलुप्त कला का केवल किसी पुस्तक में वर्णन हो सकता है, जब कि वास्तव में उसका कोई चिह्न नहीं मिलता। इसी तरह कोई कौशल बहुत थोड़े लोगों तक ही सीमित हो सकता है। किसी सांस्कृतिक क्षेत्र में लोप की यह प्रक्रिया बहुत धीमी और किसी में पर्याप्त तेज होती है।

अनेक वार संस्कृति में प्रतिस्थापन (Substitution) होता है, अर्थात् एक विद्यमान वस्तु के लिए ही कोई अन्य वस्तु प्रस्तुत की जाती है। इस प्रक्रिया को संस्कृतिवृद्धि के वजाय संस्कृतिपरिवर्तन या प्रतिस्थापन कहना अधिक उपयुक्त होगा। संस्कृति के विकास के लिए प्रतिस्थापन के अतिरिक्त नूतन वृद्धि भी अपेक्षित है। मोटर और रेल-गाड़ी ने घोड़े और वैल-गाड़ी को प्रतिस्थापित किया है, पर फिर भी यह अभी पूरी तरह घोड़े और वैलगाड़ियों को हटाने में समर्थ नहीं हुए हैं। मोटर, रेल, घोड़े, वैलगाड़ी सभी का प्रयोग हमारे देश में अभी हो रहा है। अतः प्रतिस्थापन के साथ हम यहां संचय भी देखते हैं। कभी-कभी एक या अनेक आविष्कारों को एक नया आविष्कार सर्वथा प्रतिस्थापित कर देता है। अनेक उद्योगों में विजली ने कोयले को पूर्णतः प्रतिस्थापित कर दिया है।

अभौतिक संस्कृति में संचय. संचय की प्रक्रिया केवल भौतिक संस्कृति तक ही सीमित नहीं है, वरन् अभौतिक संस्कृति पर भी वह पूर्णतः लागू होती है। रीतिरिवाजों, जनश्रुतियों, कला और साहित्य में निरन्तर वृद्धि होती रहती है। कभी इसकी वृद्धि का अनुपात प्रतिस्थापित तत्वों से कम और कभी अधिक होता है।

संस्कृति-संचय का सिद्धान्त इस वात को स्पष्ट करता है कि हम आज जिस संस्कृति का उपभोग कर रहे हैं, उसके पीछे हज़ारों-लाखों सालों के हज़ारों-लाखों मनुष्यों का श्रम और शक्ति लगी हुई है। हमें अपने पूर्वजों की तुलना में कहीं अधिक समृद्ध विरासत प्राप्त हुई है। दो हजार ई० पूर्व के भारतीयों की तुलना में दो हजार ई० पश्चात् के भारतीय कहीं अधिक समृद्ध संस्कृति का उपभोग कर रहे हैं, और आज से सौ साल वाद आने वाले उनके वंशज आज से कहीं समृद्धतर संस्कृति का उपभोग करेंगे।

निरन्तरता (Continuity) का सिद्धान्त

किसी भी नये आविष्कार या सांस्कृतिक गुण के विकास को समझने

के लिए विद्यमान का ज्ञान और परम्परा का ज्ञान आवश्यक है। वास्तव में किसी भी नये आविष्कार, तथा सांस्कृतिक गुण का मूल अवतक वर्तमान ज्ञान में निहित है, या दूसरे शब्दों में वह विद्यमान का ही वर्धमान रूप है। विद्युत् एक्सरे, हवाईजहाज, इस्पात तथा विविध वस्तुओं के निर्माण के पीछे सदियों का इतिहास है। हजारों वर्षों के छोटे-छोटे आविष्कारों के संचय ने इनके वर्तमान और जटिल निर्माण को संभव वनाया है। इस प्रकार मानव संस्कृति में हमें सर्वत्र ही नैरन्तर्य का तत्त्व दृष्टिगोचर होता है।

आज जटिलतम वस्तुओं का निर्माण करने के लिए हमें उस सुदीर्घ विकासवादी प्रक्रिया से नहीं गुजरना पड़ता, जिससे कि विभिन्न समयों में हमारे समुदाय के लोगों को गुज़रना पड़ा है। जो बातें उन्होंने सदियों में सीखीं वह हम ज्ञान के संक्रमण और हस्तान्तरित होने की कृपा से कुछ ही वर्षों में सीख लेते हैं। हम ऐसा इसीलिए कर सकते हैं, क्योंकि नैरन्तर्य द्वारा संचित ज्ञान का भण्डार विद्यमान है और हम उसे प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु वह ज्ञान जो आज एक निर्माता को आधुनिक वस्तुओं के निर्माण की क्षमता प्रदान करता है शायद उतना ही पुराना है जितना कि अधिजैविक का विकास। वास्तव में बिना संस्कृति के मनुष्य के लिए यह ज्ञान प्राप्त करना सर्वथा असंभव था।

निरन्तरता का सिद्धान्त 'दुनिया में कुछ भी नया नहीं है,' इस पुरानी कहावत को एक अर्थ प्रदान करता है। आगरे का ताजमहल या भाकरा का बांध देख हम दांतों तले उंगली दवा लेते हैं, उनके निर्माताओं की प्रतिभा की प्रशंसा करते नहीं थकते। पर यदि हम ज़रा शांति से सोचें तो हमें पता चलेगा कि १३वीं सदी के भारतीयों ने ताजमहल और २०वीं सदी के भारतीयों ने भाकरा बांध का निर्माण शून्य से नहीं कर लिया। उसमें सदियों के ज्ञानसंचय और विभिन्न विस्तृत संस्कृतियों का दान और सहयोग था। यही बात सामाजिक संस्थाओं और प्रथाओं के सम्बन्ध में भी सत्य है। उदाहरण के लिए इंग्लैण्ड में प्रजातन्त्र की स्थापना और स्थिरता कोई आकस्मिक घटना नहीं है, यह एक दीर्घ परम्परा का परिणाम है। इससे स्पष्ट है कि इतिहास के समुचित अध्ययन के विना किसी सामाजिक समस्या को सही-सही नहीं समझा जा सकता। भूत से वर्तमान का और वर्तमान से भविष्य का निर्माण होता है।

आविष्कार विकासवादी प्रगति की सीढ़ियां हैं। यदि कोई आविष्कारक किसी श्रेष्ठ वस्तु या संगठन का आविष्कार करता है या कोई यान्त्रिक या

सामाजिक सुधार करता है, तो यह तभी सम्भव हुआ है जब कि उसे मानव-जाति द्वारा तब तक अर्जित ज्ञान और अनुभव प्राप्त है। न्यूटन ने ठीक ही कहा है, "यदि मैंने आगे तक देखा, तो इसीलिए क्योंकि मैं विशालकाय कंधों पर खड़ा था।"

मिश्रित-फलीकरण (Cross-Fertilisation) का सिद्धान्त

विद्यमान ज्ञान से ही आविष्कारों का जन्म होता है, यह मिश्रित-फलीकरण के सिद्धान्त का मूल है जिससे कि हम सांस्कृतिक विकास और संचय की प्रक्रिया को समझ सकते हैं। मान लीजिये कि एक सामाजिक विरासत के क, ख, ग, घ, ङ यह पांच परस्पर अविभाज्य विभिन्न अंग हैं। यह क, ख, ग, आदि विभिन्न अंग पृथक्-पृथक् किसी एक विशेष विचार या तत्त्व का प्रतिनिधित्व करते हैं और कोई भी दो या अधिक अंग परस्पर मिल कर किसी नये आविष्कार को जन्म देते हैं। उदाहरण के लिए युद्धशस्त्रों के विकास में संस्कृति के एक विभाग रसायन-शास्त्र से बारूद का विचार लेकर और संस्कृति के दूसरे विभाग यन्त्र-शास्त्र (Mechanics) से वस्तु फेंकने की प्रणाली का विचार लेकर दोनों के सम्मिश्रण से गोला फेंकने वाली तोप का आविष्कार हुआ है। माचिस के आविष्कार से पूर्व पत्थर और लोहा टकरा कर तथा एक सींख बीच में लगा कर जो कि आग पकड़ लेती थी, आग जलाई जाती थी। बाद में इस सींख को गंधक में डुबाया जाने लगा ताकि वह जल्दी आग पकड़ सके। अन्ततोगत्वा उस पर एक अन्य रासायनिक पदार्थ लगा दिया गया जिसको रगड़ने से ही आग निकलने लगी और इस तरह आधुनिक माचिस आविष्कृत हुई। इसी तरह डार्विन के विकासवाद का सिद्धान्त अर्थशास्त्र के माल्थस के जनसंख्या-सिद्धान्त और प्राणिशास्त्र के सिद्धान्तों के मिश्रण का परिणाम था।

मिश्रित-फलीकरण सदैव ही नये विचारों के उद्गम का स्रोत रहा है जो कि भौतिक और अभौतिक दोनों क्षेत्रों में हमारी संस्कृति को समृद्ध करते हैं। यह तथ्य विभिन्न विज्ञानों के निकट सम्पर्क और परस्पर आदानप्रदान के महत्त्व के ऊपर भी प्रकाश डालता है।

प्रसार (Diffusion)

आविष्कारों के लिए एक सामाजिक विरासत के विभिन्न भागों से ही विचार नहीं आते, वरन् अनेक बार उनका आगमन दूसरी संस्कृतियों से होता है। संस्कृति-गुणों का एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र को यह स्थानान्तरण प्रसार कहा जाता है।

सभ्यता के विकास को सही-सही समझने के लिए यह समझना जरूरी है कि लोगों के समूह विभिन्न सांस्कृतिक क्षेत्रों में रहते हैं। संस्कृति का विकास समग्र संसार में एक साथ और एक गति से न हो कर विभिन्न छोटे-छोटे क्षेत्रों में होता है। इसी लिए हमें वर्मी, चीनी और जापानी संस्कृतियां देखने को मिलती हैं। किसी सुदूर भविष्य में शायद समस्त विश्व एक संस्कृति वन सके, पर फिलहाल इसके कोई चिन्ह दिखाई नहीं देते। फिर भी विभिन्न सांस्कृतिक क्षेत्र एक दूसरे से विल्कुल पृथक् नहीं हैं। उनके वीच घनिष्ठ और निरन्तर सम्पर्क है। यही कारण है कि एक स्थान के आविष्कार दूसरे स्थान में अपना लिए जाते हैं। रेल पहले-पहल इंग्लैण्ड में वनी, पर धीरे-धीरे संसार के सभी देशों ने उसे अपना लिया। इन देशों में स्वतन्त्र रूप से उस का आविष्कार नहीं हुआ। विभिन्न देशों में रेल का प्रचार और प्रवेश प्रसार का ही परिणाम था।

संस्कृति में स्व-आविष्कृत तत्त्वों का अभाव. किसी भी क्षेत्र में वहां के स्व-आविष्कृत तत्त्वों का अनुपात कुल संस्कृति की तुलना में वहुत कम होता है। लिन्टन ने इस तथ्य को एक अमेरिकन की दिनचर्या देकर वड़े सुन्दर ढंग से स्पष्ट किया है :

"हमारा ठेठ अमेरिकन नागरिक उस चारपाई से सो कर उठता है जो उस नमूने की वनी है जिसका निकटपूर्व में जन्म हुआ और जिसका अमरीका में संक्रमण होने के पूर्व उत्तरी योरोप में संशोधन हुआ। वह उन पर्दों को हटाता है जो भारत में उगी कपास, या निकटपूर्व में उगी लिनन या वहीं उत्पन्न भेड़ों की ऊन, या उस सिल्क के वने होते हैं जिनकी कि खपत सर्वप्रथम चीन में हुई थी। यह सभी चीजें उन प्रक्रियाओं से काती या वुनी जाती हैं जो कि निकटपूर्व में ही आविष्कृत हुई। वह उन आरामजूतों में पैर डाल देता है जिनका आविष्कार पूर्वी जंगलों के रेड इंडियनों ने किया, वह उस गुसलखाने में घुसता है जिसमें लगी चीजें योरोप और अमरीका के आधुनिक आविष्कारों का मिश्रण हैं। वह अपना पाजामा, वह पोशाक जिसका कि आविष्कार भारत में हुआ है, निकालता है और उस सावुन से धोता है जिसका आविष्कार गाल लोगों ने किया था। वह फिर हजामत वनाता है, इस आत्म-पीड़न रीति को उसने स्वभावतः सुमेर या प्राचीन मिश्र से लिया प्रतीत होता है।

"कमरे में लौट कर वह दक्षिणी योरोपीय किस्म की कुर्सी से अपने कपड़े उतार कर उन्हें पहनने चलता है। वह ऐसी पोशाक पहनता है जो एशियन मैदानों के वनजारों से ली गई है, उन जूतों को डालता है जिनकी

कि खाल प्राचीन मिश्र में आविष्कृत प्रक्रिया से कमाई गई है और जिसकी काट भूमध्य सागर की प्रसिद्ध सभ्यताओं से मिलती है; वह अपनी गर्दन में एक चमकीली रंगीन पट्टी बांधता है जो कि सत्रहवीं सदी के क्रोटियन लोगों द्वारा कन्धों पर डाले जाने वाले शालों का अवशेष है। नाश्ते पर जाने से पहले वह एक बार उस खिड़की से झांक कर देखता है जो कि मिश्र में आविष्कृत शीशे से बनी हुई है और अगर वर्षा हो रही है तो वह केन्द्रीय अमरीका के आदिवासियों द्वारा खोज की गई रबड़ के बने जूते पहनता है और दक्षिण-पूर्व एशिया में बने छाते को लगाता है। अपने सिर पर वह एशिया के मैदानों में बने एक पदार्थ से बनी फैल्ट का हैट लगाता है।

"नाश्ते पर जाते हुए रास्ते में वह एक अखबार खरीदता है और उसकी कीमत का भुगतान, सिक्कों से जो कि लीड़िया का आविष्कार है, करता है। रेस्तरां में उसे दूसरों से उधार ली गई वस्तुओं की एक नई सूची का सामना करना पड़ता है। उसकी प्लेट चीन में आविष्कृत बर्तन के नमूने की बनी है। उसका लोहे का चाकू, एक मिश्रित धातु से जो सब से पहले दक्षिणी भारत में आविष्कृत हुई, बना है, उसका कांटा मध्यकालीन इटली का आविष्कार है, और उसका चम्मच मूल रोम के नमूने का संशोधित रूप है। वह भूमध्यसागर के संतरे, फारस के खरबूजे या अफ्रीका के तरबूज के टुकड़े से अपना नाश्ता शुरू करता है। इसके साथ वह अबिसीनिया के एक पौधे से बनी काफ़ी, क्रीम और चीनी डालकर पीता है। गौओं को पालने और उनका दूध दुहने—दोनों का विचार निकट पूर्व में उदित हुआ, जबकि चीनी सब से पहले भारत में बनी। फल और काफ़ी के बाद वह स्केन्डिनेवियन विधि से एशिया माइनर में उपजाई गेहूं से बनी वैफिल केक की ओर हाथ बढ़ाता है। उसके ऊपर वह मेपल का शर्बत, जिसका कि आविष्कार पूर्वी जंगलों के अमरीकी आदिवासियों ने किया है, डाल लेता है। साथ में वह हिन्दचीन में पाले जाने वाली एक चिड़िया की जाति का एक अण्डा ले लेता है, अथवा उस जानवर के गोश्त के टुकड़े ले लेता है जो कि पूर्वी योरोप में पाला गया है और जिसे उत्तरी योरोप में विकसित प्रणाली द्वारा नमक और धूंआ लगाया गया है।

"हमारा दोस्त खाना खत्म करने के बाद या तो वर्जीनिया के आदिवासियों से अपनाए पाइप या मेक्सिको से ली हुई सिगरेट, जिस में कि ब्राजील में उत्पन्न एक पौधे की पत्तियां पड़ी हुई हैं, पीने बैठ जाता है। यदि वह काफ़ी दिलेर है तो एक सिगार आजमाता है, जो हमारे पास स्पेन के रास्ते ऐन्टिल्स

से आया है। पाइप, सिगरेट या सिगार पीते-पीते वह दिन की खबरों पर नजर दौड़ाता है जो कि जर्मनी में आविष्कृत अक्षरों से छपी हैं। जैसे ही वह विदेशी झंझटों के विवरण पढ़ता है, यदि वह एक अनुदारदली नागरिक है, एक यहूदी देवता को एक हिन्दी-आर्यन भाषा में धन्यवाद देता है कि वह एक शतप्रतिशत अमेरिकन है।"

लिन्टन का यह उद्धरण जितना एक सामान्य अमेरिकन के सम्बन्ध में उपयुक्त है, एक पाश्चात्य सभ्यता से विशेष प्रभावित आधुनिक भारतीय के सम्बन्ध में भी उससे कम उपयुक्त नहीं है।

आधुनिक अमरीका की सामाजिक विरासत वहां इंग्लैण्ड, स्पेन और अन्य योरोपीय देशों से ले जाई गई है। उस सामाजिक विरासत की कुछ वस्तुएं जैसे कि आलू, मक्का, कई प्रकार के खाने और लड़ने के तरीके, अमेरिकन आदिवासियों से ग्रहण किये गये हैं। इंग्लैण्ड और फ्रांस ने इटली की संस्कृति से बहुत कुछ सीखा है। जब कि इटली ने स्वयं बहुत कुछ ग्रीस से ग्रहण किया है। ग्रीक लोगों ने बहुत कुछ क्रीट से और स्वयं क्रीट ने बहुत कुछ मिश्र से पाया है। मिश्र स्वयं दजला और फरात की घाटी की सभ्यता का बहुत ऋणी है और दजला और फरात की सुमेरियन-सभ्यता, भारतीय सभ्यता और चीनी सभ्यताओं में परस्पर घनिष्ठ सम्पर्क था, ऐसा विद्वानों का मत है। इससे स्पष्ट है कि एक क्षेत्र ने अन्य क्षेत्रों से कितने ही सांस्कृतिक तत्त्वों को ग्रहण किया है।

पृथक्करण (Isolation) प्रसार के मार्ग में बाधक. वास्तव में किसी क्षेत्र की संस्कृति अन्य क्षेत्रों की संस्कृति के अंशों के आयात से ही समृद्ध होती है। वह क्षेत्र जो कि किन्हीं कारणों से दूसरी संस्कृतियों के सम्पर्क में नहीं आ पाते, सभ्यता की दौड़ में बहुत पीछे रह जाते हैं। सम्पर्क यातायात और संवादवहन की सुविधाओं के न होने के कारण दूरस्थित द्वीपों या दुर्गम वन्य और पर्वतीय प्रदेशों में प्रायः ऐसा ही होता है। हमारे ही देश में हिमालय पर्वतश्रेणी और आसाम के वनों के कुछ दुर्गम प्रदेशों की संस्कृति बहुत पिछड़ी हुई है। इसका प्रधान कारण उनका पृथक्करण ही है।

सांस्कृतिक वृद्धि की दर

संस्कृति-वृद्धि की तेज गति

प्रसार और पृथक्करण संस्कृति-वृद्धि की तेज और धीमी गति पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। प्रागैतिहासिक काल में संस्कृति के विकास की गति

बहुत धीमी रही होगी। उस समय के प्राप्त पत्थर के हथियारों में संशोधन और परिवर्धन करने में हजारों या दसों हजार साल लग गये। प्राचीनतम पाषाण-संस्कृति शैलन संस्कृति थी जो कि शायद पचास हजार साल से अधिक समय तक कायम रही। इसकी प्रगति अत्यन्त धीमी थी। शैलन-संस्कृति के प्रारम्भ में हमें एक साधारण नुकीली कुल्हाड़ी के दर्शन होते हैं, जिसकी लम्बाई मंझली, शक्ल दोनों हथेलियों को मिलाकर बादाम जैसी, धार टूटी थी। इस संस्कृति के अन्तिम चरण में यह कुल्हाड़ी अधिक लम्बी और गोलाई लिए हुए बनने लगी, पर इसकी धार अभी भी टूटी ही रही। इस युग के मानव के अवशेष हमें नहीं मिलते। अतः हो सकता है कि मनुष्य का अपरिपक्व प्राणिक विकास प्रगति की इस मन्द गति के लिए उत्तरदायी रहा हो।

किन्तु अब से पन्द्रह-बीस हजार साल पहले परवर्ती हिमयुग का मनुष्य आधुनिक मानव के समान ही था। परवर्ती संस्कृति में भी भद्दे-खुरदरे औजार मिलते हैं। कहीं नवपाषाण युग में जाकर आज से लगभग पांच हजार साल पहले चिकने पत्थरों के औजारों के दर्शन होते हैं। भोंडे, खुरदरे औजारों से चिकने औजारों तक पहुंचने में दस हजार साल से ज्यादह लग गये। यद्यपि अन्य दिशाओं में तत्कालीन पाषाण संस्कृतियों ने, विशेष कर विभिन्न प्रकार के पत्थर, हड्डी और हाथी दांत के औजार और उपकरण बनाने में बहुत उन्नति की।

इससे स्पष्ट है कि प्रारम्भ में संचय की गति बहुत ही धीमी थी। नवपाषाण युग में वह कुछ तेज हुई। परवर्ती कालों में तांबे से कांसे और कांसे से लोहे के प्रयोग के साथ इसकी गति तीव्रतर होती चली गई। अन्ततः, ऐतिहासिक काल, विशेषकर उन्नीसवीं और बीसवीं सदी में तो इसकी गति में अनुपम वृद्धि हो गई। १८३० में रेल, १८८० में ट्राम, और १९०० ई० में बस का आगमन हुआ। आज दशकों, वर्षों और कभी-कभी महीनों में बड़े-बड़े परिवर्तन घट जाते हैं। कम से कम भौतिक वस्तुओं के आविष्कारों की गति तो बहुत ही तीव्र हो चुकी है। प्रसिद्ध मानवशास्त्री लोई ने इस परिवर्तन को निम्न रूपक द्वारा बड़ी सुन्दरता से चित्रित किया है :

"हम मानवजति की प्रगति की उस सौ साल के मनुष्य से तुलना कर सकते हैं, जो अपने जीवन के पचासी साल तक किन्डरगार्टन में भटकता रहता है, दस साल प्राइमरी पास करने में लगा देता है, तत्पश्चात् बिजली की गति से मिडिल स्कूल, हाई स्कूल और कालेज पार करता चला जाता है।"

वृद्धिदर में अन्तर के कारण

एक समय कुछ लोग मनुष्य की मानसिक क्षमता की वृद्धि को सामाजिक विरासत की वृद्धि का कारण समझते थे। यदि मानसिक क्षमता में प्राणिक विरासत और सीखे ज्ञान दोनों का समावेश है, तो यह बात ठीक है। वस्तुतः जो चमत्कार आज का मानव सम्पन्न कर सकता है, वह क्रोमायोंग मानव द्वारा संभव नहीं था। इसका कारण आधुनिक मानव में जन्मजात योग्यता का आधिक्य न होकर अर्जित ज्ञान का प्राचुर्य है। वास्तव में पिछले बीस हजार सालों में मनुष्य की जन्मजात क्षमता में शायद कुछ भी अन्तर नहीं पड़ा है। अतः हमें संस्कृति वृद्धि की दर के अन्तर के कारण प्राणिक क्षेत्र से बाहर ढूंढने होंगे।

विद्यमान ज्ञान और आविष्कार की दर में सम्बन्ध. संस्कृति की वृद्धि का एक कारण विद्यमान ज्ञान और आविष्कार की दर का क्रियात्मक सम्बन्ध है। प्रत्येक आविष्कार अनेक विद्यमान तत्त्वों के सम्मिलन का परिणाम होता है। उदाहरण के लिए, हवाईजहाज़ का आविष्कार इन्टरनल कम्बशन ऐंजिन पर निर्भर था। कलन (Calculas) का आविष्कार विश्लेषणात्मक ज्यामिति पर आश्रित था।

एक आविष्कार को ज्ञात तत्त्वों का एक नया सम्मिलन भी कहा जा सकता है। टेलीग्राफ़ बैटरी, इलैक्ट्रो-मैगनेट और तार का सम्मिलन है। मिट्टी के वर्तन, मिट्टी, पानी' गर्मी, रंग और अन्य चीज़ों का सम्मिलन हैं। इसी तरह एक मोटरकार को बनाने में पेट्रोलऐंजिन, तरल इंधन के पात्र, रनिंग गीयर और उसके उपकरण, बीच का क्लच, चलाने के स्टीयरिंग और मोटर की बॉडी इन छः प्रधान आविष्कारों का हाथ था। और फिर प्रत्येक पूर्व आविष्कार स्वयं पूर्व विद्यमान तत्त्वों के संयोग का परिणाम था। उदाहरण के लिए, इंटरनल कम्बशन ऐंजिन, स्वयं दवाव के सिद्धान्त, बिजली की चिनगारी और व्यवधान (Gap) तथा पानी की नली की शीतल व्यवस्था का संयोग था।

गुहावासी मानव विरल आविष्कारक था, इसका बड़ा कारण उसका अत्यल्प अर्जित ज्ञान था। आज का मानव महान् आविष्कारक है, इसका प्रधान कारण उसके पास सदियों से संक्रमित और उसके द्वारा अर्जित ज्ञान का होना है, यद्यपि उसकी जन्मजात योग्यता में एक गुहावासी मानव की तुलना में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ा है।

व्याख्यात्मक सिद्धान्त (Exponential Principle)

पुरानी भौतिक संस्कृति के वर्तमान संचय तथा यान्त्रिक आविष्कारों के बीच एक निर्विवाद कार्य-कारण सम्बन्ध है, तथ्य इस बात की पुष्टि करते हैं। पुरापाषाणकाल में यह संचय बहुत अल्प था, परिणामतः, आविष्कार भी बहुत अल्प थे। पर जैसे-जैसे संचय बढ़ा, अधिकाधिक खोजें हुईं, विद्यमान ज्ञान का भंडार बढ़ता गया और आविष्कारों की गति भी अधिकाधिक बढ़ती गई।

इस तथ्य को हम मिश्रित व्याज की वृद्धि की भांति एक व्याख्यात्मक वक्ररेखा से दर्शा सकते हैं। मान लीजिए १०० रु० पर एक साल में ५ रु० व्याज मिलता है। हर साल व्याज के जुड़ने से मूल राशि बढ़ती जाती है। एक साल के अन्त में वह १०५ रु०, दो साल के अन्त में ११० रु० ४ आने, तीसरे साल के अन्त में ११५ रु० १२ आ० हो जाती है। हर साल वृद्धि की दर ५ रु० से कुछ ज्यादा ही होती जाती है। किन्तु एक समय पश्चात् मूल के साथ-साथ व्याज भी एक बड़ी रक़म बन जाता है। और १०० साल के बाद जुड़ने वाले व्याज की रक़म ५ रु० के बजाय, लगभग १,००० रु० हो जाती है।

इस व्याख्यात्मक परिवर्तन को किसी के पूर्वजों के गुणन के उदाहरण से भी समझाया जा सकता है। पूर्वज भी इसी नियम से, पर अधिक तेज़ी से बढ़ते हैं। इसके अनुसार एक व्यक्ति के चार बाबा, आठ दादा और सोलह पड़-दादा होंगे। यदि इसी संख्या को १,००० ई० पू० तक ले जाया जाय तो शायद उसके पूर्वजों की संख्या दसियों लाख में पहुंच जायगी।

पूर्वजों के गुणन का सिद्धांत केवल एक अनुमान मात्र है। अन्तःप्रजनन के कारण किसी व्यक्ति के उतने पूर्वज नहीं होते जितना कि गणित हमें बताती है। वास्तव में मिश्रितव्याजनियम की भांति व्याख्यात्मक वक्ररेखा भी एक प्रवृत्ति की ही परिचायक है, अक्षरशः सत्य नहीं है। किन्तु यह तो स्वीकार करना पड़ेगा कि योग द्वारा वृद्धि का विचार हमें संस्कृति के विकास को हृदयंगम करने में पर्याप्त सहायता प्रदान करता है।

व्याख्यात्मक वक्ररेखा केवल एक अनुमान. संस्कृति की वृद्धि का स्वभाव एक अनुमानमात्र है और इसको लागू करते समय दो बातों का ध्यान रखना बहुत जरूरी है। पहली तो यह कि आधुनिक युग में रीति-रिवाजों के सम्बन्ध में भौतिक आविष्कारों की तुलना में यह कम सही उतरता है, क्योंकि आधुनिक युग में जनरीति में परिवर्तन की गति अपेक्षाकृत बहुत धीमी है। दूसरी बात यह, कि समग्र संसार की तुलना में व्याख्यात्मक सिद्धान्त का अनुमान किसी

स्थानीय संस्कृतिक्षेत्र पर कम लागू होता है । यदि भारतवर्ष, दुनिया से बिल्कुल अलग एक भूखण्ड होता तो यहां संस्कृति की वृद्धि स्वभावतः मिश्रित ब्याज की भांति होती, पर चूंकि यह सम्पर्क के साधनों द्वारा समस्त विश्व से जुड़ा हुआ है, इसलिए यहां पर वृद्धि की दर कई गुणा मिश्रित हो गई है। यातायात और संवादवहन के आविष्कार विशेपरूप से संस्कृति वृद्धि की गति को अत्यन्त बढ़ा देते हैं । १९वीं शती के मध्य में पाश्चात्य देशों के सम्पर्क में आने से जापान में संस्कृति वृद्धि की दर असाधारण रूप से बढ़ गई और यही कारण है कि उससे पहले वहां पांच हज़ार सालों में जितनी वृद्धि नहीं हुई थी, उससे कहीं अधिक उसके बाद के पचास सालों में हो गई।

सांस्कृतिक वृद्धि की दर में अन्तर के कारण

संस्कृति की वृद्धि का अनियमित स्वभाव. संस्कृति कभी मन्द तो कभी तीव्र गति से बढ़ती है । यदि इसके विकास की गति व्याख्यात्मक सिद्धान्त के अनुसार हो तो इसके विकास की गति निरन्तर तीव्रतर होती रहनी चाहिए थी । उसके धीमा होने का प्रश्न ही नहीं उठता ।

प्रसार एक बाधक कारण. प्रसार की प्रक्रिया सदैव समान गति से कार्य नहीं करती । कभी उसकी गति मन्द तो कभी तीव्र होती है और तदनुसार ही वह संस्कृति की वृद्धि की दर को प्रभावित करती है ।

सब आविष्कारों का महत्त्व समान नहीं होता. परिवर्तन की गति के तेज़ से मन्द पड़ जाने का एक कारण यह है कि सभी यान्त्रिक या सामाजिक आविष्कारों का समान महत्त्व नहीं होता । उदाहरण के लिए वाष्प-शक्ति और लोहे के आविष्कार अत्यधिक महत्त्वपूर्ण थे जिन्होंने कि विकास की गति को बहुत तेज़ कर दिया । पर महत्त्वपूर्ण आविष्कार एक निश्चित अवधि के अन्तर से नहीं होते, अतः उनके आगमन की अनियमितता संस्कृति की वृद्धि की दर में पर्याप्त हेर-फेर उत्पन्न कर देती है ।

आप किसी भी एक वस्तु के संशोधन क्रम को ले लीजिये, चाहे वह बन्दूक हो या वाहन, आपको यही अनियमितता दृष्टिगोचर होगी । पर जब एक संस्कृति का निर्माण करने वाले हज़ारों क्रमों को जोड़ा जाय, तो यह अनियमितताएं कुछ कम दृष्टिगोचर होंगी, क्योंकि व्यवहारतः इनमें से अनेक एक दूसरे की पूरक सिद्ध होंगी । अतएव समग्र रूप से संस्कृति की वृद्धि का क्रम निरन्तर बढ़ता ही रहता है, घटता नहीं ।

संस्कृति वृद्धि की विभिन्न कल्पनाएं

चक्रीय (Cyclical) कल्पना. कुछ विद्वान् सांस्कृतिक परिवर्तन को एक चक्र के रूप में व्यक्त करते हैं। ओस्वाल्ड स्पेंगलर इनमें प्रमुख हैं। उन्होंने ग्रीस, रोम, स्पेन, हालैण्ड, भारत इत्यादि देशों के उदाहरण देकर संस्कृति के उत्थान-पतन को समझाने का प्रयत्न किया है। यह लेखक हमारी तरह सामाजिक विरासत के अर्थ में संस्कृति शब्द का प्रयोग नहीं करते। विभिन्न लेखकों की संस्कृति के सम्बन्ध में विभिन्न कल्पनाएं हैं और इनमें से कोई भी संस्कृति में भौतिक संस्कृति का समावेश नहीं करता। वास्तव में संस्कृति के किसी एक विभाग में परिवर्तन की गति पर्याप्त धीमी और तेज़ होती रहती है। निःसंदेह कला, साहित्य और संगीत के विकास की गति में पर्याप्त अन्तर पड़ता रहता है, पर यही बात भौतिक आविष्कारों के विकास के सम्बन्ध में भी लागू होती है।

साम्राज्यवादी कल्पना. कुछ विद्वान् संस्कृति के उत्थान पतन को साम्राज्यों के उत्थान पतन के साथ संयुक्त करने का प्रयत्न करते हैं। ऐल्फरेड जिमरन इनमें प्रमुख है। निःसंदेह साम्राज्यों के पतन राजनीति, शिक्षा कला इत्यादि विभागों को बहुत प्रभावित करते हैं किन्तु भौतिक संस्कृति के विभागों पर इसका अधिक प्रभाव नहीं पड़ता।

अध्यात्मवादी कल्पना. कुछ अन्य विद्वान् आध्यामिकता के रूप को ही सांस्कृतिक परिवर्तन की कुंजी मानते हैं। पीत्रिम, सोरोखिन इनमें प्रमुख हैं। इनके अनुसार कला और सामाजिक संगठन के आदर्शात्मक पहलुओं का संतुलित एकीकरण संस्कृति के सृजन के लिए आवश्यक है। यह भी संस्कृति में भौतिक संस्कृति का समावेश नहीं करते। इनमें अधिकांश वह लोग हैं जो आधुनिक सभ्यता की ऐहिकता से उकता चुके हैं और आध्यामिकता के उत्कर्ष में ही विश्व का कल्याण देखते हैं।

वास्तव में संस्कृति को कलाओं से मिला देना और अभौतिक संस्कृति की उपेक्षा करना बड़ी भूल है। कला और साहित्य की अवनति के युग में भी प्रायः भौतिक संस्कृति में निरन्तर वृद्धि होती रही है।

बहुत बार हम संस्कृति के नेतृत्व के अपहरण को उसका सांस्कृतिक क्षय मान लेते हैं। पेरीक्लीज के समय के ग्रीस अथवा गुप्तकालीन भारत को हम कला, साहित्य, दर्शन की दृष्टि से अवश्य उन्नत कह सकते हैं। परन्तु यदि

हम समग्र संस्कृति पर ध्यान दें, तो हमें आज की ग्रीक और भारतीय संस्कृति उस समय से कहीं अधिक समृद्ध और उन्नत दिखाई देंगी।

संस्कृतियों की तुलना

विभिन्न क्षेत्रों की भौतिक और अभौतिक संस्कृति की तुलना कर हम यह जान सकते हैं कि उनमें से किस क्षेत्र की संस्कृति अधिक उन्नत है! निर्विवाद रूप से वह संस्कृति जिसमें लेखनकला विकसित है, जिसके द्वारा ज्ञान का संरक्षण सम्भव है, उस संस्कृति की तुलना में जहां लेखनकला का विकास नहीं हुआ है, अधिक विकसित है। संस्कृतियों की तुलना करते समय श्रेष्ठ और निकृष्ट शब्द का प्रयोग उचित नहीं है, क्योंकि इन शब्दों में नैतिक स्वीकृति या अस्वीकृति का भाव छिपा हुआ है। जिस पर एकमत होना बहुत कठिन है। पर संस्कृतियों की तुलना करते समय इस बात पर एकमत हुआ जा सकता है कि एक संस्कृति में विद्यमान ज्ञान उसे अन्य संस्कृतियों के ज्ञान की तुलना में अधिक कार्य करने की क्षमता प्रदान करता है। उदाहरणार्थ पत्थर के औजारों वाली संस्कृति की तुलना में लोहे के औजारों वाली संस्कृति निःसंदेह अधिक कार्य सम्पन्न कर सकती है। इस अर्थ में एक संस्कृति को दूसरी संस्कृति से श्रेष्ठ कहा जा सकता है।

इस बात को एक उपमा देकर भी समझाया जा सकता है। मान लीजिए समस्त संस्कृतियां एक दौड़ प्रतियोगिता में भाग ले रही हैं। यदि उनकी प्रगति मिश्रित ब्याज नियम या व्याख्यात्मक सिद्धान्त के अनुसार हो तो विकसित संस्कृतियां असाधारण गति से आगे बढ़ जायेंगी और पिछड़ी संस्कृतियों को बहुत पीछे छोड़ जायेंगी। यदि हम यह मान लें कि दोनों संस्कृतियों में वृद्धि और ह्रास की दर समान है, तो उन्नत और पिछड़ी संस्कृतियों के बीच का अन्तर निरन्तर अधिकाधिक होता जायेगा। इस भांति ऐस्किमो संस्कृति की तुलना में योरोपियन संस्कृति कहीं आगे बढ़ गई है और यह उन्नति बिना किसी वंशानुगत मानसिक योग्यता की वृद्धि के सम्पन्न हो सकती है।

पर व्यावहारिक जगत् में व्याख्यात्मक सिद्धान्त के अनुसार वृद्धि के मार्ग में कई बाधाएं हैं, जिनमें कि प्रसार प्रमुख है। उदाहरणार्थ भारत में अंग्रेजों के तथा जापान में कमोडोर पेरी के आगमन से पूर्व सांस्कृतिक वृद्धि की गति पर्याप्त मन्द थी पर उनके प्रवेश ने इन देशों की सांस्कृतिक वृद्धि की दर में असाधारण रूप से वृद्धि कर दी। इसी तरह एक समय तक ग्रीस सभ्यता का अग्रदूत रहा और

अपेक्षया तीव्र गति से प्रगति करता रहा। पर जैसे ही उसने इटली के प्रायद्वीप पर अपने उपनिवेश स्थापित किए, वहां के लोगों को इस सम्पर्क से एक विशेष सुविधा प्राप्त हुई और वह शीघ्र ही ग्रीस के सांस्कृतिक तत्वों को ग्रहण कर उसके समकक्ष पहुंच गये। एक बार एक पिछड़ी संस्कृति का उन्नत संस्कृति से सम्बन्ध स्थापित होने पर, वह अन्य प्रभावों के कारण उन्नत संस्कृति से आगे निकल सकती है। रोम में ऐसा ही हुआ।

सांस्कृतिक दर को प्रभावित करने वाले कारण

सामाजिक संगठन. संस्कृति की वृद्धि और विशेषकर राज्य के विकास में सामाजिक संगठन का बड़ा हाथ होता है। यदि सरकार भली-भांति संगठित है, शांति और सुरक्षा विद्यमान है, ऐसी अवस्था शिल्प, कला, व्यापार और उद्योग की उन्नति के लिए अनुकूल है। इसका परिणाम आविष्कारों की वृद्धि होता है। युद्ध का परिणाम दोहरा होता है। एक ओर युद्ध आविष्कारों को प्रोत्साहित करते हैं, दूसरी ओर विजित प्रदेशों के शासन के लिए कुशल और कार्यक्षम सरकार की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त, विजित प्रदेशों से प्राप्त हरजाने और लूट का विजेता देश अपने देश में उत्पादक पूंजी के रूप में प्रयोग कर सकते हैं। भारत में अंग्रेजी राज्य की कहानी इस तथ्य पर अच्छा प्रकाश डालती है कि किस प्रकार भारत से हथियाई पूंजी ने अंग्रेजी उद्योगों की नींव रखने में योगदान दिया। इसके विपरीत, युद्ध किसी समाज को अंशतः या पूर्णतः विश्रृङ्खल, विगठित, छिन्न-भिन्न व एवं क्लान्त कर सकता है। इस तरह युद्ध एक क्षेत्र में संस्कृति के विकास में सहायता और दूसरे क्षेत्र में बाधा उपस्थित करते हैं। इससे स्पष्ट है कि किसी भी राष्ट्र का सामाजिक संगठन सभी दिशाओं में बहुत दूर तक उसके समाज की प्रगति को नियन्त्रित और निर्धारित करता है।

भौगोलिक स्थिति. संस्कृति की वृद्धि और विकास पर भौगोलिक स्थिति का भी प्रबल प्रभाव पड़ता है। भूमध्यसागर के पूर्वीय छोर के निकट के प्रदेशों, एशिया माइनर, सिंधु, गंगा, यमुना और यांगसीक्यांग के काठे में सभ्यता के प्रारम्भिक विकास पर भौगोलिक स्थिति का प्रभाव स्पष्टतः अंकित है। नील, दजला, फरात, सिंधु, गंगा, यांगसीक्यांग नदियों में पर्याप्त दूरी तक नावें चलाई जा सकती थीं। ऐजियन सागर के द्वीपों का परस्पर अन्तर और थल से उनकी दूरी भी अधिक न थी। इसके अतिरिक्त, वहां की भूमि उर्वरा और जलवायु समशीतोष्ण था। ऐसी स्थिति में इन प्रदेशों में कृषि, पशुपालन

कुटीर-शिल्प पर आधारित संस्कृति का द्रुत विकास और आविष्कारों को प्रोत्साहन स्वाभाविक था। स्वभावतः एशिया के घोड़े के पालन, उत्तरी ग्रीस के पहिए के आविष्कार, अफ्रीका के तांबे और लोहे के आविष्कार तथा एशिया-माइनर की वर्णमाला ने भूमध्यसागर के पूर्वीय छोर पर समृद्ध संस्कृति की स्थापना की।

भौगोलिक स्थिति के सम्बन्ध में एक बात स्मरणीय है कि इसकी अनुकूलता या प्रतिकूलता भी विद्यमान सांस्कृतिक अवस्था के अनुसार परिवर्तित होती रहती है। उदाहरण के लिए बड़ी नौकाओं और जहाजों के आविष्कार के पश्चात् भारतीय प्रायद्वीय संस्कृति के विकास के अधिक अनुकूल होगया और समस्त एशिया की संस्कृति का केन्द्रस्थल और व्यापार का प्रमुख संस्थान बन गया।

वाष्पशक्ति और बृहत् मैशीनों के आविष्कार के पूर्व उपजाऊ मैदान संस्कृति के विकास के अधिक अनुकूल थे। पर इनके आविष्कार ने वेल्स, स्काटलैण्ड और उत्तरी इंग्लैण्ड के कोयले और लोहे की खानों के उजड़े हुए प्रदेश को औद्योगिक विकास का महत्त्वपूर्ण क्षेत्र बना दिया। अमरीका में योरोपियन प्रवासियों के आगमन से पूर्व वहां के रैडइंडियन धातुओं और यान्त्रिक शक्ति के ज्ञान के अभाव में प्रकृति द्वारा प्रदत्त अमूल्य और प्रचुर खनिज पदार्थों का उपयोग करने में सर्वथा असमर्थ थे और आर्थिक दृष्टि से बहुत ही पिछड़े हुए थे। प्रवासियों ने आकर उनका उपयोग किया और एक समृद्ध अमेरिकन संस्कृति का निर्माण किया।

नस्ल और संस्कृति. एक समय कुछ विद्वानों ने नस्ल के आधार पर संस्कृति की प्रगति को समझाने का प्रयत्न किया था। पर हमें यह न भूलना चाहिए कि इतिहास में कभी किसी तो कभी किसी क्षेत्र ने संस्कृति की दौड़ में नेतृत्व किया है। नेतृत्व के इस परिवर्तन में स्थिति, प्राकृतिक साधन, प्रसार की संभावनाएं, यातायात की अवस्था, भौतिक संस्कृति का प्रभाव प्रमुख कारण हैं। अतः हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि संस्कृतियों की प्रगति के अन्तर में नस्ल कोई कारण नहीं है।

आधुनिक सभ्यता में परिवर्तन की दर

भविष्य में परिवर्तन की क्या संभावित दर होगी? यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। कुछ लोग आज के युग को परिवर्तन का युग मानते हैं। उनके वक्तव्य से कुछ ऐसा भाव झलकता है कि आज से पूर्व की संस्कृति स्वभावतः

अगतिशील थी। इस सम्बन्ध में इतना कहना ही पर्याप्त है कि किसी भी काल और किसी भी समाज की संस्कृति कभी भी अगतिशील नहीं रही है। अन्तर केवल इतना ही है कि प्राचीन काल की तुलना में आधुनिक युग में संस्कृति के परिवर्तन की गति बहुत ही तीव्र हो गई है। वास्तव में पिछले कई हजार वर्षों में कभी भी कोई अगतिशील समाज नहीं रहा है। यदि अगतिशीलता का अर्थ मनुष्य के जीवन-काल में परिवर्तन का न होना मान लिया जाय, तो जब तक लेखन-कला का उदय नहीं हुआ था और मनुष्य की स्मृति ही ज्ञान के संरक्षण का एकमात्र साधन थी, ऐतिहासिक प्रयोजन की दृष्टि से समाज को अगतिशील ही कहा जा सकता था। किन्तु आज तो मनुष्य के जीवन-काल में ही विपुल यान्त्रिक और सामाजिक परिवर्तन घटित हो जाते हैं। यहां तक कहा जाता है कि अनेक बार तो पिता और पुत्र ही एक-दूसरे की भाषा नहीं समझ पाते।

भौतिक आविष्कार द्रुत-परिवर्तन का एक कारण. संस्कृति के परिवर्तन में यान्त्रिक या अन्य आविष्कारों तथा पूर्व विद्यमान आविष्कारों का प्रसार प्रधान कारण हैं। आज के किसी भी देश में यान्त्रिक आविष्कार की प्रगति मन्द होती दिखाई नहीं देती। इसका अनुमान पेटन्टों तथा नई-नई वस्तुओं के निर्माण की बढ़ती संख्या से लगाया जा सकता है। यद्यपि प्रत्येक पेटन्ट नया आविष्कार नहीं कहा जा सकता फिर भी इसे हम गौण आविष्कार कह सकते हैं। यह ठीक है कि महत्त्वपूर्ण आविष्कारों की प्रगति की दर में परिवर्तन हो सकते हैं, पर इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि विद्यमान नये आविष्कार स्वयं ही सामाजिक परिवर्तनों को उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त हैं।

जहां तक अभौतिक संस्कृति के परिवर्तनों को मापने का सम्बन्ध है हमारे पास पेटन्ट जैसा कोई मापदण्ड नहीं है। अतः अभौतिक संस्कृति के पतिवर्तनों की भविष्योक्ति एक कठिन कार्य है। फिर भी इतना कहा जा सकता है कि अनेक भौतिक आविष्कार ही स्वयं सामाजिक आविष्कारों के लिए उत्तरदायी हैं। उदाहरणार्थ बड़ी मशीनों ने श्रमिकों के मुआवजे के कानून को जन्म दिया। इसके अतिरिक्त, एक सामाजिक आविष्कार, जो कि स्वयं यान्त्रिक आविष्कार का परिणाम नहीं है, अन्य सामाजिक आविष्कारों के लिए उत्तरदायी होता है, जैसे संयुक्तपूंजी की कम्पनियों ने सीमित उत्तरदायित्व को जन्म दिया है।

प्रसार और परिवर्तन की दर. यातायात और संवादवहन के साधनों द्वारा आविष्कार एक स्थान से दूसरे स्थान को संक्रमित होते हैं। एक देश से

दूसरे देश में प्रसार वहां पर प्रगति की दर को बढ़ाता है। पर अधिक प्रसार का एक दूसरा परिणाम भी हो सकता है, वह यह कि विभिन्न क्षेत्रों में सांस्कृतिक विभेद बहुत कुछ मिट जायं और इस भांति एक सामान्य सार्वभौम संस्कृति का निर्माण हो सके। जहां तक संस्कृति एक-दूसरे के समान होंगी, उनसे उद्भूत आविष्कार भी प्रायः समान ही होंगे। ऐसी स्थिति में आविष्कारों की तेज़ दर की संभावना की जा सकती है।

इसके अतिरिक्त, कुछ अन्य बातें भी कुछ अंश में अविष्कारों को प्रभावित करती हैं। विशाल प्रयोगशालाएं, विशेषज्ञ वैज्ञानिक, सरकारी सहायता और प्रोत्साहन भी आविष्कार की दर को प्रभावित करते हैं।

निरन्तर द्रुत परिवर्तन की सम्भावना. क्या मानव की आविष्कारों की क्षुधा कभी शान्त न होगी ? यह एक मनोरंजक पहेली है। कुछ व्यक्तियों का कहना है कि मनुष्य अपनी भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये लगभग समस्त ही अपेक्षित वस्तुएं प्राप्त कर चुका है। कुछ लोग यही बात शायद अशोक के भारत में भी कह सकते थे। सत्य यह है कि मनुष्य की आवश्यकताएं निःसीम हैं, उनका वैचित्र्य और परिमाण आंका नहीं जा सकता। एक आवश्यकता के पूर्ण होते ही एक अन्य नई आवश्यकता आ जन्मती है। एक लेखक का तो यहां तक कहना है कि अभी भी मानवता को कम-से-कम १५०० आविष्कारों की तो बहुत ही ज़रूरत है। हम इतना ही कह सकते हैं कि विद्यमान संस्कृति के रुकने के कोई चिन्ह नज़र नहीं आ रहे हैं। इसके विपरीत भविष्य में उसके तीव्रतर होने की ही अधिक सम्भावना है।

सत्रहवा अध्याय

सांस्कृतिक विकास में बाधाएं

संस्कृति में अपरिवर्तन के कारण. सांस्कृतिक विकास के कारणों को समझना जितना आवश्यक है, उसके अपरिवर्तन या अल्प और मन्द परिवर्तन के कारणों का अध्ययन भी उससे कम महत्वपूर्ण नहीं है। वैसे तो प्रत्येक संस्कृति में अल्पाधिक परिवर्तन होते ही रहते हैं। प्रश्न केवल उनकी गति का है।

आज के युग में तेजी से परिवर्तन घट रहे हैं। यहां तक कि उन्हें लेकर ही विभिन्न देशों में अनुदार, पुराणपंथी और सुधारक क्रान्तिकारी राजनैतक बन गये हैं। इनमें से एक वर्ग तो सामाजिक परिवर्तन की गति को रोक कर रखना चाहता है और दूसरा वर्ग उसकी तीव्रता का समर्थक है। प्रगति के इस प्रतिरोध की प्रक्रिया का अध्ययन समाजशास्त्र के विद्यार्थियों के लिए विशेष महत्त्व रखता है।

सांस्कृतिक विकास के मार्ग में दो प्रधान बाधाएं हैं : सापेक्षतया आविष्कारों का अभाव और समूह द्वारा उन्हें अपनाने की अनिच्छा। इन दोनों कारणों पर हम क्रमशः विचार करेंगे।

आविष्कारों का अभाव

आज भी आधुनिक सभ्यता के प्रभाव से दूर कुछ ऐसे द्वीप और दुर्गम प्रर्वत प्रदेश हैं जहां के निवासी आज भी उसी भांति रहते हैं जिस भांति की वह आज से तीन सौ या चार सौ साल पहले रहते थे। आखिर इसका क्या कारण है ? आविष्कारों की विरलता ही इसका उचित उत्तर है। अन्य संस्कृतियों के आविष्कार भी प्रसार द्वारा वहां नहीं पहुंच पाते।

आविष्कारों के लिए आवश्यक चीजें. आविष्कार एक कठिन कार्य है। किसी भी आविष्कार के लिए तीन चीजों का विद्यमान होना परम आवश्यक है। पहला, आविष्कार के लिए आवश्यक तत्त्वों का ज्ञान और उपस्थिति; दूसरा, आविष्कार की मांग और तीसरा, आविष्कार को बनाने की मानसिक क्षमता।

१. आविष्कार के लिये आवश्यक तत्त्वों का ज्ञान और उपस्थिति. एक आविष्कार विद्यमान सांस्कृतिक ज्ञान का एक नया संयोग है। उदाहरणार्थ

विद्यमान मैगनट, तार, ढकनियों और विद्युत् धारा के ज्ञान के नये संयोग से ही टेलीफोन का आविष्कार संभव हो सका। प्रायः नये आविष्कार का श्रेय किसी एक व्यक्ति को दिया जाता है, पर वास्तव में एक आविष्कार के पीछे अनेक आविष्कारों का योग-दान छिपा रहता है। आज अमरीका में एक आरण्यक कबीले की तुलना में अत्यधिक आविष्कार होते हैं। इसका प्रधान कारण अमरीकन संस्कृति की विपुल सांस्कृतिक तैयारी है जब कि आरण्यक संस्कृतियों में उसका अत्यन्त अभाव है। इसी लिए आरण्यक संस्कृतियों में बहुत कम आविष्कार होते हैं। सांस्कृतिक तैयारी की कमी सांस्कृतिक विकास के मार्ग में एक बड़ी बाधा है।

मध्य युग की तुलना में आज आविष्कारों का अनुपात असाधारण रूप से बढ़ गया है। कुछ लोग इसका कारण मानसिक क्षमता की वृद्धि मानते हैं। जहां तक आनुवंशिक मानसिक योग्यता का प्रश्न है, वह तो मध्ययुग की तुलना में आज भी ज्यों की त्यों ही है, हां यदि हम उसमें शिक्षा द्वारा अर्जित योग्यता को भी सम्मिलित करें तो दूसरी बात है। शिक्षा द्वारा अर्जित योग्यता तो स्वयं सांस्कृतिक वृद्धि का परिणाम है। अतः आज अधिक आविष्कारों का कारण न तो मनुष्य की अधिक मानसिक योग्यता ही है और नहीं उसकी अधिक आवश्यकताएं ही हैं वरन् उसकी अधिक सांस्कृतिक तैयारी है।

२. आविष्कारों की मांग. मानवीय आवश्यकताएं ही आविष्कारों के विकास को प्रभावित नहीं करतीं बल्कि उनमें संस्कृतिविशेष के सामाजिक मूल्यांकन, धारणाओं और रुचियों का भी बड़ा हाथ होता है। उदाहरणार्थ मनीपुर के आदिवासियों में नृत्य का बहुत महत्त्व है, परिणामतः वहां विविध प्रकार के नृत्यों का आविष्कार हुआ। गृह्यसूत्रकालीन भारतवासियों को कर्मकाण्ड बहुत प्रिय था, परिणामतः उन्होंने अनेक प्रकार के याज्ञिक क्रिया-कलापों को जन्म दिया। स्पार्टावासी बहुत युद्धप्रिय थे, अतः वहां युद्ध के शस्त्रों के आविष्कार को विशेष प्रोत्साहन मिला। यह तथ्य केवल आविष्कारों पर ही नहीं, प्रत्युत शिक्षा पर भी लागू होता है। मध्यकाल में शिक्षा का उद्देश्य प्रायः पुरोहित बनना होता था। धर्म का प्रभाव उसके लिए उत्तरदायी था। आज हमारे आकर्षण का केन्द्र भौतिक और सामाजिक विज्ञानों का अध्ययन हो गया है। सामाजिक मूल्याङ्कन में परिवर्तन ही इसका प्रधान कारण है।

किसी वस्तु की केवल मांग होने से ही वह निर्मित नहीं हो जाती। प्राचीन काल में रोगों और प्राकृतिक विपदाओं से सुरक्षा की मांग आज से

कहीं अधिक प्रबल थी, फिर भी प्राचीन लोग इनके उपचार की दिशा में अधिक कुछ न कर सके। अपर्याप्त सांस्कृतिक तैयारी इसका मुख्य कारण थी। आज यद्यपि रोगों और प्राकृतिक विपदाओं का भय कम हो गया है, फिर भी इस दिशा में निरन्तर आविष्कार होते जा रहे हैं। इसका श्रेय आज की असाधारण सांस्कृतिक तैयारी को ही है।

इसके विपरीत, जहां सांस्कृतिक तत्त्वों का प्राचुर्य हो, वहां आविष्कारों के उदय में मांग प्रमुख कारण है। उदाहरणार्थ हवाई जहाज के आगमन ने कोहरे के संकट से सुरक्षा की मांग की। परिणामस्वरूप इस दिशा में पच्चीस नये आविष्कार प्रस्तुत किये गये। आज हमारे पास इतना अधिक वैज्ञानिक ज्ञान है कि विभिन्न संस्कृति-विभागों में मांग का परिवर्तन विभाग-विशेष में विपुल परिवर्तन ला सकता है। अतः किसी एक विभाग में आविष्कारों का अभाव अंशतः उस विभाग के प्रति उपेक्षापूर्ण सामाजिक मूल्यांकन के कारण होता है।

३. **मानसिक योग्यता**. निःसंदेह आविष्कार के लिए पर्याप्त मानसिक योग्यता अपेक्षित होती है। पर ऐडिसन कहा करता था कि आविष्कारों में प्रतिभा से अधिक कठोर श्रम की आवश्यकता पड़ती है। यह भी द्रष्टव्य है कि हमारे अनेक आविष्कार, जैसे कि दो पत्थरों से टकराकर आग निकालना, केवल आकस्मिक घटना के परिणाम हैं। यही नहीं, आज भी प्रयोगशालाओं में बहुत से अप्रत्याशित आविष्कार अकस्मात् हो जाते हैं।

साधारण जनता की यह धारणा है कि आवश्यक मानसिक क्षमता होने से किसी भी समय किसी भी वस्तु का आविष्कार किया जा सकता है। यह बात सच हो सकती थी, यदि मानसिक योग्यता कोई अपरिमित पदार्थ होती। किन्तु मानसिक योग्यता की यह धारणा विशेषतः निश्चित सांस्कृतिक अवस्थाओं में सही नहीं है। वास्तव में आविष्कारों के उद्गम में मानसिक योग्यता को अनुचित महत्त्व दे दिया गया है।

इस सम्बन्ध में जन्मजात मानसिक योग्यता और अर्जित योग्यता में भेद करना आवश्यक है। ऐसा माना जाता है कि कुछ व्यक्तियों में अन्य व्यक्तियों की तुलना में अधिक मानसिक योग्यता होती है। व्यक्तियों की जन्म जात आविष्कार करने की क्षमता को हम एक वक्ररेखा द्वारा प्रदर्शित कर सकते हैं जो कि घंटीनुमा (Bell-shaped) बनेगी। यदि ऊपर के आधे भाग के लोगों को आविष्कार करने योग्य माना जाय, तो आज भारतवर्ष में लगभग

१३ करोड़ व्यक्ति आविष्कार करने की क्षमता रखते हैं। यदि एक प्रतिशत लोगों को भी आविष्कार करने की सामर्थ्य से युक्त मान लिया जाय, तब भी भावी आविष्कारों की संख्या ३ लाख ६० हज़ार बैठती है। बावजूद इसके हमारे यहां कुछ सौ ही व्यक्ति ऐसे हैं जिन्हें आविष्कारक कहा जा सके।

इसका एक प्रधान कारण यह है कि समाज उन समस्त व्यक्तियों को जिनमें आविष्कार करने की क्षमता है आवश्यक शिक्षा और सुविधाएं प्रदान नहीं करता, अथवा यदि उन्हें शिक्षा भी प्राप्त है, समाज उन्हें आविष्कार करने के लिए प्रोत्साहन नहीं देता। अतः किसी भी समाज में आविष्कारों के अभाव का कारण जन्मजात मानसिक योग्यता की कमी न होकर आविष्कारों के प्रति उपेक्षा है। जब कि जन्मजात योग्यता हमें प्राप्त है उसे उचित शिक्षा और अभ्यास द्वारा उन्नत किया जा सकता है।

भारत और स्विट्ज़रलेंड के लोग एक ही नस्ल के हैं, उनकी जन्मजात मानसिक योग्यता समान है। फिर भी दोनों देशों में प्रतिव्यक्ति आविष्कार की दर में अपार अन्तर है। इसका कारण भारत में आविष्कार करने की योग्यता रखनेवाले व्यक्तियों की आवश्यक शिक्षा के प्रति उपेक्षा अथवा आविष्कार के लिए अन्य आवश्यक सहायक तत्वों का अभाव ही कहा जा सकता है।

स्वीकार्य आविष्कार बनाने की कठिनाई

किसी वस्तु का आविष्कार एक दीर्घ प्रक्रिया है। ओग्बर्न और गिलफिलैन ने एक आविष्कार के निर्माण में छः अवस्थाएं गिनाई हैं। पहली, आविष्कार का विचार अस्पष्ट या स्पष्ट रूप में आविष्कर्ता के मन में उठता है। दूसरी, उस विचार को विकसित किया जाता है। तीसरी, उसके सिद्धांत को समझाने के लिए एक रेखाचित्र या माडल बनाया जाता है। बहुत से आविष्कार इस अवस्था से आगे नहीं बढ़ पाते। मैसूर राज्य में हाल ही में एक पुराना हस्तलिखित ग्रंथ प्राप्त हुआ है जो सम्भवतः सत्रहवीं शती का है। इसमें वायुयान के रेखा चित्र बने हुए हैं। इससे सिद्ध होता है कि उसका लेखक आविष्कार की तीसरी अवस्था तक तो पहुंच गया पर अन्य आवश्यक ज्ञान के अभाव में वह अपने विचार को कार्यान्वित न कर सका। चौथी, आविष्कार को प्रयोग शाला में कार्य करने योग्य बना दिया जाता है। पांचवीं, उसमें और सुधार किये जाते हैं ताकि कोई उसे खरीद सके। उपभोक्ता द्वारा अपनाये जाने के लिए

यान्त्रिक आविष्कार के टिकाऊपन, सरलता, सुरक्षा, मितव्ययिता और मरम्मत होने की सुविधाएं आवश्यक हैं। छठी, एक बार उपभोक्ता द्वारा आविष्कार के स्वीकार किये जाने पर भी उसको अधिकाधिक लोकप्रिय बनाने के लिए उसमें कुछ समय तक निरन्तर सुधार होते रहते हैं।

बहुत से आविष्कारों को उपर्युक्त समस्त अवस्थाओं में से गुजरने की जरूरत नहीं पड़ती। फिर भी व्यवहारतः सभी आविष्कारों में उनके उपयोग द्वारा निरंतर कुछ न कुछ सुधार होते रहते हैं। सामाजिक आविष्कारों को भी इस क्रम की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि उनकी उपयोगिता के प्रदर्शन के लिए सामाजिक स्वीकृति की आवश्यकता पड़ती है। वयस्कमताधिकार अपनाने के बाद ही एक सामाजिक आविष्कार बन सका।

किसी भी यांत्रिक आविष्कार की स्वीकृति के लिए उसकी उपयोगिता का प्रदर्शन अपरिहार्य हो जाता है। उन देशों में जहां कि अविकसित आविष्कारों के पेटंट कराने की सुविधा है, सैकड़ों ऐसे विचार पेटेंट किये जाते हैं जो कि कभी कार्यान्वित नहीं हो पाते। १९२७ में लकड़ी के बुरादे से चीनी बनाने का आविष्कार हुआ। आज उसका नाम भी सुनने में नहीं आता। आविष्कारों की तेज मृत्यु-दर का कारण उनकी प्रारम्भिक कमियां ही नहीं, वरन् उनके श्रेष्ठ और सस्ते स्थानापन्न भी होते हैं।

आविष्कारों की स्वीकृति में बाधाएं

भौतिक, अभौतिक दोनों आविष्कारों का विरोध

आविष्कार हो जाने के बाद भी लोग उन्हें सदैव एकदम नहीं अपना लेते। पास्तुर ने जब सर्वप्रथम कीटाणुओं से रोगों के फैलने के सिद्धांत का प्रतिपादन किया तो लोगों ने उसे पागल कहा। हार्वी ने जब रक्तसंचार का विचार अपने समकालीन चिकित्सकों के सम्मुख रखा तो चिकित्सकवर्ग ने उसका प्रबल विरोध किया। एडवर्ड प्रथम के राज्य में कोयले का जलाना निषिद्ध कर दिया गया और एक नागरिक को इस आज्ञा के उल्लंघन के अपराध में फांसी दे दी गयी। रेल, मोटर और टैलीग्राफ जैसी उपयोगी वस्तुओं तक का प्रारम्भ में प्रबल विरोध हुआ।

सामाजिक आविष्कारों का विरोध सर्वज्ञात है। हमारे यहां सत्याग्रह के सामाजिक आविष्कार का पहले-पहल लोगों ने पर्याप्त विरोध किया। ज़मींदारी-

उन्मूलन व प्रस्तावित हिन्दू कोड के विरुद्ध किया जाने वाला आन्दोलन भी इसी कोटि में आता है। इंग्लैण्ड में स्त्रीमताधिकार के विरुद्ध सौ साल से अधिक आन्दोलन चला। कारखानों में मज़दूरों के काम करने के घंटे और उन पर नियन्त्रण करने के कानून बनाने में पचास वर्ष से अधिक लग गये।

यह एक विचित्र विडम्बना है कि मानवता के लिए वरदानसम कुछ यान्त्रिक और सामाजिक आविष्कारों का प्रारम्भ में प्रबलतम विरोध हुआ है, यहां तक कि उनको लेकर भीषणतम रक्तपात तक हुआ है। रोग के कीटाणु का सिद्धान्त, श्रम बचाने वाली मैशीनें, रेलें, आय-कर, स्त्री-मताधिकार, बाल्य-श्रम का निषेध, दासता और जमींदारी का उन्मूलन, प्रतिनिध्यात्मक-शासन और प्रजातन्त्र—यह सब ऐसे ही आविष्कार थे।

परिवर्तन के प्रतिरोध की प्रवृत्ति का अध्ययन हमें विशिष्ट सामाजिक समस्याओं को भली भांति समझने में पर्याप्त सहायता प्रदान कर सकता है। अतः उन प्रतिरोधों का संक्षिप्त विवेचन उपयोगी होगा।

प्रारम्भिक कमियों के प्रति असहिष्णुता. अधिकांश आविष्कारों में प्रारम्भ में पर्याप्त कमियां होती हैं। बहुत बार वह बार-बार बिगड़ जाते हैं, अथवा उनकी सरलता से मरम्मत नहीं हो सकती अथवा वह अपना कार्य बहुत सुचारु रूप से सम्पन्न नहीं कर सकते। उदाहरणार्थ, आधुनिक सिनेमा-चित्र शुरू-शुरू में बहुत ही भोंडे और भद्दे थे। इनमें से अधिकांश कमियों को शीघ्र ही दूर किया जा सकता था, यदि जनता का रुख उनके प्रति सहानुभूतिपूर्ण होता, वह थोड़ा सब्र करती और उचित आर्थिक सहायता प्रदान करने को उद्यत होती। दूसरे शब्दों में, सांस्कृतिक आविष्कारों के प्रति यदि लोग अधिक सहिष्णु होते तो परिवर्तन की गति को अधिक तीव्र किया जा सकता था।

समाज में अव्यवस्था उत्पन्न करने वाले आविष्कारों का विरोध. संस्कृति के कुछ अंश एक-दूसरे से इतने घनिष्ठतया सम्बन्धित होते हैं कि एक आविष्कार यदि उसके एक भाग को प्रभावित करता है, तो अन्य भाग भी अनिवार्यतः उससे प्रभावित होते हैं। यह बात यान्त्रिक और सामाजिक दोनों ही आविष्कारों पर समान रूप से लागू होती है। यदि आज रेलों की रफ्तार में असाधारण वृद्धि कर दी जाय तो उसके लिए सिग्नलों के बीच के अन्तर, ब्रेकों की शक्ति, घुमावों की परिधि, ऊंचाई, मोड़ों के कोणों, पुलों के खम्भों आदि सभी में आमूल-चूल परिवर्तन करना होगा। इसी भांति स्त्रियों के कार-

खानों, दुकानों और दफ्तरों में कार्य करने का प्रभाव बच्चों, नौकरों, स्कूलों, पति-पत्नी के सम्बन्धों, रीति-रिवाजों, सामाजिक जीवन, मनोरंजन, स्त्री-शिक्षा, विवाह और स्त्री-शिक्षा के प्रति दृष्टिकोण आदि अनेक बातों पर पड़ेगा। एक रिवाज और सामाजिक संगठन का बदलना रेल की रफ्तार बढ़ाने से आसान काम नहीं है। आधुनिक तुर्की के निर्माता कमाल अतातुर्क का वहां रीति रिवाजों, लिपि और विवाह संस्था को बदलने का कार्य किसी उत्पादन के साधनों के विराट् परिवर्तन से कम महत्त्वपूर्ण न था।

यह उदाहरण दूसरे सांस्कृतिक क्षेत्र से किसी आविष्कार को अपनाने की कठिनाइयों की ओर भी संकेत करता है। एक पिछड़ी हुई संस्कृति में किसी उन्नत संस्कृति के एक आविष्कार का आयात अनेक कठिनाइयों को जन्म देता है, जबकि मिलती-जुलती संस्कृतियों से कुछ ग्रहण करने में यह कठिनाई उपस्थित नहीं होती। इस विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आविष्कार की सहज स्वीकृति के लिए आवश्यक है कि वह विद्यमान सामाजिक व्यवस्था में कम से कम व्याघात उत्पन्न करे।

स्थानापन्न अपनाने की कठिनाई

नई रीतियों की तुलना में पुरानी रीतियों का पालन अधिक सुगम होता है। इसीलिए प्रत्येक संस्कृति में पुरानी रीतियों के जीवित रहने की प्रवृत्ति विद्यमान रहती है। यह अवशिष्टता (Survival) प्रायः हमारी सांस्कृतिक जड़ता की सूचक होती है। किन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि सभी अवशिष्टताएं बिल्कुल निरर्थक नहीं होती। उदाहरणार्थ आधुनिक युग में भले ही अधिकांश पढ़े लिखे हिन्दुओं के लिए धार्मिक दृष्टि से होली और दीवाली के त्योहारों का कोई महत्त्व न रहा हो, पर आज भी यह त्योहार ऋतुपरिवर्तन के पश्चात् आनन्द, मनोरंजन, मेल-मिलाप, सम्मिलित खान-पान की सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। और यही कारण है कि वह अबतक हमारे साथ हैं। इसके अतिरिक्त, सांस्कृतिक आविष्कार केवल एक ही नहीं अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं।

आर्थिक लागत

किसी भी आविष्कार को सफल और लोकप्रिय बनाने के लिये उसके प्रति विद्यमान अन्धविश्वास या अज्ञान को दूर करने में धन की आवश्यकता पड़ती है। यदि किसी आविष्कार के प्रयोग की प्रति इकाई लागत इतनी है कि

उपभोक्ता से वसूल किया जा सके और उस पर कुछ लाभ उठाया जा सके तो उसको अपनाना सुगम हो जाता है। वहुत से उपयोगी और आवश्यक आविष्कार इसी लिए उपयोग में नहीं लाये जा सकते कि उनकी लागत नहीं निकल पाती। इसके विपरीत, वह आविष्कार जिनसे शीघ्र ही अधिक लाभ की आशा होती है शीघ्र अपना लिए जाते हैं। यहां यह तथ्य स्मरणीय है कि लागत कोई स्थिर चीज नहीं है। अनेक अवस्थाओं में आविष्कार का अधिकाधिक प्रयोग ही लागत को घटा सकता है।

अज्ञान

अज्ञान प्रगति और परिवर्तन का सवसे वड़ा शत्रु है। प्रारम्भ में लोग लोहे के हल को अपनाने में हिचकते थे। उनकी धारणा थी कि लोहा भूमि और वीज को क्षति पहुंचायेगा। यान्त्रिक आविष्कारों के प्रति संदेह का सीधा सरल उत्तर परीक्षण है। किन्तु सामाजिक आविष्कारों के सम्वन्ध में यह प्रयोगशाला का परीक्षण संभव नहीं है। प्रादेशिक या पेशेवर प्रतिनिधित्व, अथवा कौन प्रणाली प्रजातन्त्र के विकास और स्थिर शासन के लिए अधिक उत्तम है. यह ऐसे प्रश्न हैं जिनका कोई निर्विवाद उत्तर नहीं दिया जा सकता। किन्तु जव व्यक्तिगत वस-सर्विसों के स्वामी यह कहते हैं कि सरकारी वस-सर्विस उनकी तुलना में अक्षम और अमितव्ययी सिद्ध होगी, तो उसमें उनका वर्गीय स्वार्थ निहित होने के कारण उनके वक्तव्य पर सरलता से विश्वास नहीं किया जा सकता।

सामाजिक परिवर्तन का प्रतिरोध और स्वभाव की प्रकृति

एक देश के लोग जव दूसरे देशों में जाकर स्थायी रूप में वस जाते हैं वह अपने मूल देश के खान-पान और वेश-भूषा को त्याग उपनिवेश के रीति रिवाज ग्रहण नहीं कर पाते। पुरानी पड़ी आदतों या स्वभाव से ही इस तथ्य को समझाया जा सकता है। इस तरह आदत से ही किसी आदत की कैफियत दी जा सकती है।

वूढ़ों की अनुदारता. वच्चों और वयस्कों की तुलना में वूढ़े सदैव ही अधिक अनुदार होते हैं। वच्चे वहुत शीघ्रता और सुगमता से नई आदतें, और नई रीतियां सीख जाते हैं क्योंकि उनकी कोई पुरानी पकी आदतें नहीं होतीं जिन्हें वदलने में उन्हें विशेष कष्ट या कठिनाई अनुभव हो। यही कारण है कि अनुदार रूसी किसानों के वह वच्चे जिन्हें सोवियत सरकार ने अपनी शिशु-शालाओं और स्कूलों में पाला और शिक्षा दी, अपने पूर्वजों की आदतों से मुक्त होगये।

मन का स्वभाव. पूर्व अनुभव के आधार पर एक व्यक्ति अपने जीवन-दर्शन का निर्माण करता है, जिसे वह परिवर्तित परिस्थितियों में शीघ्र ही नहीं बदलता। सामाजिकदर्शन एक मानसिक जीवनकाल की आदतें हैं। बूढ़ों के विचार प्रायः अनेक वर्ष पूर्व निर्मित धारणाएं होती हैं जो कि समाज में परिवर्तन होने के बावजूद परिवर्तित नहीं हुई होती हैं। विभिन्न सामाजिक प्रश्नों पर युवकों और बूढ़ों द्वारा लिए गये मत इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। बूढ़ों के राजनैतिक दलों के चुनाव में भी यह अनुदारता परिलक्षित होती है। यही नहीं, दल विशेष के साथ बंधे रहने में भी बूढ़े व्यक्ति अधिक अनुदार होते हैं, जब कि युवक राजनैतिक दलों को बदलने में विशेष झिझक नहीं दिखाते। आयु बढ़ने के साथ-साथ व्यक्तियों की धारणाएं अधिकाधिक बद्ध होती जाती हैं। स्ट्रॉंग ने मनुष्यों के मानसिक अध्ययन से यह परिणाम निकाला कि १५ से २५ वर्ष की आयु की तुलना में २५ से ६५ की आयु में पसन्द, नापसन्द, रुचियां और आकांक्षाएं बहुत कम बदलती हैं।

परिवर्तन के विरुद्ध धारणायें

कुछ व्यक्ति परिवर्तन और क्रांति के पक्ष में हो सकते हैं जब कि कुछ अपरिवर्तन और विद्यमान व्यवस्था के। फिर भी सैद्धान्तिक रूप से यह कहा जा सकता है कि सामान्य मनुष्य में परिवर्तन की तुलना में सुरक्षा की चाह अधिक प्रबल है। कुछ ऐसी भावनात्मक धारणाएं हैं जो कि परिवर्तन के विरुद्ध हैं, जिनमें से निम्न प्रमुख हैं।

नवीनता का भय. किसी नये यान्त्रिक आविष्कार या सामाजिक नीति के परिणाम के बारे में आशङ्का व भय नये साधनों और नीतियों के अपनाने में बहुत बाधक होते हैं। पर परिवर्तन के प्रति व्यक्तियों की यह धारणा संस्कृति के समस्त विभागों के लिए एक समान नहीं होती। उदाहरणार्थ हमारे यहां लोग धर्म की तुलना में शिक्षा के क्षेत्र में नये परीक्षण करने के लिए अधिक उद्यत हैं। फैशन के सम्बन्ध में तो यह उद्यतता, उत्साह और लत का रूप धारण कर चुकी है।

अतीत की पूजा. अतीत के प्रति श्रद्धा का भाव सामाजिक प्रगति के मार्ग में एक अन्य बाधा है। पुरानी परम्पराओं और संस्थाओं के प्रति हम सम्मान की भावनाओं के सूत्रों से बंधे रहते हैं, जिन्हें हम सरलता से छिन्न-भिन्न करना पसंद नहीं करते। हमारे जीवन और विचारों पर स्पष्टतः अतीत की छाप रहती

है। युद्ध, मन्दी अथवा क्रान्ति के समय में अतीत के यह बन्धन अवश्य ढीले हो जाते हैं, अन्यथा यह प्रतिरोध पर्याप्त प्रबल होता है।

निहित स्वार्थ (Vested Interest). आज के सामाजिक परिवर्तनों के प्रतिरोध में सबसे अधिक हाथ संभवतः उन वर्गों का रहा है, जिनके लिए विद्यमान व्यवस्था ही सबसे अधिक लाभकारी है। इसीलिए इन्हें निहितस्वार्थ कहा गया है, क्योंकि इन वर्गों का विरोध केवल संकीर्ण स्वार्थ पर आधारित है। परिवर्तन के प्रति इनका प्रतिरोध इनकी स्वार्थपरता में निहित है।

इस सम्बन्ध में एक बात द्रष्टव्य है कि निहित स्वार्थ सदैव आर्थिक लाभ की भावना से ही प्रेरित नहीं होते। शक्ति और सम्मान भी इसके प्रबल प्रेरक हैं। उदाहरणार्थ आज अधिकांश उच्च-शिक्षणसंस्थाओं के अध्यापक यह नहीं चाहते कि हिन्दी को शिक्षा के माध्यम के रूप में स्वीकार किया जाय। अंग्रेजी माध्यम के रखने में उनका निहित स्वार्थ है।

इसके विपरीत, परिवर्तन के लिए आन्दोलन भी सदैव निःस्वार्थता से प्रेरित नहीं होता। वह व्यक्ति जो परिवर्तन से सम्मान, शक्ति या सम्पत्ति प्राप्त करने की प्रत्याशा करते हैं प्रायः परिवर्तन के पक्ष में हो जाते हैं। यह वह व्यक्ति हैं जो प्रायः क्रान्तिकारी बनते हैं।

यह ध्यान देने योग्य है कि प्रत्येक समाज में पर्याप्त संख्या में निहित स्वार्थ पाये जाते हैं। एक प्रजातन्त्र में मताधिकार द्वारा नागरिकों को सत्ताधारी दल को पदारूढ़ रखने या न रखने अथवा विभिन्न प्रस्तावों पर अपना मत व्यक्त करने का अधिकार होता है। पर ऐसी स्थिति में भी निहित स्वार्थों के पास प्रचार और दबाव के अधिक साधन होने के कारण सामान्य जनता की तुलना में उन्हें एक विशिष्ट बल प्राप्त होता है। किसी प्रस्ताव का विरोध करते समय यह निहित स्वार्थ अपने सम्मान, सम्पत्ति और प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए कभी ही शायद असल कारण बताते हैं। उनका विरोध प्रायः ही प्रवंचनापूर्ण होता है। निहित स्वार्थ सामाजिक परिवर्तन के प्रबलतम शत्रु सिद्ध हुए हैं।

अठारहवां अध्याय

सामाजिक विगठन

संगठन समाज का आधार. सामाजिक जीवन और सामाजिक कल्याण के लिए समाज में संगठन की आवश्यकता अनुभव होती है। किसी शरीर या वस्तु के विभिन्न अंगों और क्रियाओं के सुचारु समायोजन को हम संगठन कह सकते हैं। मानव-शरीर संगठन का एक सुन्दर उदाहरण है जिसमें खाने, श्वास लेने और मल त्यागने के आवश्यक अंग हैं; रक्त का संचार और नाड़ी-संस्थान पोषण, वस्तुबोध और क्रियाओं का समुचित संचालन करते हैं। किन्तु इस शरीर के किसी अंग या कुछ अंगों अथवा संस्थानों में किसी भी कारण से कोई विकार उत्पन्न हो जाने अथवा क्षति घटित हो जाने पर वह सुचारु रूप से अपना कार्य सम्पन्न नहीं कर सकता। दूसरे शब्दों में, हम उसे रुग्ण या विगठित कह सकते हैं।

किसी भी संस्कृति के विभिन्न भौतिक और अभौतिक तत्त्व, रीति-रिवाज, विकास और धारणाएं, पारिवारिक, आर्थिक, राजनैतिक और शिक्षण-संस्थाएं, क्रीड़ा, मनोरंजन क्रियाएं एक समाज के संगठन का आधार होती हैं। जब तक किसी समाज में भौतिक संस्कृति के विभिन्न विभाग, मनुष्य की सृजनात्मक शक्ति की विभिन्न अभिव्यक्तियां, एक दूसरे के साथ कदम-से-कदम मिला कर चलती हैं, उन सब में एक मूलभूत एकता, अनुकूलता, पूरकता विद्यमान रहती है और हम कह सकते हैं कि समाज संगठित है। पर जैसे ही उसके कुछ या समस्त विभागों में किसी प्रकार की विषमता, प्रतिकूलता, प्रतियोगिता प्रारम्भ हो जाती है, समाज विगठन की ओर अग्रसर होने लगता है।

सामाजिक विगठन. संक्षेप में, समाज की विभिन्न शक्तियों का असन्तुलन, सामाजिक ढांचे की विशृङ्खलता, पूर्व विद्यमान सामाजिक नियन्त्रणों की असफलता सामाजिक विगठन के प्रमुख लक्षण हैं।

सामाजिक परिवर्तन सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में असन्तुलन की सृष्टि करता है अतः यह सामाजिक विगठन का मूल स्रोत है, अथवा सामाजिक विगठन सामाजिक परिवर्तन का ही एक पहलू है। सामान्यतः यह सामाजिक स्थिरता और सामाजिक पुनःसंगठन के बीच की अवस्था है। और

फिर, सामाजिक संगठन और सामाजिक विगठन दोनों ही सापेक्ष शब्द हैं। सामाजिक संगठन की भांति ही सामाजिक विगठन की भी कमी या अधिकता हो सकती है। समाज का गतिशील स्वभाव अपने विभिन्न भागों में निरन्तर एक पुनर्व्यवस्थापन की आवश्यकता की ओर संकेत करता है। इस पुनर्व्यवस्थापन से उत्पन्न परिवर्तन पहले सामाजिक ढांचे के अभिन्न अंगों, संस्थात्मक सम्बन्धों और व्यवहार-रीति में एक विशृङ्खलता ला देता है। परिवर्तन की गतिशीलता नई रीतियों की स्थापना को कठिन बना देती है। इस बीच वर्तमान समाज का नियन्त्रण उन साधनों से होता है जो उस समाज में बने थे जो अब लौट कर नहीं आयगा।

सामाजिक विगठन वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा किसी समूह के विभिन्न सदस्यों के बीच विद्यमान सम्बन्ध छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। सामाजिक विगठन वस्तुतः समूह के विगठन की प्रक्रिया है, चाहे वह समूह परिवार हो, पड़ौस हो, समुदाय हो अथवा राष्ट्र हो।

सामाजिक विगठन के कारण

आगे हम संक्षेप में उन शक्तियों का विश्लेषण करने का प्रयत्न करेंगे जो कि इस विशृङ्खलता को जन्म देती हैं और किस भांति वह विभिन्न वर्गों अथवा व्यक्तियों को प्रभावित करती हैं। प्रत्येक व्यक्ति अनेक समूहों के सूत्रों में बंधा होता है और वह सभी सूत्र एक साथ ही नहीं टूट जाते। एक व्यक्ति के एक समूह से सम्बन्ध विच्छेद हो जाने पर अन्य समूहों से सम्बन्ध अविच्छिन्न रह सकते हैं। पर जैसे भी किसी एक समूह से यह सम्बन्ध टूटते हैं, सामाजिक विगठन विद्यमान होता है।

अनेक कारणों की सह उपस्थिति. अन्य सामाजिक घटनाओं की भांति ही सामाजिक विगठन का स्वभाव बहुत जटिल है। हम इसका कोई एक कारण नहीं ढूंढ सकते। धर्म का ह्रास, परिवार का परिवर्तित ढांचा, शासनव्यवस्था का नया स्वरूप, उत्पादन के नये यन्त्र, नई सामाजिक विचारधाराएं सभी इसमें अपना-अपना योग दे रहे हैं। एक कारण बताने के धुनी लोगों ने इन कारणों में से किसी एक को एकान्ततः सामाजिक विगठन के लिए उत्तरदायी ठहराया है।

आज भी हमारे यहां ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं है जो धार्मिक विधि-विधान या धार्मिक शक्ति के ह्रास को वर्तमान सामाजिक विगठन की विभिन्न

अभिव्यक्तियों—अपराध, अनैतिक भ्रष्टाचार, बेकारी, पारिवारिक कलह—का एकमात्र कारण मानते हैं। कुछ लोग मैशीनों को इन सब परेशानियों की जड़ मानते हैं। एक अन्य वर्ग की राय में सुप्रजननशास्त्र के सिद्धान्तों पर न चलना ही आधुनिक कष्टों का मूल है।

इनमें से प्रत्येक व्यक्ति या वर्ग ही अपनी रुचि और रुझान के अनुसार किसी एक तथ्य को सामाजिक विगठन का कारण मानने लगता है। वास्तव में सामाजिक बुराइयों के किसी एक कारण का खोजने वाला व्यक्ति किसी एक समस्या के नाना पहलुओं को समग्ररूप से समझने में असमर्थ रहता है। इस प्रकार की तर्कप्रणाली को ही "विशेषात्मक भ्रान्ति" (Particularistic fallacy) कहते हैं। अतः सामाजिक विगठन को सही रूप में समझने के लिए हमें उन समस्त पहलुओं पर विचार करना होगा जो कि इससे सम्बद्ध है। हम देखेंगे कि सभी विगठित व्यक्ति-दुराचारी, अपराधी, वेश्या आदि-जनता के अन्य सदस्यों की ही भांति होते हैं। विगठित व्यवहार कभी भी किसी एक विशेष कारण का परिणाम नहीं हैं। वास्तव में उसमें विभिन्न कारण अन्तर्हित हैं।

अध्ययन की सुविधा के लिए हम सामाजिक विगठन को प्रेरित करने वाली पांच प्रमुख परिस्थितियों की ओर संकेत कर सकते हैं। वह हैं, (१) सामाजिक ढांचा, (२) सामाजिक परिवर्तन, (३) सामाजिक धारणाएं, (४) सामाजिक मूल्य और (५) सामाजिक संकट। वास्तव में यह सब परिस्थितियां भी एक दूसरे से पर्याप्त घनिष्ठतया सम्बद्ध हैं। नीचे हम संक्षेप में इन पर विचार करेंगे।

सामाजिक ढांचा और सामाजिक विगठन

एक गतिशील समाज में सामाजिक ढांचा निरंतर तेजी से बदलता रहता है। व्यक्ति का पद (Status) और भूमिका (Role) ठीक निश्चित नहीं होती और व्यक्ति अपने को ऐसी स्थिति में पाते हैं जहां कोई पूर्वनिर्धारित व्यवहार विद्यमान नहीं होते। गतिशील समाज में स्थिर और स्थायी व्यवहारों को निश्चित करना बहुत कठिन हो जाता है। परिणामतः, पद और भूमिका में पर्याप्त हेर-फेर होता रहता है। बहुत से व्यक्तियों को सर्वथा नई भूमिका ग्रहण करने के लिए मजबूर होना पड़ता है। यह प्रक्रिया समाज के लिए बहुत बार हितकर सिद्ध नहीं होती। इस प्रकार एक गतिशील समाज में स्वयं ही

सामाजिक विगठन के तत्त्व अन्तर्हित होते हैं। जो तत्त्व सामाजिक ढांचे को गतिशील वनाते हैं वही उसे विगठित भी करते हैं।

सामाजिक पद और भूमिका सामाजिक निर्धारण का परिणाम होते हैं। समाज ही अधिकांश व्यक्तियों के लिए यह निर्णय करता है कि वह क्या पद ग्रहण करें और कौन सी भूमिका अदा करें। जव यह पद और भूमिकाएं स्पष्ट और निश्चित होती हैं, समाज सापेक्षतः सुसंगठित होता है। जव कि ऐसा नहीं होता, विघटन घटित होता है। हमारे वर्तमान समाज में पाश्चात्य शिक्षा और आर्थिक व्यवस्था के परिवर्तनस्वरूप पद और भूमिका के सम्वन्ध में स्पष्टता और निश्चितता निरन्तर कम होती जा रही है और परिणामतः विघटन के वीज वोये जा रहे हैं।

एक विगठित समाज में व्यक्तियों द्वारा पोषित और प्रत्याशित पद और भूमिका की कल्पना और उनकी वास्तविक स्थिति में सदैव एक वड़ा अन्तर प्रदर्शित होता है। प्रत्येक क्षेत्र में व्यक्ति को ऐसे आदर्शों का सामना करना पड़ता है जिन्हें शायद वह कभी भी प्राप्त नहीं कर पाता। वह विश्वास करने लगता है कि वह एक करोड़पति वन सकता है, अनुपम सुन्दरी से विवाह कर सकता है, देश का राष्ट्रपति चुना जा सकता है, अस्तु। वस्तुतः उसके ऐसी किसी भूमिका के अदा करने के अवसर वहुत ही कम होते हैं। परिणाम यह होता है कि अन्ततोगत्वा निराश हो अधिकांश व्यक्तियों को अपनी अतृप्त आकांक्षाओं को तृप्त करने के लिए समाजविरोधी कार्यों में कूदना पड़ता है। इसका ज्वलंत उदाहरण वह व्यक्ति है जो चोरी, छल, कपट, गवन, चोरवाजारी तथा अन्य समाजविरोधी तरीकों से करोड़पति वनने का प्रयत्न करता है। वह समाज जहां कि जनसंख्या के पर्याप्त अनुपात समाज द्वारा अस्वीकृत तरीकों से अप्राप्य भूमिकाओं का अदा करन का प्रयास करते हैं स्पप्टतः सापेक्षतया विगठित हैं।

एक विगठित समाज में प्रमुख भूमिकाओं के वारे में कोई सामाजिक एकमतता (Consensus) नहीं होती। उदाहरणार्थ आज हमारे समाज में एक पत्नी कौन सी भूमिका अदा करे यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। वह माता की, या कमाने वाली की, या घर की शोभा वढाने वाली की, अथवा एक दिल-वहलाने वाले साथी की भूमिका अदा करे, यह निश्चित नहीं है। इनमें से कुछ भूमिकाएं तो एक दूसरी की पूरक हैं, पर कुछ ऐसी नहीं हैं। एक स्त्री के लिए विभिन्न भूमिकाओं को अदा करने के प्रयत्न का परिणाम व्यक्तिगत निराशा ही होता है।

एक अगतिशील और पूर्णतया एकीकृत समाज में किसी व्यक्ति का पद और भूमिका रीतिरिवाज द्वारा स्पष्टतः पूर्वनिर्धारित होते हैं। अतः व्यक्ति को इस सम्बन्ध में चिन्तित नहीं होना पड़ता। सामाजिक परिवर्तन की तीव्रता ने, हमारे समाज के पुराने ढांचे को छिन्न-भिन्न कर दिया है और परिवर्तित आर्थिक सामाजिक अवस्थाओं ने व्यक्तियों को परम्परागत व्यवहार को छोड़ने पर बाध्य किया है।

परिणामतः, एक विगठित समाज में लोग वैसा व्यवहार नहीं कर पाते जैसा कि उनसे आशा की जाती थी। जब कि पत्नी को घर से बाहर काम करना पड़ता है, पति को स्थायी जीविका नहीं मिलती, अथवा उसे जीविका की खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमना पड़ता है, उसके बच्चे पहले की तुलना में कम होते हैं, व्यक्ति उन भूमिकाओं को अदा नहीं कर सकते जो कि सर्वथा भिन्न सरल परिस्थितियों के लिये उपयुक्त थीं। जब कि अधिक संख्या में लोगों को अप्रत्याशित स्थितियों का सामना करना पड़े, समाज विगठित कहा जायेगा।

एक विगठित समाज में विश्वास और व्यवहार, प्रत्याशा और प्राप्ति में सदैव विस्तृत अन्तर विद्यमान रहता है। व्यक्ति ऐसे पदों की प्राप्ति या भूमिका अदा करने की शिक्षा ग्रहण करते हैं जोकि उन्हें कभी भी प्राप्त नहीं होते। इसके विपरीत, एक संगठित समाज में प्रत्याशा और प्राप्ति में पर्याप्त सामंजस्य पाया जाता है पर शीघ्र परिवर्तित समाज म बड़ों द्वारा अपने बच्चों के लिए निर्धारित भूमिकाएं कोई अर्थ नहीं रखतीं। परिणामतः, अप्रत्याशित परिस्थितियों में व्यक्तियों की असफलता की निराशा उन्हें समूह के ही विरुद्ध खड़ा कर देती है।

सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक विगठन

एक संस्कृति के अभौतिक तत्त्व उसकी विभिन्न सामाजिक संस्थाओं का रूप धारण कर लेते हैं, जिन्हें बदलना सुगम नहीं होता। वह संस्थाएं जो कि एक समाज में स्थिरता लाती हैं, परिवर्तन के प्रति अपने हठ और प्रतिरोध के कारण प्रायः सामाजिक विगठन का कारण बन जाती हैं। किसी संस्था अथवा समाज के जीवित रहने के लिए अनिवार्य है कि वह परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार अपने को संशोधित कर सके।

जहां कहीं भी सांस्कृतिक परिवर्तन की गति सापेक्षतया तीव्र है, नई

परिस्थितियों और पुरानी जीवन प्रणाली के विरोध से सामाजिक ढांचा निरन्तर हिलता रहता है। सामाजिक विगठन सामाजिक परिवर्तन और प्रगति की कीमत का एक अंश है।

यह एक सर्वविदित तथ्य है कि भौतिक संस्कृति की तुलना में अभौतिक संस्कृति में परिवर्तन बहुत मन्द गति से होते हैं। संसार में कोई वस्तु इतनी मन्द गति से परिवर्तित नहीं होती जितना कि विचार। भौतिक संस्कृति के परिवर्तन में अधिक कठिनाई नहीं होती। इसका कारण भी है। एक बैलगाड़ी की तुलना में एक मोटरकार की श्रेष्ठता प्रदर्शित करना विशेष कठिन नहीं होता। पर एक नये राजनैतिक या सामाजिक प्रदर्शन की श्रेष्ठता प्रदर्शित करना और उसे अपनाना इतना सुगम नहीं होता। उससे हमारी उन भावनाओं को आघात पहुंचता है जिन्हें हमने बचपन से संजोया है। यही कारण है कि जहां हम सरलता से नये भौतिक परिवर्तनों को स्वीकार कर लेते हैं, वहां अभौतिक परिवर्तनों को स्वीकार करने में प्रबल प्रतिरोध प्रदर्शित करते हैं। इसका परिणाम भौतिक और अभौतिक क्षेत्र के परिवर्तनों में विषमता की सृष्टि होता है। इसी विषमता को सांस्कृतिक पिछड़ (Lag) का नाम दिया गया है।

भौतिक संस्कृति में परिवर्तन अभौतिक संस्कृति में भी तदनुसार परिवर्तन की आवश्यकता पर बल देते हैं। आधुनिक यातायात और संवादवहन के साधनों ने आज दूरी की समस्या को बिलकुल बदल दिया है और परिणामतः राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र मे विस्तृत परिवर्तनों को अनिवार्य बना दिया है। इसी प्रकार कृषि और उद्योग के नये यन्त्रों और संगठनों ने हमारे आर्थिक ढांचे में विशाल परिवर्तन ला दिये हैं। विभिन्न भौतिक परिवर्तनों के साथ-साथ समस्त अभौतिक क्षेत्र में भी उससे संगत परिवर्तन लाना आधुनिक युग की सबसे प्रधान समस्या है।

सामाजिक धारणाएं और सामाजिक विगठन

एक संतुलित सांस्कृतिक समीकरण (Adjustment) के लिए आवश्यक है कि सामाजिक व्यवहार में परिवर्तित यन्त्रों, परिवर्तित आर्थिक मांगों और परिवर्तित संस्थात्मक आवश्यकताओं के अनुसार सुधार हो। परन्तु मनुष्य की चिरपोषित धारणाएं प्रायः बहुत धीरे-धीरे बदलती हैं। और जब नयी धारणाएं पुरानी स्वीकृत धारणाओं को मानने से इनकार कर देती हैं, सामाजिक

विगठन की सृष्टि हो जाती है। व्यक्ति परम्परागत व्यवहार को तिलांजलि दे देते हैं। सामाजिक धारणाओं और मूल्यों में यह संशोधन परिवर्तन का कारण न होकर उसका परिणाम होता है।

एक सामाजिक धारणा "व्यक्तिगत चेतना की वह प्रक्रिया है जो समाज में व्यक्ति की यथार्थ और संभावित क्रियाओं को निर्धारित करती है।" धारणाओं की वस्तुओं और परिस्थितियों से पृथक् कोई सत्ता नहीं है। वह सदैव ही किसी लक्ष्य या परिस्थिति से सम्बद्ध होती हैं। एक सामाजिक धारणा मन की एक स्थिति है। यह मनःस्थिति स्वयं विभिन्न वस्तुओं और परिस्थितियों का परिणाम होती है। एक अमेरिकन या रूसी बच्चा स्कूल में ही साम्यवाद और पूंजीवाद के प्रति अपनी एक विशिष्ट धारणा बना लेता है। एक व्यक्ति स्वयं अपनी विशेष उप-संस्कृति या समूह से ऐसी धारणाएं ग्रहण कर सकता है जो कि सार्वजनिक हित के विरुद्ध हो सकती है। एक वेश्यालय में पली लड़की अनायास ही अनैतिकता की ओर अग्रसर होती है।

ऐसी धारणाओं का ज्ञान जो कि व्यवहार के विद्यमान नियमों की क्षमता को नष्ट करती हैं, और इस प्रकार सामाजिक संस्थाओं पर प्रहार करती हैं, सामाजिक विगठन के लिए परमावश्यक है।

सामाजिक मूल्य (Values) और सामाजिक विगठन

प्रत्येक समाज की कुछ मान्यताएं अथवा मूल्य होते हैं जो कि प्रत्येक समूह की सांस्कृतिक विरासत का आधारभूत अंश होते हैं। वह इस बात का निर्धारण करते हैं कि समाज किस बात को महत्त्वपूर्ण और उचित अथवा किसे नगण्य और अनुचित समझता है। मूल्य हमारे व्यवहार के निर्णय में बड़ा भाग अदा करते हैं। तलाक हमारे लिए एक समस्या बन जाता है, क्योंकि उससे हमारी विवाह सम्बन्ध की अविच्छेद्यता की मान्यता पर कुठाराघात होता है। विवाह से पूर्व यौन-सम्बन्ध अनैतिक घोषित किये जाते हैं क्योंकि वह हमारी विवाह से पूर्व ब्रह्मचर्य की कल्पना के विरुद्ध जाते हैं। इस तरह समस्त क्षेत्रों में सामाजिक मूल्य सामाजिक संगठन का अभिन्न अंग होते हैं। ज्यों ही सामाजिक मूल्यों के विरुद्ध आवाज उठती है, सामाजिक विगठन शुरू हो जाता है।

जब लोगों में सामाजिक एकमतता नष्ट हो जाय और वह व्यक्तिगत अथवा वर्गीय स्वार्थ की दृष्टि से सामाजिक प्रश्नों पर सोचना शुरू कर दें,

सामाजिक विगठन विद्यमान माना जायेगा। हमारे आधुनिक समाज में इस एकमतता का अभाव अच्छी तरह परिलक्षित हुआ है। संगठित धर्म के ह्रास, संयुक्त परिवार के विगठन और परस्पर विरोधी राजनैतिक विचारधाराओं के उदय और विकास में यह विगठन भलीभांति व्यक्त हुआ है। आधुनिक समाज में अर्थशास्त्र, राजनीति, वैदेशिक सम्बन्ध, धर्म, परिवार इत्यादि महत्त्वपूर्ण विषयों पर, बहुसंख्यक जनता म एकमतता का अभाव है। परिवर्तित संसार ने विभिन्न सामाजिक विचारधाराओं को जन्म दिया है। आज से सौ साल पहले महत्त्वपूर्ण सामाजिक प्रश्नों पर जो एकमतता व्यक्त होती थी, वह शनैःशनैः समाप्त होती जा रही है। पाश्चात्य शिक्षा, औद्योगीकरण, आधुनिक यातायात और संवादवहन के साधनों, सामयिक आर्थिक मन्दियों, राजनैतिक परिवर्तनों, नये सामाजिक कानूनों तथा युद्ध ने हमारी मान्यताओं और मूल्यों में पर्याप्त परिवर्तन ला दिये हैं और सामाजिक प्रश्नों पर एकमतता को नष्ट करने में यथेष्ट योग दिया है।

धारणाएं और मूल्य सहवर्ती होते हैं और एक दूसरे पर अत्यन्त निर्भर हैं। दोनों ही सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक मतवैषम्य को प्रकट करते हैं। समाज की गतिशीलता में वृद्धि के साथ-साथ सामाजिक प्रश्नों, व्याख्याओं और सामाजिक मूल्यों में अधिक परिवर्तन स्वाभाविक हैं। एक सामान्य व्यक्ति ऐसी स्थिति में अपने को अधिकाधिक कठिनाई में पाता है। वास्तव में सामाजिक मूल्यों का यह समकालीन संघर्ष मानवइतिहास में सबसे विस्तृत सामाजिक विगठन को दर्शाता है।

संकट (Crisis) और सामाजिक विगठन

यद्यपि सामाजिक विगठन एक क्रमिक प्रक्रिया है, परन्तु संकटकालीन परिस्थितियों में इसके बहुत से उग्ररूप उद्भूत होते हैं। समूह के विचारों अथवा कार्यों में एक ऐसा गंभीर व्याघात जो कि नई परिस्थितियों में पुरानी आदतों, रिवाजों और व्यवहार को प्रकट करे सामाजिक संकट है। एक सामाजिक संकट व्यक्तिगत संकटों का भी सूत्रपात करता है क्योंकि अधिकांश व्यक्ति अपने आप परिवर्तित परिस्थितियों का सामना नहीं कर सकते।

सामाजिक संकट दो प्रकार के हो सकते हैं : **आकस्मिक और क्रमिक**। जब किसी समूह की आदतों में एक आकस्मिक व्याघात उत्पन्न हो जाता है और रातों-रात उन्हें अपने कार्यों को नई परिस्थिति के अनुरूप ढालना पड़ता

है, उसे आकस्मिक संकट कहा जाता है। नेताओं की मृत्यु, आकस्कि दुर्घटनाएं, अकाल, भूकम्प, वैंक का फेल हो जाना, अथवा शेयर बाजार का ठप्प हो जाना ऐसे ही आकस्मिक संकट हैं। हमारे लिए द्वितीय महायुद्ध भी एक आकस्मिक संकट था। इसके विपरीत, एक क्रमिक संकट वह है जो दीर्घ काल में धीरे-धीरे उग्र रूप धारण करता है। नई नस्लों के वर्गों के सात्मीकरण में उत्पन्न कठिनाइयां क्रमिक संकट का उदाहरण हैं। इसी प्रकार हमारी आर्थिक व्यवस्था में हुए परिवर्तनों ने एक क्रमिक संकट को जन्म दिया है। हमारी कृषि-अर्थ-व्यवस्था का सामाजिक संगठन धीरे-धीरे नष्ट होता जा रहा है। पर्याप्त संख्या में जीविका की खोज में लोग गांवों से शहरों को निष्क्रमण कर चुके हैं। आधुनिक बाजारों की मांग के परिवर्तन सामयिक आर्थिक मन्दियों को जन्म देते हैं और भीषण वेकारी को फैलाते हैं ।

सामाजिक विगठन के प्रमुख रूप

आर्थिक मन्दी और वेकारी. उत्पादन, वितरण और विनिमय के आधुनिक साधनों ने जहां एक ओर जनसाधारण के लिए उपयोग और आराम की वस्तुएं जुटाना सम्भव बनाया है, वहां दूसरी ओर व्यक्तिगत लाभ के लिए पूंजीपतियों द्वारा संचालित अर्थव्यवस्था ने आर्थिक मन्दी-वेकारी जिसका परिणाममात्र है, जैसे क्रमिक संकट को जन्म दिया है। धन के विनियोग (Investment) में आकस्मिक कमी के कारण बड़ी संख्या में मजदूर वेकार हो जाते हैं। इस प्रकार लाखों मजदूरों को वेकार बना उनमें असंतोष की वृद्धि कर और समाजविरोधी भावनाएं जगा आर्थिक मन्दी एक विकट सामाजिक विगठन को जन्म देती है। व्यक्तिगत लाभ के लिए उत्पादन, विनिमय, यन्त्रों का उपयोग और सम्पत्ति का अत्यन्त असमान वितरण इस विगठन के लिए उत्तरदायी हैं।

पारिवारिक विगठन. बड़े-बड़े कारखानों के बनने से पहले एक कृषि-परिवार केवल स्नेह सूत्र से ही नहीं प्रत्युत धर्म, अर्थ, शिक्षा और मनोरंजन के सूत्रों से भी बन्धा होता था। इन बन्धनों का तोड़ना कठिन था। किन्तु परिवार के स्नेह और छोटे बच्चों के पालन को छोड़ सभी कृत्य आज दूसरी समितियों के पास चले गये हैं। परिणामतः, पारिवारिक बन्धन बहुत ढीले हो गये हैं। ऐसी स्थिति में तलाक, विच्छेद या परित्याग बहुत स्वाभाविक हो गया है। नई आर्थिक स्थिति ने परिवार के ढांचे को बदल दिया है, पर हमारी पुरानी पारि-

वारिक धारणाएं अभी परिवर्तन में पिछड़ गई हैं। इसी कारण इस क्षेत्र में सामाजिक विगठन दिखाई देता है।

सामाजिक विगठन का उपाय

हमारी अधिकांश वर्तमान सामाजिक समस्याओं के कारणों को हमारी संस्कृति के विभिन्न विभागों की असमान प्रगति में ढूंढा जा सकता है। अतः सामाजिक विगठन को रोकने का प्रभावी उपाय संस्कृति के विभिन्न भौतिक या अभौतिक विभागों, समस्त संस्थाओं, रीतिरिवाजों, विश्वासों और कानूनों को एक दिशा में, एक गति से, एक संगति से आगे बढ़ाना है। यह कार्य सार्वजनिक हित की भावना से प्रेरित, व्यक्तिगत और वर्गीय स्वार्थों से रहित, सामाजिक यन्त्र के विभिन्न विभागों के संचालन की क्षमता प्राप्त व्यक्तियों द्वारा पूर्वनियोजित, प्रजातान्त्रिक रीति से निश्चित बौद्धिक सामाजिक आयोजन द्वारा ही सम्भव है। भौतिक आविष्कारों को रोककर सामाजिक विगठन का समाधान नहीं किया जा सकता। संस्कृति के कुछ विशिष्ट विभागों को नियन्त्रित कर सामाजिक संकट का मुकाबिला नहीं किया जा सकता। इसके लिए आवश्यक है कि हम बहुमुखी और विस्तृत प्रजातान्त्रिक सामाजिक आयोजना को अपनाएं।

सहायक शब्द कोष

Accommodation	अनुकूलन, समवस्थापन
Acculturation	पर-संस्कृति-ग्रहण
Adaptability	आनुकूल्य
Adjustment	समीकरण
Adrenal Gland	अधिवृक्क ग्रन्थि
Affective	रागात्मक
Aggregation	राशीकरण
Agriculture	कृषि
Amphibian	उभयचर
Anatomy	शरीरशास्त्र
Anger	क्रोध
Animism	जड़पूजा
Anthropoid	मानवसम
Anti-social Individuals	समाजविरोधी व्यक्ति
Arbitration	पंचनिर्णय
Archeozoic	आदिजीवीय
Artificial Selection	कृत्रिम चुनाव
Assault	आक्रमण
Assimilation	सात्मीकरण
Association	समिति
Attributes	गुण
Aurignacian Culture	परवर्ती संस्कृति
Babbon	बैबून
Basic	आधारभूत
Behaviour	व्यवहार
Behaviour Mechanics	व्यवहारयन्त्र, व्यवहार प्रक्रियायें
Bimodal Curve	द्विविध वक्ररेखा
Biological Nature	प्राणिक प्रकृति

Birth Rate	जन्म-दर
Blood pressure	रक्तचाप
Bushman	झाड़वासी
Business Cycle	व्यवसाय चक्र
Calendar	पंचाङ्ग
Capitalism	पूंजीवाद
Caste	जाति
Chemistry	रसायनशास्त्र
Childhood	बाल्यकाल
Chromosomes	वर्णसूत्र
City	नगर
Civilization	सभ्यता
Clan	कबीला, जन
Class	श्रेणी, वर्ग
Climate	जलवायु
Collective Behaviour	सामूहिक व्यवहार
Communal Societies	साझी समाज
Communication	संवादवहन
Communism	साम्यवाद
Competition	प्रतियोगिता
Compromise	समझौता
Conciliation	प्रसादन, मैत्रीस्थापन
Conditioned Reflex	अभिसंहित उत्क्षेप
Conditioned Response	अभिसंहित प्रत्युत्तर
Conduct	आचार, व्यवहार
Cognitive	बोधात्मक, ज्ञानात्मक
Conative	क्रियात्मक
Conflict	विरोध
Conformity	अनुकूलता, अनुरूपता
Conservatism	रूढ़िवाद
Consumption	उपभोग

Control	नियन्त्रण
Convention	परम्परा
Convertion	मतपरिवर्तन
Co-operation	सहयोग
Courage	साहस
Cranium	कपाल, खोपड़ी
Crescive Institutions	स्वयं उद्भूत संस्थायें
Crime	अपराध
Cross fertilisation	मिश्रित फलीकरण
Crowd-Rhythm	भीड़-ताल
Cultural environment	सांस्कृतिक वातावरण
Cultural Inertia	सांस्कृतिक जड़ता
Cultural Lag	सांस्कृतिक पिछड़ या मन्दता
Culture	संस्कृति
Culture-Complex	संस्कृति संकुल
Culture-Pattern	संस्कृति प्रतिमान
Customs	रिवाज़, शिष्टाचार
Dark Ages	अन्ध युग
Death Rate	मृत्यु दर
Delinquency	अपराध वृत्ति
Democracy	प्रजातन्त्र
Depressions	मन्दियां
Desires	इच्छायें
Diet	भोजन, खुराक
Diffusion	प्रसार
Discrete Variations	विभिन्न परिवर्तन
Disorganisation	विघटन
Displacement	स्थानभ्रंश, स्थानच्युति
Division of Labour	श्रम विभाजन
Divorce	तलाक
Domestication of Animals	पशुपालन
Dominance	प्रभुता

Drives	चालक
Ecology	परिस्थितिशास्त्र
Economic institutions	आर्थिक संस्थाएं
Economics	अर्थशास्त्र
Education	शिक्षा
Elections	निर्वाचन
Electorate	मतदाता, निर्वाचक
Electricity	विद्युत्
Embryo	भ्रूण
Emigration	प्रवास
Emotions	भाव, उद्वेग
Enacted institutions	विधिगत संस्थायें
Endogamy	अन्तर्विवाह
Environment	वातावरण
Eocene	प्रादिनूतन
Ethnocentricism	जात्यभिमान, जाति-अहंकार
Ethos	विशेषतायें, स्वभाव
Eugenics	सुप्रजनन शास्त्र
Evolution	विकासवाद
Exogmay	वहिर्विवाह
Experience	अनुभव
Exponential Principle	व्याख्यात्मक सिद्धान्त
Extroversion	वहिर्मुखता
Family	परिवार
Farm population	कृषि जनसंख्या
Farm tenancy	कृषि भूमिव्यवस्था
Fascism	फासिष्टवाद
Fashion	फैशन
Feebleminded	मन्दधी
Feral Man	विजनपोषित मनुष्य, वन्यपशु-पालित मनुष्य

Feudalism	सामन्तवाद
Folkways	जनरीति
Genes	वाहकाणु
Genotypes	प्रजनन रूप
Geography	भूगोल
Gift	उपहार
Glandular system	ग्रन्थि संस्थान
Gonad Gland	प्रजनन ग्रन्थि
Gossip	गपशप
Government	सरकार
Group habits	समूह स्वभाव
Group Interaction	समूह अन्तःक्रिया
Group Life	समूह जीवन
Group Marriage	समूह विवाह
Growth	वृद्धि
Habit	स्वभाव
Handicrafts	दस्तकारी
Health	स्वास्थ्य
Heredity	आनुवंशिकता
Heritage	विरासत
Holoceme	सर्वनूतन
Homo-Sapiens	मेधावी मानव
Hormones	अन्तःस्राव
Hospitality	आतिथ्य
Hunters	शिकारी
Hypnosis	सम्मोहन
Hysteria	उन्माद
Ideas	विचार
Identification	एकरूपता
Ideologies	विचारधाराएं
Imitation	अनुकरण

Immigration	आवास
Inbreeding	अन्तर्जनन
Income	आय
Individual	व्यक्ति
Industrial Revolution	औद्योगिक क्रान्ति
Industry	उद्योग
Infant mortality	शिशु-मृत्यु
Inferiority feeling	हीन-भावना
In-Group	अन्तःसमूह
Inheritance of acquired characteristics	अर्जित गुणों का वंशागम
Inhibition of Self	आत्म-निरोध
Inorganic	अनैन्द्रियिक
Insanity	पागलपन
Instinctive behaviour	सहज व्यवहार
Instincts	सहज प्रवृत्ति
Institutions	संस्थाएं
Intelligence tests	बुद्धि परीक्षा
Interest	रुचि
Intermixture	अन्तर्मिश्रण
Introversion	अन्तर्मुखता
Invention	आविष्कार
Isolation	पार्थक्य
Joint Stock Company	संयुक्तपूंजी कम्पनी
Kinship	रक्तसम्बन्ध, बन्धुता, साकुल्य
Labour	श्रम
Language	भाषा
Law	कानून
Leadership	नेतृत्व
Learning	सीखना
Life-expectancy	जीवन-काल

Lineal	एकवंशीय
Lobbying	लाबींग (विधान मण्डल के सदस्यों द्वारा गोष्ठी-कक्ष में बैठ कर बातचीत करना व एक दूसरे को प्रभावित करना)
Localism	स्थानवाद
Lynching	लिंचिंग (उत्तेजित भीड़ द्वारा किसी का वध)
Mammals	स्तनन्धय
Marginal Man	सीमान्त मनुष्य
Marital Status	वैवाहिक दर्जा
Marriage	विवाह
Matrilocal Residence	मातृस्थानीय निवास
Maturation	परिपक्वता
Mediation	मध्यस्थता
Medicine Man	ओझा
Megalopolis	वृहन्नगर
Mental Conflict	मानसिक संघर्ष
Mental Disorders	मानसिक विकृति
Metazoa	बहु कोषीय पशु
Migration	प्रव्रजन
Monarchy	राजतन्त्र
Money	मुद्रा
Monogamy	एकविवाह
Monopoly	एकाधिकार
Monotheism	एकेश्वरवाद
Mood	मूड, तरंग
Mores	रूढ़ियां
Motivation	प्रेरणा
Mountain Communities	पर्वतीय समुदाय
Murder	हत्या

Mutation	अन्तःपरिवर्तन
Nationalism	राष्ट्रवाद
Natural increase	प्राकृतिक वृद्धि
Natural resources	प्राकृतिक साधन
Natural selection	प्राकृतिक चुनाव
Neighbourhood	पड़ौस
Neolithic Culture	नवपाषाण संस्कृति
Nervous System	नाड़ी-संस्थान
Normal Probability Curve	सामान्य संभावना वक्ररेखा
Occupational Survey	पेशेवार पड़ताल
Oligocene	आदिनूतन
Opposition	विरोध
Organic environment	भौतिक वातावरण
Out-group	बहिःसमूह
Palaeolithic Period	पुरापाषाणकाल
Paleozoic	पुराजीवीय
Parothyroid	परचुल्लिका
Partnership	साझेदारी
Patents	पेटेंट
Patrilocal residence	पितृस्थानीय निवास
Patterns	प्रतिमान
Perception	प्रत्यक्षबोध
Personality	व्यक्तित्व
Phenotypes	आकृतिरूप
Physique	डीलडौल
Pithecanthrope	वानर मानव
Pituitary gland	पोषणिक ग्रन्थि
Pleistocene	प्रतिनूतन
Pliocene	अतिनूतन
Politics	राजनीति
Polyandry	बहुभर्तृता
Polygamy	बहुभार्यता

Population	जनसंख्या
Prehistoric Communities	प्रागैतिहासिक समुदाय
Pressure groups	प्रभावी समूह
Primary group	प्राथमिक समूह
Primates	प्रधानक वर्ग
Professions	पेशे
Profit motive	लाभप्रवृत्ति
Progress	प्रगति
Projection	परारोपण
Propaganda	प्रचार
Property	सम्पत्ति
Proterzoic	सुपुराजीवीय
Psychosis	चित्त विकृति
Public	जनता
Public opinion	जनमत
Public relations	सार्वजनिक सम्बन्ध
Public Utilities	सर्वजनोपयोगी उद्योग
Punctuality	समयपालन
Race	नस्ल
Radio	रेडियो
Rape	बलात्कार
Rationalisation	युक्तीकरण
Rebelliousness	विद्रोह वृत्ति
Reflex Arc	उत्क्षेप चाप
Reform	सुधार
Regions	प्रदेश
Relief Families	दानोपजीवी परिवार
Religion	धर्म
Repression	दमन
Reputation	ख्याति
Revolution	क्रान्ति
Role	भूमिका

Secondary group	माध्यमिक समूह
Secularisation	ऐहिकीकरण
Self	स्व
Sex	काम, लिंग
Shaman	शमन
Share-holder	हिस्सेदार
Sin	पाप
Slums	गन्दी बस्तियां, चाल
Social Class	सामाजिक श्रेणी या वर्ग
Social Control	,, नियन्त्रण
Social Distance	,, दूरी
Social Heritage	,, विरासत
Social Institutions	,, संस्थाएं
Social Interactions	,, अन्तःक्रियायें
Social Inventions	,, आविष्कार
Social Organisation	,, संगठन
Social Planning	,, आयोजन
Social pressure	,, दबाव
Social problem	,, समस्याएं
Social processes	,, प्रक्रियाएं
Social Status	,, दर्जा
Socialisation	समाजीकरण
Sociology	समाजशास्त्र
Specialisation	विशेषीकरण
Species	जाति
Speech	भाषण, बोली
Standard of living	रहन-सहन का दर्जा
State	राज्य
Status	दर्जा
Submission	आधीनता

Sub-races	उप-नस्लें
Suffrage	मताधिकार
Suggestion	संकेत, सुझाव
Superiority Feeling	श्रेष्ठ-भावना
Super-Naturalism	अतीन्द्रियवाद
Super-Organic	अधिजैविक
Sympathy	सहानुभूति
Synthetic Materials	संयोगजन्य पदार्थ, मिश्रित पदार्थ
Taboo	टैबू, वर्जित, निषिद्ध
Technological Advance	यान्त्रिक उन्नति
Technology	यन्त्र शास्त्र
Temperament	प्रकृति, स्वभाव
Thyroid	चुल्लिका ग्रन्थि
Thyroxin	चुल्लिका स्राव
Totalitarianism	समग्रशक्तिवाद, सर्वेसर्वावाद
Toleration	सहिष्णुता
Tools	औज़ार
Totems	टोटम, गणचिह्न
Trade	व्यापार
Transportation	परिवहन
Travel	यात्रा
Twins	जुड़वां
Unemployment	बेकारी
Value	मूल्य, मान्यता
Variability	अन्यथाकरण, विपर्यय
Vertebrate	पृष्ठवंशी

Vested Interests	निहित स्वार्थ
Villages	गांव
Wages	मज़दूरी
War	युद्ध
Wealth	सम्पत्ति
Women	स्त्रियां
Writing	लेखन

सहायक-ग्रन्थ-सूची

सामान्य

Bernard, L. L., *Introduction to Sociology* (1942)
Cuber, John F, *Sociology* (1947)
Ellwood, Charles A., *Sociology Principles & Problems* (1943)
Fairchild, H. P., ed. *Dictionary of Sociology* (1944)
Gurvitch, G., and Moore, W. E., ed. *Twentieth Century Sociology* (1945)
Gillin, J. L., & John Gillin, *Cultural Sociology* (1948)
Ginsberg, M., *Sociology* (1934)
Groves, Ernest R., and Moore, H. E. *An Introduction to Sociology* (1940)
Hankins, F. H., *Introduction to the Study of Society* (1937)
Hiller, E. T., *Principles of Sociology* (1933)
Howard W. Odhum., *Understanding Society* (1947)
La Piere, Richard T., *Sociology* (1946)
Lundberg, G. A, *Foundations of Sociology* (1939)
MacIver, R. M., *Society* (1937)
Ogburn, W. F. and M. F. Nimkoff, *Sociology* (1940)
Park, R. E., and Purgess, E. W., *Introduction to the Science of Sociology* (1924)
Pondell, Elmer, editor, *Society under Analysis* (1927)
Ross, Edward A. *New-Age Sociology* (1940)
Sumner W. G., and Keller, A. G., *The Science of Society* (1942)
Seligman, E. R. A. and Johnson, A., *Encyclopaedia of Social Sciences* (1930-5)
Sutherland, Robert L., and Julian L. Woodward, *Introductory Sociology* (1948)
Von Wiese, Leopold and Howard Becker, *Systematic Sociology* (1932)
Wallis W. D. and Willey M. M., *Readings in Sociology* (1930)
Young, Kimball, *Sociology* (1944)

आनुवंशिकता और वातावरण

Dunn, L. C., and Th. Dobzhansky., *Heredity, Race and Society* (1946)
Hogbern L., *Nature and Nurture* (1933)
Holmes, S. J., *Human Genetics and its Social Import* (1936)
Jennings, H. S., *The Biological Basis of Human Nature* (1930)
Newman, H., Twins : *A Study of Heredity and Environment* (1937)
Scheirfeld, A., *You and Heredity* (1939)
Schwesinger, G. C., *Heredity & Environment* (1933)

Woodworth, R. S., *Heredity & Environment*, (1941)

विषयानुसार

मनुष्य का प्राणिक विकास और नस्लें

Bawden, Arthur T., *Man's Physical Universe* (1937)
Ghurey, G. S., *Caste and Race in India* (1932)
Hooton. E. A., *Up From the Ape* (1946)
Howells, William, *Mankind So Far* (1944)
Klineberg, Otto, *Race Differences* (1934)
Karve, I, and Majumdar, D. N., *Racial Problems in Asia* (1948)
Montagu, M. F. Ashley, *An Introduction to Physical Anthropology* (1945)
MacCurdy, G. C., editor, *Early Man* (1937)
Majumdar, D. N., *The Matrix of Indian Culture* (1948)
" " , *Races and Culture of India* (1944)
Snider, Luther C., *Earth History* (1932)
Guha, B. S., *Racial Elements in Population* (1944)

ग्राम, नागरिक जीवन और परिस्थिति शास्त्र

Alihan, Milla A., *Social Ecology* (1935)
Altekar, A. S., *History of Village Communities in India*
Bews, J. W., *Human Ecology* (1935)
Chase, Stuart, *Democracy Under Pressure* (1945)
Gillette, J. M., *Rural Sociology* (1936)
Gist, Noel P., and L. A. Halbert, *Urban Society* (1948)
Kolb, J. H., and E. De S. Brunner, *A Study of Rural Sociology* (1946)
Mulford, H., *Country Planning* (1944)
Mumford, Lewis, *The Culture of Cities* (1929)
Muntz. E. E., *Urban Sociology* (1938)
Sims, Newell L., *Elements of Rural Sociology* (1940)
Taylor, C. C., *Rural Sociology* (1946)
Zimmerman, C. C., *The Changing Community*

परिवार

Baber, Ray E., *Marriage and the Family* (1939)
Becker, Howard D., and Reuben Hill, editors, *Family Marriage and Parenthood* (1948)
Briffault, R., *The Mothers* (1927)
Burgess, E. W., and Locke, H. J., *The Family* (1945)
Elmer, M. C., *The Sociology of the Family* (1945)
Folsom, J. K., *The Family and Democratic Society* (1943)
Goodsell, W., *A History of Marriage and Family* (1934)
Hari Datt., *Hindu Vivah Mimansa*
Howard, G. E, *History of Matrimonial Institutions* (1904)

Foster, Robert G., *Marriage and Family Relationships* (1944)
Lichtenberger, J. P., *Divorce* (1931)
Myrdal, A., *Nation and Family. The Swedish Experiment in Democratic Family and Population Policy* (1945)
Terman, L., *Psychological Factors in Marital Happiness* (1939)
Waller, W. W., *The Family* (1938)
Westermarch, E. A., *The Future of Marriage in Western Civilization* (1936)
Zimmerman, Carle C., *Family and Civilization* (1947)
Menon, Lakshmi, N., *The Position of Women* (1944)

धार्मिक संस्थाएं

Durkheim, E., *Elementary Forms of Religious Life*
Eddy, Sherwood, *Religion and Social Justice* (1927)
Freud, S., *The Future of an Illusion* (1928)
Hough, Horace T., *What Religion Is and Does* (1935)
Lowie, R. H., *Primitive Religion* (1936)
Radin, P., *Primitive Religion* (1938)
Taylor, Graham, *Religion in Social Action* (1913)
Wach, Joachim, *Sociology of Religion* (1944)
Yinger, J. Milton, *Religion in the Struggle for Power* (1946)

राजनैतिक संस्थाएं

Collingwood, R. G., *The New Leviathan* (1942)
Commons, J. R., *A Sociological View of Sovereignty*
Fowler, W. W., *The City State of the Greeks and Romans*
Laski, H. J., *A Grammar of Politics* (1938)
" " , *The State in Theory and Practice* (1935)
Lasswell, H. D., *Politics : Who gets What, When. How* (1936)
Lindsay, A. D., *The Modern Democratic State* (1943)
Lowie, R. H., *The Origin of the State* (1927)
McIver, R. M., *The Modern State* (1926)
Marriott, Sir J. A R., *Dictatorship and Democracy* (1935)
Michels, R., *Political Parties* (1915)
Maxwell, Bertram W., *The Soviet State* (1934)

आर्थिक संस्थाएं

Wadia, P.A., and Merchant K.T., *Our Economic Problem* (1943)
Arnold, Thurman W., *Cartels or Free Enterprise* (1945)
Beaglehole, E., *Property, A Study in Social Psychology* (1931)
Bowman, D. O , *Public Control of Labour Relations* (1942)
Burns, C. D., *Industry and Civilization* (1925)
Commons, J. R., *The Legal Foundations of Capitalism* (1924)
Green, William. *Labour and Democracy* (1939)
Hicks, J. R , *The Social Framework* (1942)
Hobson, T. A., *Property and Improperty* (1937)
Lauterbach, Albert, *Economic Security and Individual Freedom* (1948)

Lokanathan, P. S., *Industrialisation* (1943)
Lowe, A., *Economics and Sociology* (1935)
Neugroschel, A., *The Control of Industrial Combinations*
O'Shaughnessy, Michael, *Economic Democracy and Private Enterprise* (1945)
Mehta, Asoka, *Socialism and Peasantry* (1953)
Mehta, Asoka., *Democratic Socialism* (1952)
Mukerjee, R. K., *Indian Working Class*
Patterson, S. H. *Social Aspects of Industry* (1943)
Schumpeter. J., *Socialism, Capitalism and Democracy* (1943)
Thurnwald, R., *Economics in Primitive Community* (1932)
Vijayaraghvachari Sir T., *Land and its Problem*
Williams, G., *The Price of Social Security* (1946)
Veblen, T., *The Theory of Business Enterprise* (1904)

क्रीड़ा, मनोरंजन और शिक्षा संस्थायें

Burns, C. Delisle, *Leisure in the Modern World* (1932)
Busch, Henry M., *Leadership in Group Work* (1934)
Brown Francis J., *Educational Sociology* (1947)
Charters, W. W., *Motion Pictures and Youth: A Summary* (1933)
Durant, Henry., *The Problem of Leisure* (1938)
Katz, Daniel, and Floyd H. Allport, *Students Attitudes* (1431)
Lazarsfeld, Paul F., and Harry Field, *The People Look at Radio* (1946)
Lindeman. E. C., *Leisure—A National Issue* (1939)
Mitchell, Elmer D., and B. S. Mason, *The Theory of Play* (1934)
Oberholtzer, E. P., *The Morals of the Movie* (1932)
Panna Shah, *The Indian Film* (1950)
Petters, Charles C., *Motion Pictures and Standards of Morality* (1933)
Prescott, Daniel A., *Emotion and the Educative Process* (1938)
Government of India's Publication: *Education in the States of Indian Union* (1951)

सामूहिक व्यवहार

Bogardus, Emory S., *Fundamentals of Social Psychology* (1942)
Cooley, C. H., *Social Organisation* (1909)
Dewey, J., *Human Nature and Couduct* (1922)
Doob, L.W., *Propaganda* (1935)
Ginsberg, M., *The Psychology of Society* (1933)
Jennings, Helen H., *Leadership and Isolation* (1943)
La Piere, R.T., *Collective Behaviour* (1938)
Lasswell, H.D., *Propaganda Technique in the World War* (1929)
Lazarsfeld, P.F., *Radio and the Printed Page*

Mead, M., (ed)., *Co-operation and Competition among Primitive Peoples* (1937)
Suttie, J., *The Origins of Love and Hate* (1935)

संस्कृति विकास में बाधायें

Calverton, V. F., *The Making of Man* (1931)
Chapin, F. Stuart, *Cultural Change* (1928)
Ellwood, Charles A., *Cultural Evolution* (1927)
Folsom, G. K., *Culture and Social Progress* (1927)
Ramakrishna Centenary Volume, *Cultural Heritage of India*
Kroeber, A.L., *Configurations of Culture Growth* (1944)
Linton, Ralph C., *The Cultural Background of Personality* (1945)
Lowie, Robert H.. *Are we Civilized ?* (1936)
Mookerji, D. P., *Modern Indian Culture*
Malinowski, B.M., *The Dynamics of Culture change* (1945)
Natarajan, S., *Social Problems* (1942)
Rodin, Paul, *Social Anthropology* (1932)
Reuter, E.B., editor, *Race and Culture Contacts* (1934)
Smith, G. Elliott, and others, *Culture* (1927)

आविष्कारों का प्रभाव

Beard, W., *Government and Technology* (1934)
Gilfillan, S.C., *Social Effects of Inventions* (1937)
Stamp, Sir J., *The Science of Social Adjustment* (1937)

सामाजिक विगठन

Barnes, Harry E. and N. K. Teeters, *New Horizons in Criminology* (1943)
Bossard, J. H. S., *Social Change and Social Problems* (1938)
Brown, L. G., *Social Pathology* (1941)
Carr-Saunders, A. M., Mannheim, and E. C. Rhodes, *Young Offenders* (1944)
Coyle, Grace, *Group Experience and Social Values* (1947)
Elliott, Mabel A., and Francis Merrill, *Social Disorganisation* (1941)
Faris, Robert E. L., *Social Disorganisation* (1948)
Frank, Lawrence K., *Society as the Patient* (1948)
Gillin, John M., *Social Pathology* (1946)
Hall, J., *Theft, Law and Society* (1935)
Mowrer, E. R , *Disorganisation, Personal and Social* (1942)
Mannheim, K , *Man and Society in an Age of Reconstruction* (1945)
Malinowski, B., *Crime and Custom in Savage Society* (1926)
Queen, S. A., W. B. Bodenhafer, and E. B. Harper, *Social Organisation and Disorganisation* (1935)
Queen, S. A., and J. R. Gruener, *Social Pathology* (1940)
Slavson, S. R., *An Introduction to Group Therapy* (1943)
Von Hentig, Hans, *Crime, Causes and Conditions* (1947)

Le Bon, G., *The Crowd : A Study of the Popular Mind* (1897)
Lippmann, W., *Public Opinion* (1922)
Marshall, T.H., *Class Conflict and Social Stratification* (1938)
Wallas, G., *Human Nature and Politics* (1924)
North, C.C., *Social Differentiation* (1926)
Ross, E.A., *Social Control* (1901)
Sorokin, P., *Social Mobility*
Tead, Ordway, *The Art of Leadership* (1935)
Young, K., *Sourcebook of Social Psychology* (1927)
Wedgwood, J., *The Economics of Inheritance* (1939)
Dollard, J., *Frustration and Aggression* (1944)
Durbin, E.F.M., and Bowlby, John, *Personal Aggressiveness and War* (1939)
Knight, F.H., *The Ethics of Competition* (1935)

संस्कृति में वृद्धि, परिवर्तन, वाधाएं, आविष्कार, समीकरण

Bartlett F.C., *Psychology and Primitive Culture* (1923)
Benedict, R., *Patterns of Culture*
Boas, F., *General Anthropology* (1939)
Goldenweiser A. A., *Anthropology, An Introduction to Primitive Culture* (1937)
Gorer G. L., *Himalayan Village* (1938)
Hoddan, *History of Modern Morals* (1937)
Hsiao Tung Fei, *Peasant Life in China*, (1943)
Kardiner A, *The Cultural Background of Personality*
Klein V., *The Feminine Character* (1946)
Linton, R., *The Study of Man, An Introduction* (1940)
Lowlie R.H., *Are We Civilized* (1934)
Mannheim K., *Diagnosis, of Our Time* (1945)
,, ,, *Man and Society in Age of Reconstruction.*
Mackenzie F., *Planned Society : Yesterday, Today, Tomorrow* (1937)
Mead, M., *Co-operation and Competition among Primitive Peoples* (1937)
Mumford, L., *Technics and Civilization* (1934)
,, ,, *Sex and Temperament in Primitive Societies* (1935)
Plant, J. S., *Personality and the Culture Pattern* (1937)
Schumpeter, J., *Socialism, Ccapitalism and Democracy* (1943)
Sorokin P.A., *The Sociology of Revolution* (1925)
Stamp, Sir J., *The Science of Social Adjustment* (1937)
Sumuce W.G., *Folkways* (1906)
Wheeler G.C., Hobhouse L. T. and Ginsberg *Practical Culture and Social Institutions of Simple Peoples* (1930)
Westermarck E., *Origin and Development of Modern Ideas* (1906)
Wissler, C., *Man and Culture* (1928)
Wooton, B., *Freedom under Planning* (1945)